रमेश दवे

जन्म : 7 नवंबर, 1935 शाजापुर, मध्यप्रदेश

गृहनगर : शुजालपुर, जिला शाजापुर, म.प्र.

कर्मस्थल : म. प्र. राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, भोपाल

शिक्षा : एम. ए., (इतिहास तथा अंग्रेजी) एम. एड., अंग्रेजी डिप्लोमा (हैदराबाद), हिन्दी साहित्य–रत्न, उर्दू डिप्लोमा (पटियाला) । इतिहास, एम. ए. में प्रथम श्रेणी एवं प्रावीण्य सूची में स्थान, बी, एड, एम, एड. में गोल्ड मेडल।

रचनात्मक कार्य:

कविता संग्रह– कांच के दरख्त का डर, (म. प्र. साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशन–सहयोग)

आलोचना – समकालीन अफ्रीकी साहित्य, समकालीन रचना और विचार, (आलोचना की हिन्दी में विश्व साहित्य फलक पर आधारित पुस्तक)

अनुवाद – अफ्रीकी कवियों की कविताएं । 11देशों के तेईस कविः "कालाखून" (प्रकाश्य)

बाल साहित्य –बच्चा बच्चा गाये (बालगीत संग्रह)
–अफ्रीकी बाल कथाएं(प्रकाश्य)
–करतब लंबूद्वीप में (बाल उपन्यास)

शिक्षा – शिक्षण प्रतिमान, (डा. आर. पी. कथूरिया के साथ सहलेखन) –'हम और हमारी शिक्षा' (प्रकाश्य)

संपादन –अंग्रेजी भाषा शिक्षण संस्थान में क्वार्टरली 'न्यूज लेटर' का संपादन ।
–पलाश– शैक्षिक पत्रिका का कार्यकारी संपादक ।
–शिक्षा : नये आयाम–पुस्तक का संकलन व संपादन।

अन्य लेखन – साहित्य, शिक्षा, पत्रकारिता, शैक्षिक पत्रकारिता, इतिहास, राजनीति व अन्य सामयिक विषयों पर देश के हिन्दी, अंग्रेजी पत्र पत्रिकाओं में लगभग दो हजार लेख प्रकाशित ।

सम्मान और पुरस्कार – नंद दुलारे वाजपेयी सम्मान– आलोचना के लिए।
– श्रेष्ठ कला–आचार्य सम्मान मधुवन संस्था द्वारा ।
– मालव–रत्न सम्मान–अभिनव कला परिषद् द्वारा ।

शिक्षा में नवचिन्तन

रमेश दवे

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

शिक्षा में नव चिन्तन : रमेश दवे

SHIKSHA MEN NAV CHINTAN - Ramesh Dave

© लेखकाधीन

प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय–स्तरीय ग्रन्थों और साहित्य के निर्माण के लिए भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा) की केन्द्र–प्रवर्तित योजनान्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, भोपाल – 462 003
दूरभाष – 553084
दूरलेख – अकादमी

संस्करण : प्रथम 1994

मूल्य : रू. 45.00 (पैतालीस) मात्र

आवरण : सुशील लांडगे, भोपाल

मुद्रक : वैल प्रिन्ट्स प्रा. लि.
17, मारवाड़ी रोड, भोपाल

प्राक्कथन

*भारत सरकार की **मातृ भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा** नीति के कार्यान्वयन की दिशा में **मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी** विगत 25 वर्षों से कार्य कर रही है। अकादमी ने विभिन्न विषयों में 850 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करके हिन्दी में आधार पाठ्य-सामग्री उपलब्ध कराई है, और यों अकादमी ने अंग्रेजी न जानने वाले बहुसंख्यक छात्रों तक ज्ञान का प्रकाश पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। माध्यम परिवर्तन की दिशा में हमारी अकादमी की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।*

*छात्रों को सुरुचिपूर्ण, आकर्षक और कम मूल्य की पुस्तकें उपलब्ध हों, इसके लिए अकादमी ने अपने प्रकाशन कार्यक्रम को हानि-लाभ रहित आधार पर संगठित किया है। उच्च **शिक्षा अनुदान आयोग** द्वारा प्रवर्तित पाठ्यक्रमों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अकादमी ने सभी विषयों के छात्रों के लिये मानक पाठ्य पुस्तकें तैयार कराई हैं।*

अकादमी ने विज्ञान और तकनीकी जैसे जटिल विषयों यथा इंजीनियरी, अंतरिक्ष विज्ञान, कम्प्यूटर आदि पर भी पुस्तकें प्रकाशित करके इस विचार को पुष्ट करने का विनम्र प्रयास किया है कि हिन्दी भाषा में अद्यतन ज्ञान का संप्रेषण संभव है।

***मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी** की कार्ययोजना प्राध्यापकों द्वारा बनाई जाती है। लेखन, अनुवाद, समीक्षण, संपादन आदि कार्य वे विद्वान करते हैं जो युवा पीढ़ी की सीमाओं और आवश्यकताओं से अच्छी तरह परिचित हैं।*

*अकादमी के कार्यकलापों में शासन की सम्पूर्ण भागीदारी है। इस नाते मैं चाहूँगा कि **प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्राध्यापक अकादमी के प्रकाशनों को अपना समर्थन और प्रोत्साहन दें।***

अपेक्षाकृत और अधिक प्रामाणिक पुस्तकों के प्रकाशन के लिए अकादमी आपके रचनात्मक सुझावों का स्वागत करेगी।

(मुकेश नायक)
राज्य मंत्री, उच्च शिक्षा म प्र शासन एवं
अध्यक्ष, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रस्तावना

एक समय था जब आधुनिक शिक्षा में नवचिन्तकों के रुप में जॉन लाक जॉन डिवी, टाल्सटाय, बट्रेण्ड रसैल आदि के नाम लिए जाते थे । आज के मुकाबले ये एक शताब्दी पूर्व के चिंतक थे । इस पुस्तक में जो चिंतक हैं, वे एक शताब्दी आगे के ही चिंतक हैं । आज की शिक्षा गहरी द्वन्द्वों में फंसी है । किताब और कम्प्यूटर का द्वंद्व, कक्षा और क्रिया का द्वंद्व, मास्टर और मशीन का द्वंद्व, शून्य और समय का द्वंद, ये सब नव-चिन्तन की भूमिका रचते हैं ।

रैमर और इलिच संस्थायीकृत शिक्षा और मानसिकता के कट्टरीकरण के विरोध की बात करते हैं । वे वर्तमान शिक्षा के सभी आदर्श और मानक या ध्वस्त करते हैं । गुडमन, पोस्टमैन, वैन गार्टनर स्कूल के विकल्प की खोज करते हैं । ए. एस. नील, जॉन होल्ट और सिल्विया एशटन वार्नर संस्थाकरण का सीधा समर्थन भले ही न करें लेकिन शिक्षा और आनंद, शिक्षा, प्रेम और शांति को एक प्रकार से एक दूसरे का पूरक मानते हैं । एलविन टॉफलर तो **'भविष्य का सदमा'** *और* **'तीसरी लहर'** *से एक अत्यन्त विचारोत्तेजक, आकर्षक, अद्‌भुत और चौंकाने वाली ऐसी सभ्यता या संस्कृति के संक्रमण की बात करता है कि पूरी सृष्टि की पूरी रचनाक्रिया ही उससे उलट-पुलट हो जायगी । पाउलों फ्रेरे-शिक्षा को उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध मुक्ति का अभ्यास मानता है ।*

यह पुस्तक केवल शिक्षा की ही पुस्तक नहीं है । समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानविकी, साहित्य, विज्ञान और कलाओं के सारे पाठक इस पुस्तक से एक नई उत्तेजना और प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं । उच्च शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए तो यह पुस्तक नवाचार के नए द्वार खोल सकती है ।

इस पुस्तक में **श्री रमेश दवे** *का परिश्रम, उनकी निष्ठा और आस्था बराबर परिलक्षित होती है । श्री* **रमेश दवे** *के प्रति आभार भी और बधाई भी!*

देवेन्द्र दीपक

(डॉ. देवेन्द्र दीपक)

संचालक

चिन्तन-प्रवेश

भूमिका

प्रसिद्ध विचारक, दार्शनिक और शिक्षाविद् जॉन लॉक ने शिक्षा को बच्चे के स्वभाव के भीतर का कर्म माना है । शिक्षा को लॉक सद्‌गुणों और अच्छे पालन पोषण का सिद्धान्त और व्यवहार दोनों मानता है । यहां तक कि नैतिक नियम भी लॉक के लिए वे ही हैं, जो प्रकृति के नियम हैं या प्रकृति से ग्रहण किये गये हैं। लॉक किसी भी व्यक्ति के विकास का जीवंत माध्यम मानता है- उसके पर्यावरण को, जिसमें सीखने की सुविधा भी उपलब्ध हो और प्रतिभा के प्रस्फुटन के अवसर भी । लॉक मानता है कि दुनिया में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके अन्दर कोई विचार निहित न हो और इस निहित विचार को खोजना ही ज्ञान, विज्ञान और शिक्षा का काम है ।

शिक्षा और हमारी आस्था या निष्ठा-इस विषय पर ब्रेंडा वॉटसन की पुस्तक **"एज्यूकेशन एंड बिलीफ"** में आज समूची शिक्षा को ही संकटग्रस्त माना गया है । हर जगह एक प्रश्न उठाया जा रहा है क्या शिक्षा विफल हो गई है; निरर्थक हो गई है? हम जिसे स्कूल कहते हैं, वह आखिर क्या है- चार तत्वों के समन्वय के सिवा ! संचालक, पालक, शिक्षक और बालक ये चार तत्व मिल कर ही तो स्कूल रचते हैं, जिनमें संचालक सबसे कम होते हैं; मगर वे सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली होते हैं । पालक और शिक्षक भी बालक की तुलना में कम हैं; मगर वे भी बालक से अधिक प्रभावशाली हैं । ये तत्व मिल कर ही तो एक आदर्श स्कूल की कल्पना करते हैं । एक आकर्षण स्थल अर्थात् पढ़ने की जगह या स्कूल, जहां का सामान्य वातावरण अनुशासन और आज्ञाकारिता, टाइमटेबल, कोर्स और रोजमर्रा के कामों से युक्त हो; जहां कोई भेदभाव न हो, एकता हो, अच्छा स्टाफ हो, संस्था-प्रधान हो, बालक या छात्र हों, पढ़ाने की प्रणालियां हों, संगठन हो और व्यापक अनुशासन हो । इतना सब होकर भी अगर स्कूल सख्ती, ऊब, एकजैसापन और डर पैदा करता है और बालक की स्वाभाविक संवेगात्मक ऊर्जा का दमन करता है, उससे जिज्ञासा, आनंद और सर्जनात्मकता छीन लेता है तो फिर उस स्कूल का क्या फायदा? शिक्षा कोई मगज का सिद्धान्तीकरण नहीं है। जब सिद्धान्तीकरण या जड़ीकरण होता है, तो शिक्षा के आवश्यक तत्व समाप्त हो जाते हैं । यदि सिद्धान्तीकरण में विचार और भावना, व्यवहार और व्यवहारगत तथा आलोचनात्मक दृष्टि का समावेश हो जाए, तो वही सिद्धान्तीकरण शिक्षा का स्वरूप ले लेगा, क्योंकि वह किसी जड़ता से उत्पन्न न हो कर विचार और सोच से पैदा होता है । ब्रेंडा ने माना है कि शिक्षा वह है जो लोगों को सोचना सिखाये । सोचना अपने आप से शुरू हो, जैसा कि पुरानी कहावत में कहा गया है: "अपने आपको जानो" ।ब्रेंडा ने शिक्षा की कल्पना एक ऐसे वृक्ष में की है, जिसकी

जड़ों में सत्य, सुन्दरता, पर्यावरण, मनुष्य और स्वयं के प्रति आदर हो और जिसकी शाखा-प्रशाखाओं से खुलापन, एकात्मकता, सुन्दरता, निष्पक्षता, आनंद और सोच के आयामों की सुखद छाया पैदा होती हो । शिक्षा में चार प्रकार के अनुमान भी निहित हैं-कर्मवाद (एक्टिविज्म), व्यक्तिवाद (इन्डिविजुअलिज्म), उपभोक्तावाद (कंस्यूमेरिज्म) और भौतिकतावाद (मटीरियलिज्म) । ये चार तत्व एकाकार होकर हमें चार अन्य तत्वों की ओर ले जाते हैं- सकारात्मकतावाद (पाजिटिविज्म), न्यूनीकरणवाद (रिडक्शनिज्म), संदेहवाद (स्केप्टिसिज्म) और सम्बद्धतावाद यानी रेलेटिविज्म । जब अनुमान होंगे, कल्पना, परिकल्पना होगी, तो सोच व सीखने की प्रवृत्ति पैदा होगी । ब्रेंडा तो धार्मिक शिक्षा तक को बुरा नहीं कहती ; अगर वह जड़ता का सिद्धान्तीकरण नहीं करती और कहती है कि सच्ची धर्म-शिक्षा वही है, जो अनुभव, कल्पना और सोच पर निर्भर हो । आज पूरी शिक्षा की भी माँग यही है कि वह अनुभव, कल्पना और सोच पर आधारित हो, न कि प्रणालियों और प्रक्रियाओं की भौतिक जड़ताओं पर ।

'शिक्षा में नव-चिन्तन' ऐसा विषय है, जो स्वयं में ही परिभाषित है । चिंतन विहीन होना शिक्षा की प्रकृति नहीं हो सकती । अगर एक बिल्ली या कुतिया अपने बच्चों को प्रशिक्षित करती है, तो उनकी शिक्षा उस हद तक तो पूरी करती है, जिस हद तक उन्हें जीवित रहने का संघर्ष करना है। मगर ये प्राणी अपने अनुभव से, अपनी प्रवृत्ति और अपना व्यवहार नहीं बदल सकते और न अपने सीखने-सिखाने के तरीके घटा या बढ़ा सकते हैं । मनुष्य के पास सोच है अर्थात् बदलाव की चेतना है, कल्पना है अर्थात् बदलाव की प्रक्रिया हैं, और अनुभव है अर्थात् बदलाव की पृष्ठभूमि है ।

आज 'शिक्षा' शब्द को भी दर्शन का दरजा नहीं दिया जा रहा है । शिक्षा को महज सीखने-सिखाने की प्रक्रिया माना गया है । इस प्रक्रिया के लिए दर्शन बन कर आता है: 'स्कूल' क्योंकि स्कूल एक प्रक्रिया मात्र न होकर एक पूरा विचार है। एक शिक्षक, मात्र उपस्थिति न होकर एक समग्र मनुष्य है, और बालक भी व्यक्ति न होकर एक पूरी सचेतन सृष्टि है । इसलिए शिक्षा स्वयं में सोच न होकर प्रक्रिया है; स्वयं में विचार न होकर एक कर्म है, स्वयं में कोई सिद्धान्त न होकर किसी सिद्धान्त और व्यवहार का परिपालन है ।

इस तर्क के विरुद्ध भी एक तर्क है; और वह यह कि शिक्षा ही समग्रता है । स्कूल, शिक्षक, बालक आदि तो मात्र संसाधन या उपकरण हैं; दर्शन तो शिक्षा ही है । शिक्षा एक परिकल्पना है, जिसमें सीखना-सिखाना निहित है । शिक्षा की इस परिकल्पना में ही तो वह विचार है, जो स्कूल, शिक्षक या बालक के रूप में बाहर आता है । इसलिए दर्शन तो शिक्षा ही है, और बाकी साधन हैं; और साधन दर्शन नहीं हो सकते । शिक्षा क्या है, क्या नहीं? स्कूल क्या है, क्या नहीं? इन प्रश्नों को ही कुरेदा है आज के विचारकों ने । यदि स्कूल की उपस्थिति को नकारा गया है, और स्कूल को एक अनावश्यक, जड़ और अगतिशील करार देकर उसका निषेध किया गया है, तो ऐसे भी तर्क हैं, जो स्कूल में ही शिक्षा के दर्शन को साकार देखते हैं ।

आज ऐसे संवाद और विवाद हमारे समाने नये-नये प्रश्न पैदा कर रहे हैं । सारी दुनिया अगर कहती है कि अक्षर-ज्ञान आवश्यक है, शिक्षा या साक्षरता आवश्यक है, तो गांधी अकेला कहता है कि साक्षरता के छल से बेहतर है, निश्छल निरक्षरता । गाँधी को साक्षरता से कहीं अधिक खतरे नजर आते हैं; और निरक्षरता गाँधी को आज भी एक निरीह और

मानवीय समाज में अच्छाई की तरह दिखाई देती है । इसी प्रकार इवान इलिच, पॉल गुडमन, रैमर आदि स्कूल भंग करने की बात कहते हैं । स्कूल का विकल्प खोज रहे हैं और स्कूल शिक्षा को अनिवार्य बुरी शिक्षा बता रहे हैं । ए.एस.नील और सिल्विया एशटन वॉर्नर कह रहे हैं कि स्कूल की अपनी सार्थकता है । जॉन होल्ट और गिजुभाई बता रहे हैं कि स्कूल रहें या ना रहें, मगर सोचना सिखाना उसका पहला काम है । अगर स्कूल सोचना सिखाना और सीखना-सिखाना नहीं जानता, तो फिर वह स्कूल निरर्थक है । सर्जनात्मकता, क्रियाशीलता, अवलोकन, विश्लेषण, साक्षीकरण और निष्कर्ष जैसी प्रणालियों को जहाँ शिक्षा में सीखने की प्रक्रिया मानते हैं, वहाँ भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि दी गई व्यवस्था और रची गई व्यवस्था का द्वन्द्व नहीं होगा । इसलिए अब प्रश्न ये है कि प्रश्नों से सिखाया जाए या उत्तरों से; स्कूलों में सिखाया जाए या शिक्षण-जालों में; क्रिया से सिखाया जाए या व्याख्यान से; जिज्ञासा और सृजन से सिखाया जाए या सिद्धान्त और प्रयोग से । प्रश्न यह है कि जो ज्ञान है, वह विज्ञान नहीं है, या जो विज्ञान है, वह ज्ञान नहीं है? जो क्रिया है, वह विचार नहीं और जो विचार है, वह क्रिया नहीं? जो सीखना है क्या वह कर्म नहीं और जो सिखाना है क्या वह सीखने की क्रिया नहीं?

जॉन डिवी ने स्कूल को एक ऐसी व्यवस्था माना है, जो शिक्षक और शिक्षार्थी एवं शिक्षक और पालक के बीच की व्यवस्था है । जॉन डिवी ने स्कूल को गतिशील और प्रणालीबद्ध विकास की दिशा अवश्य माना फिर भी स्कूल को शिक्षा के तंत्र के रूप में स्थापित हुआ वह शिक्षा का मंत्र नहीं बन सका । तंत्र भी एक व्यवस्था है। मगर तंत्र के साथ ताकत जुड़ी होती है। इसलिए अनुशासन जैसे अच्छे शब्द का भी तंत्र में अर्थ इस कदर बदल जाता है कि तंत्र आज्ञाकारिता या गुलामी का प्रतीक बन जाता है । शायद स्कूल के अतिशय अनुशासनवाद ने उसे कट्टर बनाया। वहां स्वच्छंदता पैदा नहीं होने दी और स्कूल का अर्थ एक प्रकार का सुधारगृह हो गया । यही वजह है कि जो जर्मनी स्कूलों का जनक माना जाता है, वहीं स्कूलों का प्रबलतम विरोध हुआ । फ्रेडरिकों द्वारा नियुक्त अपंग सैनिकों, सख्त कानूनों, धार्मिक पाठशालाओं और नये ढंग से अध्यापक तैयार करने के तरीकों को वहां की जनता स्वीकार नहीं सकी और शिक्षा या स्कूल को एक प्रकार का बोझ समझने लगी ।

शिक्षा को लेकर एक रूसी लेखक मार्कोव ने हमारे दृष्टिकोणों और मतभेदों को प्रस्तुत किया है । मार्कोव का कहना है कि शिक्षा का मतलब यह है कि एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी की शिक्षा में हस्तक्षेप का अधिकार है । हम यह मान लेते हैं कि उच्च वर्ग को सार्वजनिक शिक्षा में हस्तक्षेप का अधिकार है। हम सोचने लगते हैं कि स्कूलों को ऐतिहासिक परिस्थितियों से न अलग रखा जा सकता है और न रखा जाना चाहिये । हम मध्य-युगीन स्कूलों से आधुनिक स्कूलों को अच्छा मान लेते हैं । हम स्कूल को अपनी आवश्यकता के अनुरूप मानने लगते हैं । हम अपनी शिक्षा को लाभकारी और दूसरों की शिक्षा को हानिकारी मानने की मानसिकता पैदा कर लेते हैं अर्थात् शिक्षा हमारे विश्वासों से मेल नहीं खाती, उसे हम अस्वीकार कर देते हैं अर्थात् शिक्षा हमारा एक संपूर्ण या समग्र जीवन दर्शन न होकर, हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप सीखने और सिखाने की एक व्यवस्था है । मार्कोव के लिए अगर यह एक परिकल्पित व्यवस्था है, तो टॉलसटाय इसी के अन्दर कुछ जीवनदर्शन से जुड़े तत्व भी देखते हैं । टॉलसटाय मानते हैं कि ज्ञान अर्जित करने का मुख्य साधन और जीवन की घटनाओं का प्रत्यक्ष संबंध है । जीवन

की घटनाओं से संबंध के लिए पूर्ण स्वतत्रंता अपेक्षित है । स्कूल, अध्यापक और किताब मूल रूप से जीवन की घटनाएं ही हैं जैसे माता–पिता का घर, काम, वन, उद्यान, या आकाश । स्कूल से अधिक ज्ञान अर्जित किया जाए, इसके लिए विद्यार्थियों के स्कूल, अध्यापक और किताब से संबंध वैसे ही स्वतंत्र हों, जैसे इन विद्यार्थियों के ये संबंध प्रकृति के साथ या जीवन की सभी घटनाओं के साथ हैं । टॉल्सटाय ने इसी को अपना शिक्षा दर्शन–मान कर 'पेजेन्ट स्कूल' या 'टॉल्सटाय फार्म' रचा था जिसे गांधी तक ने भी सीखने की सर्वश्रेष्ठ स्थिति माना था ।

'शिक्षा में नव चिंतन' को लेकर स्टेनिस्लाव शेट्स्की ने कहा है कि वह एक प्रकार की आत्मनिर्देशित ज्ञान–प्रक्रिया है । बच्चा पानी में हाथ घुमा कर छपाकों से छोटे उड़ाने के खेल में जो आनंद लेता है, वही आनंद उसे सीखने के काम में भी आना चाहिये, तभी वह शिक्षा ग्रहण करता है । शिक्षा से हम एक अच्छे और उपयोगी मनुष्य का निर्माण करते हैं । इसीलिए तो लुनाचार्स्की कहता है कि अध्ययन का एकमात्र विषय संस्कृति है। आखिर प्राकृतिक विज्ञान क्या है? वह भी तो मनुष्य की चेतना में प्रकृति के प्रतिबिंब के रूप में मानव संस्कृति का एक अंग है । इसीलिए लुनाचार्स्की के लिए शिक्षित व्यक्ति भी वही है, जिसमें मानव–रूप की प्रधानता है ।

इस पुस्तक में शिक्षा के समग्र स्थापित रूपकों को अलग ढंग से देखने की कोशिश की गई है । यहां कुछ ऐसे चिंतक प्रस्तुत किये गये हैं, जिन्होंने विश्व की सर्वश्रेष्ठ स्कूल–व्यवस्था में शिक्षा ग्रहण की और उसके बाद उसी श्रेष्ठता को चुनौती भी दे दी । यूरोप या अमेरिका में जो स्कूल सर्वाधिक विकसित हुआ, और जहां शिक्षा का स्कूलीकरण या संस्थायीकरण इस कदर कर दिया गया कि स्कूल का अर्थ ही शिक्षा हो गया, वहीं शिक्षा के आधुनिक मूल्यों के प्रति विरोध उत्पन्न हुआ । शिक्षा आज जबकि प्रौद्योगिकी के युग में आकर अपनी समस्त पिछली परम्पराओं से बाहर निकल आई है, तब भी पश्चिम में उसका विरोध हो रहा है । इसका अर्थ यह है कि शिक्षा को लेकर पश्चिम एक प्रकार की ऋषि–प्रणाली की ओर जा रहा है । आज की शिक्षा में ज्ञान या हुनर क्रय–विक्रय की वस्तु हो गया है । ज्ञान का उद्योग है, बचपन का उद्योग है, और इनसे जुड़े साधनों का उपयोग है । साधन को ही संपन्नता, समृद्धि और शक्ति का प्रतीक मान लिया गया है । इसलिए शिक्षा में संपन्नता या समृद्धि के लिए उसे उद्योग का दरजा दिया गया है । आज शिक्षण ज्ञान–अर्जन की परंपरा, शैली, विधि या विनम्रता न होकर, मूल्य या संस्कार न होकर रणनीति हो गया है । इसका अर्थ है शिक्षा स्वयं एक रण या युद्ध है। वह निदानात्मक और उपचारात्मक हो गई है; अर्थात् शिक्षा कोई रोग या रोगी है जिसका निदान एवं उपचार आवश्यक है, और जिसके लिए क्लीनिकल प्रणाली सुझाई जाती है । शिक्षा पर उसके मानवीय शक्ति–स्रोत के बजाय मशीन–तंत्र हावी है । इसी कारण शायद इवान इलिच को स्कूल निरर्थक लगता है । उद्योग, स्कूल, अस्पताल, युद्ध ये सब संस्था रचते हैं । संस्था एक तंत्र है और तंत्र कभी भी जड़तापूर्ण नियमावलियों और बुराइयों से मुक्त नहीं होता । इसलिए रैमर स्कूल की मृत्यु घोषित करता है क्योंकि ज्ञान या शिक्षा स्कूल में वस्तु है । इवान इलिच अस्कूलीकरण पर जोर देता है, ताकि उसे उसके संस्थायीकरण से मुक्त किया जा सके। पॉल गुडमन स्कूली शिक्षा को अनिवार्य बुरी शिक्षा कहता है । इन क्रांतिकारी विचारकों के विरुद्ध ऐसे नवक्रांतिवादी भी हैं, जो स्कूल में ही शिक्षा के सारे रूपक सही ढंग से देखते हैं । ए.एस. नील अपने समर हिल में स्वप्रबंधन या आत्मशिक्षण प्रणाली को ज्ञान का श्रेष्ठ माध्यम बनाता है । जॉन होल्ट स्कूल को सोच और सीखना सिखाने का स्थान मान कर, उसे क्रिया के

आनंद से जोड़ता है । सिल्विया एशटन वॉर्नर के मन में निषेध सर्जनात्मकता का आधार है और स्कूल अगर निषेध की प्रक्रिया सही ढंग से सिखाये या पैदा कर दे, तो शिक्षण रोचक और आकर्षण हो सकता है । एलविन टॉफलर के लिए शिक्षा हो या विज्ञान सभी भविष्य का सदमा है ।

इस पुस्तक में इन सभी विचारकों को प्रस्तुत करते हुए उनके क्रांतिकारी विचार और उनकी तटस्थ आलोचना प्रस्तुत की गई है । प्रौढ़–शिक्षा में पाउलो फ्रेरे और किड जैसे लोगों ने जो काम किया है, उसकी भी एक झलक दी गई है । 'बाल–केन्द्रित शिक्षा' को स्कूल की ही व्यवस्था में कैसे स्वनिर्देशित ज्ञान की ओर ले जाने का रास्ता बनाया जा सकता है, यह भी यहां प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम में कोशिश की गई है, नवीन–प्राचीन उन सभी ऐसे विचारकों को संवाद तक लाने की, जिन्होंने शिक्षा को अपने चिंतन की विषयवस्तु माना है । पुस्तक में नवीन चिंतकों की पुस्तकों के सारतत्व हैं और उनकी समालोचना भी । अधिक गहराई और पूरी समझ के लिए तो पूरी पुस्तक ही पढ़ना होगी।फिर भी इस पुस्तक के इन अध्यायों को पढ़ कर यह तो ज्ञात हो ही सकता है कि हम जिसे शिक्षा कहते हैं, उस पर सारी दुनिया क्या सोच रही है, क्या कर रही है ? यदि हम अधिक गंभीर होकर इन विचारकों की तह में जाना चाहते हैं, तो पुस्तक के अंत में दी गई सन्दर्भ सूची के आधार पर मूल किताबें पढ़ी जा सकती हैं ।

यह पुस्तक मेरे गत सात वर्षों के अध्ययन और श्रम का परिणाम है। जब मैंने पहली बार इवान इलिच की पुस्तक "डि–स्कूलिंग सोसायटी" पढ़ी थी तो मेरे सामने स्कूल का जो एक प्रलम्ब या पेरेडाइम था, वह टूट कर गिरा। शिक्षा की जो एक संस्थागत या व्यवस्थागत मान्यता थी, उसे धक्का लगा । मैंने इस क्रम में स्वयं इलिच से पत्र व्यवहार किया और मुझे इलिच ने अपनी सभी पुस्तकें भेज दीं । मेरा मामूली– सा पत्र व्यवहार पाउलो फ्रेरे से भी हुआ। मगर वह एक तरफा ही होकर रह गया । मुझे नया–नया पढ़ने और उस पर मनन करने के लिए प्रेरित किया भाई अरविन्द गुप्ता ने, जिन्होंने कई किताबों की फोटो काफी करवा कर मुझे पुणे से भेजी और मुझे इस प्रकार का काम करने के लिए प्रेरित किया । अरविन्द गुप्ता जैसे लोग चिंतन और कर्म की दिशा देते रहने के लिए आज अत्यंत आवश्यक हैं ।इसी प्रकार मेरी इस पुस्तक योजना को सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. कृष्ण कुमार और डॉ. जे. एस. राजपूत ने भी सराहा और यह कार्य करने के लिए प्रेरित किया। मैं उनका आभारी हूँ।

पुस्तक के कई लेखों को मैंने जब लिखा तो मेरा काफी कुछ संवाद श्री शरद चन्द्र बेहार से हुआ और उन्होंने ही यह सुझाया कि मैं जो पढ़ या लिख रहा हूं, उसे किताब का रूप दूँ । श्रीमती मीरा बेहार भी मेरे लेखों को पढ़ कर उन पर अपनी प्रतिक्रिया देती रहीं । इसी प्रकार लेख लिखने या लिख चुकने के बाद मेरे लंबे और गहरे संवाद हुए श्री इन्दुप्रकाश कानूनगो डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय एवं प्रो. प्रेम आहूजा से । हम लोगों ने इलिच से लेकर जॉन होल्ट और एल्विन टॉफलर तक शिक्षा के सोच पर गहरी बातचीत की और इलिच या टॉफलर कितने प्रासंगिक या अप्रासंगिक हैं, इस पर खुलकर बहस की । मैं इन लेखों को पुस्तक के रूप में लाने के लिए पूरी तरह तैयार न होता, अगर ग्रंथ अकादमी की ओर से डॉक्टर देवेन्द्र दीपक, डॉ. शिव कुमार अवस्थी और राम प्रकाश त्रिपाठी मुझे इस प्रकार का काम स्वयं अपनी ओर से न सौंपते। मैं अपने सहयोगी साथी श्री रमेश दुबे और सुषमा हुक्कू का आभारी हूं जिन्होंने इस पांडुलिपि को तैयार करने में मुझे मदद की । मैं अपनी पत्नी श्रीमती उर्मिला दवे को यदि धन्यवाद दूँ तो औपचारिक लगेगा मगर उनके सक्रिय सहयोग के बिना पुस्तक संभव नहीं थी । मैं इन सबका

आभारी हूं और इनकी प्रेरणा को ही अपने श्रम और कर्म में प्रतिफलित मानता हूं । मैं यह दावा तो नहीं करता कि जिन्हें मैंने नव–चिन्तन में शामिल किया है, वे ही नव–चिंतक है । ज्ञान की दुनिया तो प्रतिदिन नया ज्ञान जोड़ती चलती है और हर गुजरा हुआ क्षण ताजे क्षण के सामने पुराना पड़ जाता है । यह पुस्तक यह दावा भी नहीं करती कि इससे शिक्षा में कोई क्रांति आ जाएगी या भारतीय शिक्षा का स्वरूप भी बदल जाएगा। इतना अवश्य है कि जो लोग इलिच, रैमर, पाल गुडमेन, नील पोस्टमेन, वैन गार्टनर, पाउलो फ्रेरे, जान होल्ट, टॉफलर, सिल्विया एशटन वार्नर आदि सबको एक जगह पढ़ना चाहते हैं, उन्हें ये सब एक जगह मिल जायेंगे; चाहे वे संक्षेप में ही क्यों न हों। इन्हें संक्षेप में पढ़कर पूरा पढ़ने की भावना भी पैदा होगी । यह पुस्तक प्रशिक्षण संस्थाओं में इसलिए उपयोगी हो सकती है कि वहां आज शिक्षा में नवीन और उदीयमान विचारों को पढ़ाया जाने लगा है और इलिच, रैमर, गुडमन, ए.एस. नील आदि को समझने और एलविन टॉफलर के शब्द जंजाल से उलझने के लिए जरूरी है कि उन्हें पहले प्रस्तावना स्वरूप कहीं पढ़ा जाए । यह पुस्तक इन सब बड़े शिक्षाविदों की एक प्रकार से प्रस्तावना है । इसमें कई विचार जटिल हैं, कई ऐसे हैं, जिन्हें हम सहज रुप से स्वीकार नहीं कर सकते। मगर नव–चिंतन को पढ़ना और समझना तभी संभव है, जब उससे संवाद या बहस की जाए । पुस्तक के ये आलेख स्वाभाविक रुप से बहस का काफी अवसर देते हैं ।

पुस्तक को मैं अपनी तमाम कमजोरियों के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं– इस उम्मीद में कि आप इसे पढ़ कर मुझे बतायेंगे कि यह काम हमारी आज की शिक्षा के लिए कितना जरूरी है? आज हमारे सारे शैक्षिक मूल्य धराशायी हैं । अध्ययन, चिंतन और मनन की जो तपस्वी ऋषि परपंरा हमारे साथ थी, उससे हम भटके हैं । हमारे यहां तो अस्कूलीकरण पहले ही था । हमारी अपनी शैक्षिक परंपरा अनौपचारिक थी । ज्ञान हमारे लिए साधना का विषय था, कमाई का विषय नहीं । हम अपने ही मूल्य से भटके हैं । हमारी ही परंपरा में जाकर इलिच ने सोचा है । जब इलिच वही सोचता है, जो हमारे ऋषि सोचते थे या गांधी सोचते थे, तो लगता है कि पश्चिम में शिक्षा का पूर्व पुनः आकार ले रहा है । हमें स्वयं अपने पूर्व को पहचानना होगा । एवं गांधी और गिजुभाई पुनः प्रासंणिक हो रहे हैं। ये नये विचारक नाम से तो बाहर क हैं, मगर विचार से हमारे हैं । इसलिए इस पुस्तक को पढ़ कर आपको लगेगा कि सीखने की दुनिया में सीखना और सिखाना कितना जटिल या आसान है और सोच या विचार को सतत एवं जीवित रखने के लिए शिक्षा कितनी जरुरी या गैर जरूरी है । पुस्तक से आपके मन का स्कूल टूटे या न टूटे, आपके विचार की संस्था खण्डित हो या न हो, मगर आप जिस व्यवस्था में हैं, उस व्यवस्था के प्रति आपमें चिंतन भी पैदा होगा और चिंता भी पैदा होगी । सीखा या सिखाया तभी जा सकता है जब ऐसा चिंतन या ऐसी चिंता पैदा हो ।शिक्षा वर्तमान है या भविष्य, भविष्यवाद का नया रास्ता है या भविष्य को निरस्त करने का औजार, वह बीता कल है या आगामी कल,इन सभी प्रश्नों से मुठभेड़ करना, उनसे टकराना और शिक्षा को लेकर सोच के संस्कार पैदा करना ही इस किताब का मुख्य उद्देश्य है।

रमेश दवे

विषय सूची

प्राक्कथन (iii)

प्रस्तावना (iv)

भूमिका चिन्तन प्रवेश (v)

अध्याय 1 – **स्कूल–मुक्त समाज और शिक्षा** : इवान इलिच 1

इवान इलिच, स्कूल एक सामाजिक यथार्थ, हुनर की बिक्री और शिक्षा फण्ड, स्कूल और तीन आपत्तियाँ, स्कूल– एक छल, स्कूल द्वारा रचे गये शिक्षक के तीन रूप, संस्था, स्कूल और मिथ। संस्थायी शिक्षा का विकल्प अर्थात् शिक्षण–जाल.

अध्याय 2 – **क्या स्कूल की मृत्यु संभव है?** : एवरेट रैमर और इवान इलिच, 15

रैमर और गुडमन, स्कूलिंग के विरुद्ध तीन आपत्तियाँ ; शिक्षण जाल और नेटवर्क की नयी परिकल्पना, विकल्पों की व्यूहरचना.

अध्याय 3 – **स्कूल का विकल्प क्या है?** रैमर 28

शिक्षा का संस्थायीकरण, स्कूल का विकल्प, नेटवर्क और शिक्षण–जाल, विकल्प के विरुद्ध विकल्प की बहस, इलिच और रैमर एक वैकल्पिक व्यूह रचना, व्हाउचर प्रणाली : अस्कूलीकरण– एक और विकल्प.

अध्याय 4 – **अनिवार्य अपशिक्षा और मिनि–स्कूल** : पॉल गुडमन 42

शिक्षा और गुडमन, पॉल गुडमन और उनकी पुस्तक–ग्रोइंग अप एब्सर्ड, गुडमन और अनिवार्य अपशिक्षा, गुडमन और मिनिस्कूल की अवधारणा

अध्याय 5 – **समरहिल में स्कूल का लोकतंत्र** : ए. एस. नील 52

ए. एस. नील: नील का समरहिल और उसकी शैली: नील–स्कूल का विकल्प और विरोध, स्कूल का लोकतंत्र अर्थात् आत्मनियमन, नील और रूसो : खुशी की खोज, नील और उसका समरहिल स्कूल, समरहिल में आत्मनियमन और दण्ड, नील की मनोवैज्ञानिक निजी शिक्षण प्रणाली.

अध्याय 6 – **शिक्षा में निष्ठाहीनता का संकट** : नील पोस्टमन और वैन 68
गार्टनर, शिक्षा : एक निष्ठाहीन बिगाड़ की गतिविधि; साधन का अर्थ; ज्ञान और ज्ञान प्राप्त करनेवाला.

अध्याय 7– **बच्चे का सीखना और असफल होना** : जॉन होल्ट 80
जॉन होल्ट, हाउ चिलड्रन लर्न, बच्चों का अनुत्तीर्ण होना : क्यों और कैसे? , बच्चों का पास होना भी फैल होना है, होल्ट और बच्चे, डर और असफलता, वास्तविक शिक्षण, स्कूल स्वयं कैसे फैल होते हैं?

अध्याय 8 – **प्रौढ़ शिक्षा : मुक्ति का अभ्यास**–पाउलो फ्रेयरे, हेरल्ड 104
बेन्जमिन, जे. आर. किड और जेनिफर राजर्स
प्रौढ़ शिक्षा, आधुनिक समाज और प्रौढ़ शिक्षा, व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन सम्बन्धी शिक्षा कर्म, प्रौढ़ कैसे सीखता है?, प्रौढ़ शिक्षा, जेनिफर राजर्स – शिक्षा एवं शिक्षण प्रविधिः पाउलो फ्रेरे : शिक्षा यानी मुक्ति का अभ्यास.

अध्याय 9 – **भविष्य का सदमा और तीसरी लहर** : एलविन टॉफलर, 125
सदमों के बाद नवीनता की खोज, शिक्षा का भविष्यकाल, नवीन शैक्षिक क्रान्ति और भविष्यवाद, अतीत के पाठ्यक्रम से मुक्ति और भविष्य की विद्या – व्यवस्था, तीसरी लहर ओर एलविन टॉफलर.

अध्याय 10– **टीचर :शिक्षण–एक जीवन्त प्रक्रिया** : सिल्विया एशटन वार्नर 143
टीचरः सीखना अर्थात् ध्यान देने की प्रक्रिया, सिल्विया के प्रयोग

संदर्भ सूची 154

अध्याय– 1

स्कूल–मुक्त समाज और शिक्षा : इवान इलिच

स्कूल का अर्थ ही अब शिक्षा बन गया है और स्कूल ही शिक्षा के नाम पर सामाजिक यथार्थ बन गया है । शिक्षा और स्वास्थ्य के संस्थायीकरण ने हमें स्कूल और अस्पतालों पर आश्रित कर दिया है । स्कूल के अन्दर ही क्या स्कूल का विकल्प खोजना संभव है ?

इवान इलिच :

इवान इलिच बीसवीं सदी के उन चिंतकों में से है, जिसे अपनी मौलिकता के आधार पर अरस्तू की परंपरा में रखा जा सकता है । 'स्कूल' नामक संस्था पुराने ग्रीस में प्लेटो और अरस्तू के युग में ही आकार ले चुकी थी , लेकिन शिक्षा का लोक–माध्यम वह तभी बन सकी, जब पूरे योरप ने उसे एक औपचारिक शिक्षा व्यवसाय का स्वरूप दे दिया । स्कूल जैसे ही अस्तित्व में आया, वैसे ही पूरे विश्व में संस्थागत सामाजिक स्वीकृति मिल जाने से संस्थायी शिक्षा का विशाल नेट–वर्क पूरे संसार में बिछ गया ।

स्कूल ने अपने संस्थागत स्वरूप का विकास भी बहुत किया है । भौतिक और मानवीय संसाधनों की ऐसी संरचना विकसित की गई है कि एक अच्छे स्कूल की प्रतिष्ठा उसके संसाधनों के आधार पर होने लगी है । जैसे–जैसे संस्थागत संसाधन बढ़ते गये, वैसे–वैसे शिक्षा का क्षेत्र भी सीमित होता चला गया क्योंकि संस्थायी शिक्षा ने संसाधनों के माध्यम से एक प्रकार के शैक्षिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठान का रूप धारण कर लिया और शिक्षा सामान्य लोगों, गरीबों और वंचितों की हैसियत से बाहर होती चली गई । स्कूल मात्र कतिपय संभ्रांतों, पैसे वाले लोगों और संस्थाओं के संचालकों की अचल सम्पत्ति की तरह हो गया । संसाधनों के अति–तकनीकीकरण और शैक्षिक प्रौद्योगिकी के प्रवेश ने तो एक जमाना वह भी ला दिया था, जब स्किनर और क्रॉउडन द्वारा बनाई गई 'शिक्षण–मशीन' स्वयं शिक्षक के अस्तित्व के लिए चुनौती बन गई थी और शिक्षण को एक मानवीय कर्म मानने के बजाय मशीनी प्रोग्राम माना जाने लगा था। स्कूल का संस्थागत स्वरूप वर्गभेद, जातिभेद, प्रतिष्ठा–भेद के साथ–साथ शिक्षण के उन्मुक्त स्वरूप का एक प्रणाली या व्यवस्था में केन्द्रीयकरण करने लगा । केन्द्रीयकरण से शिक्षा और ज्ञान की मूल आत्मा व्यवस्था और व्यवस्थापकों के हितों में कैद हो गई और समाज पर स्कूल चलानेवालों ने एक प्रकार से ज्ञान का एकाधिकार कायम कर लिया । जिस पश्चिम में स्कूल ने संस्था बनकर अपनी भौतिक उपलब्धि का चरमोत्कर्ष प्राप्त किया,

वहां सर्वाधिक शिक्षित समाज होने के बावजूद कभी सात-वर्षीय, कभी तीन-वर्षीय तो कभी सौ-वर्षीय युद्धों का जन्म हुआ । दो-दो भीषण महायुद्ध लड़े गये और ऐसा लगा कि शिक्षण और विज्ञान की संस्थाओं ने मनुष्य को अपने ही विनाश का मृत्यु-पुरूष बना दिया । शिक्षा से जीवन-सत्ता का विकास मानवीय संवेदनाओं के साथ होना था । विज्ञान से विकास की समानता का मानवीय अन्वेषण अपेक्षित था । मगर संस्थाओं और संसाधनों के अतिवाद ने जहां हमें यांत्रिक बनाया, वहाँ शिक्षा आज तक आते-आते यांत्रिक यातना के स्तर तक पहुँच गयी है। अब तो संस्थागत शिक्षा व्यापार है, व्यवसाय है और इलिच के अनुसार वह एक प्रकार का **'सेवा-उद्योग'** है ।

स्कूल के संस्थागत स्वरूप और उससे उपजने वाली संभ्रांत वर्ग मूलकता को सर्वप्रथम एवरेट रैमर ने पहचाना और स्कूल को एक प्रकार से सार्वभौमिक या लोक शिक्षा का माध्यम मानने से इंकार किया । इवान इलिच और रैमर आपस में 1958 में प्यूएर्टो रिको में मिले और बाद में मैक्सिको के **"सेंटर फार इंटरकल्चरल डाक्यूमेंटेशन, क्यूएर्नवासा"** में लगातार मिलकर शिक्षा के संस्थागत स्वरूप और उससे उपजने वाली विकृतियों, जड़ताओं और असमानताओं पर बहस करते रहे । रैमर ने इस बहस के आधार पर स्कूल की स्थापित मूर्ति ढहाने की दिशा में कदम बढ़ाया और **"स्कूल इज डेड"** नामक पुस्तक लिख कर स्कूल की मृत्यु घोषित कर दी । इसके बाद इवान इलिच ने **"डि-स्कूलिंग सोसायटी"** नामक पुस्तक लिखी और स्कूल को सार्वजनिक, सार्वभौमिक एवं लोक-शिक्षा का माध्यम मानने से इंकार कर दिया । इलिच इसके साथ दो नये शब्द लेकर शिक्षा प्राप्त करने की नई प्रणाली बताने लगा। इलिच ने ज्ञान को सर्वत्र व्याप्त और लौकिक स्वरूप में स्वीकार किया और स्कूल का विकल्प **"शिक्षण कुप्पियाँ"** यानी **'लर्निंग फनेल'** और **"शिक्षण जाल"** यानी **"लर्निंग वेब"** के रूप में प्रस्तुत किया । पारंपरिक स्कूली शिक्षण को एक तरफा जड़ता से मुक्त कर जिज्ञासा, संवाद, खोज, तर्कऔर बहस से हासिल करने या कुप्पियों से छान-छान कर प्राप्त करने की बात कह कर इलिच ने पूरे समाज का अ-स्कूलीकरण करने पर जोर दिया । उसने कल्पना की कि स्कूल-मुक्त समाज अधिक ज्ञानवान, संभावनावान और सहज समाज होगा और स्कूल द्वारा पैदा किये जाने वाले अनेक सामाजिक भेद इस नई प्रणाली से अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे।

इलिच स्कूल के संस्थागत स्वरूप को पश्चिमी उद्योगवाद की भाषा में एक प्रकार का **"सेवा उद्योग"** मानता है । यह सेवा उद्योग अपने परिवेश की जटिलताओं से ग्रस्त है । एकाधिकार के स्वभाव से ग्रस्त हैं और चेतना या चिंतन के किद्ध अनुशासित जड़ता से ग्रस्त है । स्कूल एक सीखने वाले को **"विश्राम काल"** का आनंद नहीं लगता और उद्योग ग्रस्त मानसिकता के कारण वह सीखने की अनेक यांत्रिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक जटिलताएं पैदा करता है । स्कूल ने ज्ञान के भुक्त और आनंदमय माध्यम का स्वरूप खो दिया है । इसलिए आज की स्थिति में स्कूल अनावश्यक है। समाज को संस्थामुक्त बनाना आवश्यक है। चूँकि स्कूल संस्थायीकरण की ओर से जाने वाली सबसे नाजुक और प्रारंभिक इकाई है, इसलिए सर्वप्रथम समाज का अस्कूलीकरण आवश्यक है ।

स्कूल-मुक्त समाज की परिकल्पना के साथ इलिच एक तर्कजाल बुनता है और पूछता है ज्ञान-प्राप्ति का हेतु, उद्देश्य या लक्ष्य? क्या शिक्षा का अर्थ ऐसी विद्या है, जिसमें ज्ञान और हुनर दोनों का समन्वय हो? क्या ज्ञान और हुनर का समन्वय केवल स्कूल में ही संभव है? क्या एक कक्षा से दूसरी कक्षा में छलांग लगाना ही ज्ञान और हुनर की उपलब्धि है? क्या कुछ पहले से निश्चित या निर्धारित क्षमताओं और योग्यताओं को हासिल कर लेने का कथित प्रमाणपत्र पा लेना ही वास्तविक क्षमता और योग्यता की पहचान है? क्या स्कूल में आकर अधिक वाक्पटु हो जाने, अपनी बातों को अधिक छल-भ्रम, विस्मय और संदेह या उलझन से रखना सीख जाने की कला ही शिक्षा है? अगर स्कूल या संस्थागत शिक्षा हमारे मूल्यों और संस्कारों का मुख्य आधार ही समझने में मदद नहीं करती, तो फिर स्कूल क्यों? स्कूली शिक्षा क्यों? और क्यों न पूरा समाज स्कूल मुक्त किया जाए?

संस्थायीकरण के खतरे बताते हुए इलिच कहता है कि स्कूल एक संस्था के रूप में ज्ञान, विद्या एवं शिक्षा के मूल्य ही बदल देता है । अपनी बात को नये ढंग से कहने का अर्थ स्कूल में वाक्चातुर्य बन जाता है; क्षमता, योग्यता और हुनर का मूल्य नौकरी बन जाता है; स्वास्थ्य की देखभाल और सुरक्षा का मूल्य डाक्टरी इलाज और अस्पताल बन जाता है । अपना सामुदायिक जीवन अच्छा बनाने का मूल्य समाज सेवा का धंधा बन जाता है । अपनी सुरक्षा या हिफाजत का मूल्य 'पुलिस से या पुलिस द्वारा बचाव' बन जाता है । राष्ट्रीय सुरक्षा का अर्थ 'सैन्य-शक्ति-संतुलन' हो जाता है और उत्पादक श्रम आधारित काम के बदले उद्योगवाद की अंधी प्रतिस्पर्धा को विकास का माध्यम मान लिया जाता है । इस प्रकार संस्था के रूप में स्कूल, अस्पताल, पुलिस आदि का ज्ञान, स्वास्थ्य और सुरक्षा का मानवीय गौरव न बनकर इनके प्रबंधन और संचालन की एजेन्सियाँ बन जाते हैं ।

स्कूलः एक सामाजिक यथार्थ :

इलिच की मान्यता है कि आज की शिक्षा अपना अर्थ खो चुकी है । स्कूल का अर्थ ही अब शिक्षा बन गया है और स्कूल ही शिक्षा के नाम पर एक सामाजिक यथार्थ बन गया है । शिक्षा और स्वास्थ्य के संस्थायीकरण ने हमें स्कूल और अस्पतालों पर आश्रित कर दिया है, और हमारे अंदर एक प्रकार का अपराध बोध पैदा कर दिया है । हम सोचने लगे हैं कि अगर हम अपने आप पढ़ेंगे, बिना किसी स्कूल में भर्ती हुए पढ़ेंगे या हमारी पढ़ाई का कोई प्रमाण-पत्र नहीं होगा, तो हमारा अपने आप पढ़ना नाजायज होगा । इस प्रकार हमें अपना इलाज भी अस्पतालों और अस्पताल-उद्योग चलाने वाले डॉक्टरों से ही कराना होगा, क्योंकि अस्पताल खुद की चिकित्सा करने को न केवल गैर-जिम्मेदाराना, बल्कि गैर कानूनी तक मानते हैं । कहने को तो इन संस्थाओं को लोककल्याणकारी संस्थाएँ माना गया है, मगर वास्तव में यह सामाजिक सेवा का न केवल व्यवसाय है, बल्कि एक प्रकार से राजनीतिक और आर्थिक एकाधिकार भी है; अर्थात् हमारे शिक्षित या स्वस्थ होने का प्रमाण स्कूल या अस्पताल द्वारा किया गया प्रमाणीकरण है । यहाँ तक कि हमारी अपनी मौत भी मौत तब मानी जाती है, जब अस्पताल हमारी मृत्यु घोषित कर देता है । पश्चिमी, और विशेषकर अमरीकी समाज में जन्म और मृत्यु का युग व्यावसायिक संस्थायीकरण अब डॉक्टरों और उद्योग-मालिकों का धंधा बन गया है । यही व्यावसायिकता मैक्सिको, ब्राजील जैसे लातीनी अमेरीकी देशों और भारत जैसे

गरीब देशों में भी फैलने लगी है । अब हमारी जान का अधिकार स्वयं हमारे हाथों से निकल कर अस्पतालों, टेक्नोक्रेटों के हाथ में है, और हमारे ज्ञान का अधिकार हमारा अपना न होकर किसी संस्था या व्यवस्था के कब्जे में है । इस संस्थायी प्रबंध ने एक प्रकार से दिन पर दिन हमें मजबूर और आश्रित बनना सिखाया है और हम एक प्रकार की मानसिक नपुंसकता से ग्रस्त हो गये हैं।

संस्थाओं और उनके द्वारा चलाये जा रहे व्यवसाय पर आश्रित होने के कारण हमारे समाज मे कुछ अनिवार्य बुराइयाँ पैदा हो गई हैं , जैसे–

- मनुष्य का स्वयं को शोषण के लिए उन लोगों को सुपुर्द करना जो राजनीतिक या आर्थिक रूप से समर्थ हैं;
- स्कूली शिक्षा से स्वयं की बेकारी या बेरोजगारी से उत्पन्न होनेवाली गरीबी को आमंत्रित करना है;
- गरीबी का आधुनिकीकरण हो जाने से हमारे व्यक्तिगत पुरुषार्थ और परिस्थिति के प्रति हमारी चेतना का संस्थाजीवी हो जाना अर्थात् व्यक्तिगत समस्या के लिए भी संस्था के प्रपंच में पड़ना ।
- लोक–कल्याणकारी संस्थाओं की व्यावसायिक सामंतशाही पैदा करके संस्थाओं के संचालकों को ऐसे नए महंत बना देना, जो संस्था चलाने के नाम पर व्यवसाय करते रहें।
- समाज का स्वतंत्र सोच बदलकर शिक्षा के नाम पर उसे स्कूल–बद्ध और स्वास्थ्य के नाम पर अस्पतालबद्ध बना देना ।
- सरकारी अनुदानों, सरकारी, गैर–सरकारी संस्थागत सहायताओं से अपने आप को पिछड़ेपन में शामिल करना और शिक्षा के धंधेबाजों के दबाव में आकर शिक्षा का सम्बन्ध सीधे धन से जोड़ देना ।
- संस्था पर निर्भरता का अर्थ धन पर निर्भरता है; और धन के अभाव का अर्थ: शैक्षिक पिछड़ापन, गरीबी और बेरोजगार बने रहना है और शिक्षा को बजट–आधारित व्यवस्था बना कर समाज–सेवा, नैतिक मूल्य और शारीरिक स्वास्थ्य शिक्षा को भी भौतिक साधनों, पाठ्यक्रमों, शिक्षकों और प्रशासकों के माध्यम से चलाना है ।
- शिक्षा के संस्थायीकरण का ही परिणाम है कि शिक्षा–विभाग, स्वास्थ्य–विभाग, बाल एवं महिला–कल्याण–विभाग, समाज–सेवा विभाग बन गए जिनके काम का आधार धनराशि और उसका नियंत्रण बन गया है । इससे नई–नई कर प्रणाली पैदा हुई और **'ट्यूशन ग्राटंस'** या 'ट्यूशन फीस' जैसी आर्थिक व्यवस्थाओं का जन्म हुआ, और इस कारण एक प्रकार के विभागीय या संस्थायी भ्रष्टाचार का जन्म हुआ ।
- धन पर आधारित शिक्षा के कारण सम्पन्न–स्कूल और सरकारी स्कूल का भेद पैदा हुआ और गरीब बच्चा, अमीर बच्चे से लगातार पिछड़ा बना रहा । गरीब बच्चे अक्सर वंचित होने लगे और गरीबों की सहायता का मतलब गरीबी दूर करने के बजाय सहायता राशि से प्राप्त होने वाला प्रमाण पत्र हो गया । इस प्रकार स्कूल–बद्ध शिक्षा गरीबी का प्रमाणीकरण या पिछड़ेपन का प्रमाणीकरण संस्था की सम्पन्नता या अभाव के आधार पर करने लगी ।

- स्कूल में आने का अर्थ 'पढ़ने की क्षमता का अधिकार' या 'राइट टू रीड' हो गया और शिक्षा का नामकरण प्राथमिक, माध्यमिक, हाईस्कूल, ग्रामर स्कूल आदि मान लिया गया।
- आधुनिकता ने स्कूली शिक्षा के छल को छुपाने के लिए 'एकसमान (यूनीफार्म) अनिवार्य शिक्षा', 'न्यूनतम उपलब्धि स्तर की शिक्षा', एवं 'क्षमताओं के विकास की शिक्षा' जैसे मुहावरे रचे और उनको औसत उम्र और औसत सीखने के वर्ष में विभाजित कर दिया । इस कारण व्यक्तिगत सीखने और अपने पर्यावरण में स्वयं विकसित होने की क्षमता को भी उम्र और वर्षों की सीमा में बाँध दिया गया और शिक्षा को उम्र की होड़ या प्रतिस्पर्धा बनाकर शिक्षा को खर्च से जोड़ दिया गया । इससे पारिवारिक शिक्षा खर्च बढ़ा। और, स्कूल–रहित शिक्षा भी हो सकती है, यह भावना ही समाज से समाप्त हो गई ।

इलिच की मान्यता है कि सबको समान स्कूल उपलब्ध कराना भी एक प्रकार का मिथ है; क्योंकि यह सिद्धान्ततः आर्थिक रूप से असंभव है। इसका एक कारण तो है बौद्धिक समाज की कायरता, दूसरा–सामाजिक ध्रुवीकरण,और–तीसरा राजनीतिक हस्तक्षेप। 'समान शैक्षिक अवसर' एक लक्ष्य अवश्य हो सकता है लेकिन समानता का रूपक अनिवार्य स्कूली शिक्षा से जोड़ना गलत है । जिस प्रकार मोक्ष के लिए मंदिर की अनिवार्यता कुछ महंतों ने जोड़ दी है, उसी तरह स्कूल को भी कुछ शैक्षिक पुरोहितों ने शिक्षा के कर्मकांड के रूप में अनिवार्य बना दिया है । स्कूल के कर्मकांड में **उपस्थिति, पाठ्यक्रम** और एक **कक्षा** से उत्तीर्ण होकर दूसरी में जाना शामिल है, जिसका वास्तव में किसी उपयोगी, हुनर, कौशल या क्षमता से कोई वास्ता नहीं होता । इससे यह सिद्ध होता है कि प्रमाणपत्र हुनर की गारन्टी नहीं है; और हुनर तो तभी हासिल होता है, जब काम किया जाता है और काम करने के लिए जरूरी नहीं कि स्कूली कर्मकांड से गुजरा ही जाय । स्कूल समानता के अवसर देने के बजाय अवसरों के बँटबारे के एकाधिकार की जगह बन गया है । स्कूल का यह दंभ भी बेकार है कि वही सारा ज्ञान देता है जबकि अधिकांश ज्ञान तो चलते–फिरते ही प्राप्त होता है; और यहाँ तक कि योजनाबद्ध तरीके से दिया जाने वाला ज्ञान भी स्कूल के अतिरिक्त कई अन्य स्रोतों से मिल जाता है। ज्ञान प्राप्ति के दो तरीके भी इलिच ने स्पष्ट किये हैं– (1) काम अर्थात् कार्य करने के दौरान प्राप्त ज्ञान, और (2) फुरसत या विश्राम काल में जब लोग पढ़–लिख कर अपना ज्ञान बढ़ाते हैं । इतना अवश्य है कि स्कूल पद्धति ने कुछ अनुशासक दिए हैं जो चर्च या हिब्रू धार्मिक प्रणाली में प्रचलित थे, जैसे–रट कर ज्ञान कर प्राप्त करना, जिसे आम तौर पर **"परेड–प्रणाली"** कहा गया है । यह संस्कृत और गणित सूत्रों को याद रखने में भारत में भी एक मान्य प्रणाली रही है । इसमें एक बार अभिप्रेरित हो जाने पर छात्र कुछ दक्षताएँ जल्दी हासिल कर लेता है । मगर यह ज्ञान छात्र को स्कूल के माध्यम से या शिक्षक के माध्यम से ऐसी स्वतंत्रता नहीं देता जिससे छात्र स्वयं भी सोचने, रचने या खोजने का प्रयास करें । वैसे परेड–प्रणाली न केवल नियम, मूल्य और सदाचार के गुणों को याद रखने में मदद करती है बल्कि कुछ अन्य विषयों में भी उससे दक्षता मिल सकती है, जैसे– बीजगणित, कम्प्यूटर प्रोग्रेमिंग, रसायनिक विश्लेषण, टाइपिंग, वायरिंग, रिपेयरिंग, ड्राइविंग आदि । परेड प्रणाली में अनवरत वही काम बार–बार होता है। इस कारण एक बार प्रेरित हो जाने पर अनवरतता हुनर हासिल करने में मदद करती है ।

हुनर की बिक्री और शिक्षा-फंड :

शिक्षण-कौशल (लर्निंग स्किल) या हुनर हासिल कर लेने पर स्कूल-बद्ध प्रणाली छात्र को केवल नौकरी के लिए ही प्रेरित करती है । कौशलों पर सरकार या व्यवस्था जितना प्रति छात्र विकसित देशों में खर्च करती है, वह सामान्य पढ़ाई के खर्च से भी कम होता है, जिससे एक तो कौशल का उत्कृष्ट स्तर हासिल नहीं होता, और दूसरे छात्र में किसी अच्छी कंपनी में नौकरी पाने लायक अर्हता या योग्यता पैदा नहीं होती । हुनर देने के नाम पर स्कूल एक काम और करते हैं। वे हुनरों की शिक्षा अनुदानों से देते हैं। इसलिए वे शैक्षिक अनुदानों को हथियाने में ही लगे रहते हैं । इससे तो जो सेना में ड्रिल-इन्स्ट्रक्शन सिस्टम प्रचलित है, वह कम खर्चीला भी है और कम समय में ज्यादा हुनर दे देता है । यही सैनिक ड्रिल-प्रणाली स्कूल महंगे बना देती है? तो क्या स्कूल से बेहतर फिर सैनिक ड्रिल प्रणाली नहीं हो जाएगी?

हुनर की शिक्षा से एक बात यह जरूर होती है कि स्कूलों में 'हुनर-शिक्षक' मिल जाते हैं। स्कूल-शिक्षा में सामान्य पारंपरिक शिक्षा और हुनर का एक पैकेज बना दिया जाता है और हुनर संबंधी कई कोर्स शुरू कर दिए जाते हैं । विकसित देशों में इन्हें निजी औद्योगिक या सार्वजनिक संस्थान आयोजित करते हैं, जैसे 'सेंटर फार स्टडी आफ पब्लिक पालिसी' या 'आफिस आफ दी इकनामिक आपरच्युनिटी' । इसके लिए माता-पिताओं से ऊँची फीस ली जाती है । उच्च स्तरीय शिक्षा के लिए व्यावसायिक-शिक्षाकर्मी नौकरी में लाये जाते हैं । अमेरिका जैसे देश तो स्कूलों में व्यावसायिक विशेषज्ञों को प्रोत्साहन राशि देकर हुनर-शिक्षा के लिए बुलाते हैं और इस प्रकार शैक्षिक अनुदान की जो राशि स्कूल के अपने विकास के लिए होती है, वह इन विशेषज्ञों पर खर्च हो जाती है । इससे एक बात यह सिद्ध होती है कि या तो स्कूल अपने आप ही अयोग्य है, या सारा धन-स्कूली व्यवस्था पर खर्च कर स्कूल-व्यवस्था का तिरस्कार किया जाता है । कमोवेश भारत में भी व्यावसायिक शिक्षा का यही हाल है; बल्कि इलिच को भारतीय परिप्रेक्ष्य में रख कर देखा जाय तो भारत में शिक्षा उसी प्रकार का व्यवसाय बन गई है। और जहां तक हुनरों की शिक्षा का प्रश्न है, स्कूल तो हुनर के सही माध्यम बन ही नहीं पाए । व्यावसायिक शिक्षा जैसे पाठ्यक्रम भी केवल सैद्धान्तिक पढ़ाई के कागजी प्रमाणीकरण हैं । जिस प्रकार अमेरिका में 'मुक्त शिक्षा' 'हुनर-शिक्षण' 'स्किल-ड्रिल' आदि का सही संयोजन स्कूल नहीं कर पा रहे हैं, वैसे ही भारत में तो यह संयोजन कतई नहीं है । इसलिए स्कूल स्वयं ही अपने उद्देश्यों में असफल हैं । ऐसी स्थिति में क्या 'हुनर-बिक्री-केन्द्र' के रूप में स्कूल वैसा ही काम नहीं कर रहे हैं, जिस प्रकार एक जमाने में चर्च स्वर्ग प्राप्त करने के लिए 'मोक्षपत्र' बेचाकरते थे? यह हुनर-प्रणाली का संकट भी अलग प्रकार का है । इसमें हुनर- शिक्षक कुछ ड्रिल्स या अभ्यास तैयार करता है। छात्रों को कुछ मानक उत्तर या 'स्टेंडर्ड रिस्पांस' की इजाजत देता है। स्वयं शैक्षिक निर्देशन या "एज्यूकेशनल गाइड" बन जाता है और जोड़े बनाने या युग्म रचने की कला सिखाता है, जिसे 'मेंचिग पार्टनर्स' कहा जाता है । कुछ समय के लिए यह एक अच्छा खेल हो जाता है, मगर वह रचनात्मक और अपनी ही स्मृतियों का संग्रहीत भंडार खोजने की प्रेरणा नहीं देता । पाउलो फ्रेरे स्किल की कला के अंतर्गत चालीस घंटे में भाषा सीखने की बात कहता है, मगर उसका कहना है कि चालीस घंटे के ये शब्द अगर राजनीतिक शब्दावली

से आए हों, जीवन के महत्वपूर्ण मुद्दों से जुड़े हो, तो सीखने वाला अपना स्मृति-संग्रह काम में लाकर भाषा कम समय में ज्यादा अच्छी सीख सकता है । स्कूल तो ऐसा भी नहीं कर पाते हैं। 'मैचिंग पार्टनर्स' के मामले में भी एक यांत्रिक प्रक्रिया ही अपनाई जाती है, और उसे एज्युकेशन मैच मेकिंग कहा जाता है जबकि उसे बनना चाहिए बौद्धिक मिलान या इंटलेक्चुअल मैचिंग। स्कूल इस बौद्धिक मिलान में भी बाधक सिद्ध हुआ है ।

स्कूल और तीन आपत्तियाँ :

इलिच संस्थायीकरण से उत्पन्न समस्याओं के कारण स्कूल पर तीन आपत्ति करता है-

सुमेल या मैचिग पर आपत्ति-इस संबंध में इलिच का कहना है कि विचार और मुद्दा (आपत्तियाँ और इश्यू) इनका भी सुमेल बुरा है । शैक्षिक गतिविधियों में इसी प्रकार "थीम" चुन कर उसका मेल पाठ्यक्रमों, पुस्तकों और प्रशिक्षणों या सेमीनारों से किया जाता है । इस प्रक्रिया में पूर्व से तय किए हित सुरक्षित रखे जाते हैं । पूर्व नियोजित हितों से मेल बैठाने से शिक्षा बाजारू राजनीति या औद्योगिक हितों की ओर ले जाती है । सांस्कृतिक क्रांति के नाम पर कई बार व्यवस्थाएं ऐसे सुमेल बैठाने के काम करती हैं। मगर उनका उद्देश्य वैसा नहीं होता जैसा सुकरात या प्लेटो के 'संवाद' में हुआ करता था । संवाद का सिलसिला एक प्रकरण के मुक्त ज्ञान का परिचायक है। वह वैसा सेमिनारी संवाद नहीं है, क्योंकि वह हितों के संरक्षण के पूर्वानुमान पर निर्भर है । इसलिए सुमेल बैठाना संस्थायी व्यवस्था का एक छल है, जो दूसरों के हितों के लिए होता है।

सुमेल बिठाने की दोषपूर्ण प्रक्रिया-सुमेल बैठाने को "टाइटिल मैंचिग" प्रक्रिया बनाया जाता है, जो औद्योगिक प्रबंधात्मक युक्ति है । सुमेल बैठानेवाले को हम उसकी उम्र की पृष्ठभूमि, उसकी व्यापक विश्वदृष्टि, क्षमता, अनुभव और योग्यताओं या विशेषताओं के आधार पर पहचान नहीं देते। वह तो दाखिल विद्यार्थियों के लिए ऐसा काम है, जिन्हें वास्तव में दाखिला देने का अधिकार नहीं है । ऐसे में पुस्तक-निर्माता व पुस्तक-विक्रेता का सुमेल बन जाता है; विश्वविद्यालय, बोर्ड या शिक्षा विभाग का प्रकाशन और बिक्री संस्था से तो सुमेल बन जाता है मगर उद्देश्यों का आचरण से सुमेल नहीं हो पाता ।

सुमेल बिठाने की प्रासंगिकता- इस पर आपत्ति यह है कि सुमेल बैठाने का काम भी ठीक नहीं होता । स्थान, सूचीपत्र, छानबीन, सुरक्षा जैसी मामूली बातों को सुगम या सुलभ नहीं बनाया जाता । एक भारी भरकम नौकरशाही इन पर हावी हो जाती है और समस्या, समयावधि प्रक्रिया, उपचार में अपना आकस्मिक और शैक्षिक स्वरूप ही खो देते हैं ।

स्कूल एक छल

इलिच स्कूल को एक प्रकार का छल या प्रपंच मानता है। **'स्कूल'** और **'शिक्षण'** ऐसे शब्द हैं, जो किसी अमीबा की तरह भाषा की दरार में फिट हो जाते हैं । स्कूल ने अपनी रक्षा का एक मंत्र ही रच रखा है और इसके लिए स्कूल-चालकों ने नई-नई मुहावरे बाजी गढ़ रखी है; जैसे- अभिभावकों की देखरेख (कस्टोडियन केअर), चयन (सिलेक्शन) । सैद्धान्तिक कठमुल्लाईकरण (इन्डाक्ट्रीनेशन) और ज्ञान-प्राप्ति (लर्निंग) । इनके माध्यम से संस्थाएं

शिक्षकों, व्यवस्थाओं, बच्चों, माता–पिताओं व अन्य कई व्यवसायों को यह बताती है कि संस्था उनकी सेवक है । इसके बाद शिक्षाविदों के सूत्रवाक्य शिक्षा में उतारे जाते हैं; जैसे– सरल से कठिन, अज्ञान से ज्ञान, विश्लेषण से संश्लेषण आदि । इन तमाम सिद्धान्तों और सिद्धान्त के रचनाकारों ने स्कूल को एक ऐसी संस्था का रूप दे दिया है,जहाँ आयुबद्ध, शिक्षकबद्ध, प्रणालीबद्ध और पाठ्यक्रमबद्ध शिक्षा दी जाती है । आयु के नाम पर स्कूल के तीन मिथक रचे जाते हैं। एक तो यह कि बच्चों के लिए स्कूल है। इसलिए बच्चों का स्कूल से सम्बद्ध होना, बच्चों का स्कूल से ही सीखना जरुरी है और स्कूल ही बच्चों को पढ़ा सकता है। इससे समाज में यह मनोविज्ञान पनपा है कि एक बच्चे को एक निश्चित आयु में सीखना शुरू कर देना चाहिए और इसके लिए उसे स्कूल ही जाना चाहिए । स्कूल भेजकर फिर स्कूल से अनेक चीजें जुड़ती जाती हैं, जैसे डेस या यूनिफार्म, दोपहर का भोजन, घड़ियाँ, घंटियाँ, पढ़ाने–पढ़ने का सामान और वे तमाम चीजें जो स्कूल पैदा नहीं करता । इसलिए स्कूल की पहली निर्भरता अनिवार्य रूप से उद्योग बन जाते हैं और उद्योगों द्वारा बनाये गए साधन केवल सम्पन्न या कुछ सीमा तक मध्य वर्ग के लोग ही खरीद सकते हैं । इसलिए गरीब बच्चे, किसान, मजदूर और पिछड़े वर्ग के बच्चे शिक्षा–प्राप्त ही नहीं कर पाते । इस प्रकार स्कूल एक ऐसा वर्ग पैदा करता है, जो पढ़–लिख कर राज करता है और दूसरी तरफ ऐसा वर्ग भी पैदा करता है, जो नौकर या चाकर या गुलाम बन जाता है ।

एक समय था जब मध्यवर्ग के बच्चे घरों पर गुरुओं से पढ़–लिख लिया करते थे। लेकिन इससे सीखने का व्यापार शुरू नहीं हो सका । स्कूल ने लोगों को यह समझा दिया कि ज्ञान किसी गुरु से, किसी निश्चित जगह पर ही प्राप्त होता है और ज्ञान शिक्षण का ही परिणाम है ।

इससे परिवार में शिशु का अर्थ हो गया **'बचपन का उत्पादन'** करना ताकि स्कूल पीढ़ी–दर–पीढ़ी ज्ञान के नाम, बचपन की आपूर्ति समाज से कर सके और समाज को बता सके कि परिवार में बच्चा बना रहा तो ज्ञान विहीन रह जाएगा और इसलिए स्कूल की शरण में आना जरूरी है । इसी भावना ने स्कूल को व्यापार या बाजार बना दिया है । स्कूल बचपन भी पैदा करता है और शिक्षकों के लिए नौकरी भी । जब ये दोनों होते हैं, तो फिर हाजिरी, पढ़ाई के घंटे, पढ़ाई के प्रशिक्षण और साधन जरूरी हो जाते हैं । पढ़ाई को प्रौद्योगिकी बनाकर टी.वी. केन्द्रों और कम्प्यूटर तक लाया जाता है और एक वक्त ऐसा भी होता है, जब यह बताया जाता है कि शिक्षक के रूप में किसी स्त्री या पुरुष का होना भी आवश्यक नहीं है; बल्कि प्रौद्योगिकी संसाधन ही सीखने का स्कूल से भी बेहतर वातावरण बना सकते हैं । इस प्रकार स्कूल एक दिन स्वयं ही ऐसे उद्योग में बदल जाता है, जहाँ मनुष्य की जगह मशीन अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है ।

स्कूल द्वारा रचे गए शिक्षक के तीन रूप :

स्कूल शिक्षक को पूरा व्यावसायिक आदमी बनाने के लिए उसे तरह–तरह के नाम देता है । उसे यह बताता है कि वह केवल एकवचन में एक व्यक्ति नहीं है, बल्कि वह स्वयं एक बहुवचनीय व्यक्ति है । इसलिए उसके तीन रूप हैं :–

(1) **संरक्षक शिक्षक**– ऐसा शिक्षक बालक के लिए सदाचार, शिष्टाचार और उसके शिक्षाचार का संरक्षक होता है । वह बालक को ज्ञान प्राप्त करने के तरीके, साधन और निर्देश देकर उसकी एक दिनचर्या निश्चित कर देता है । इस प्रकार स्कूल पहला भाव समाज में यह पैदा करता है कि शिक्षक मात्र शिक्षक ही नहीं, बालक का मेंटर, गाइड या कस्टोडियन भी है ।

(2) **उपदेशक शिक्षक**– इसमें शिक्षक की नैतिकता का प्रचार होता है । उसे बालक का ईश्वर, दूसरा सम्राट या दूसरा माता–पिता बना दिया जाता है । उसमें वही प्राचीन उपदेश का राज्यतंत्रीय भाव उत्पन्न किया जाता है जिसे 'लोको पेरेंटिस' कहा जाता है; अर्थात् जिस प्रकार राजा के लिए सारी जनता पुत्र के समान है, वैसे ही शिक्षक के लिए सभी बच्चे समान हैं । इससे बच्चों में यह भावना उत्पन्न होती है कि वे स्वतंत्र मनुष्यों की संतानें न होकर राज्य की संतानें है और राज्य ने अपनी संतानों के लिए स्कूल रचा है। इसे इलिच ने मारे लिस्ट टीचर कहा है ।

(3) **चिकित्सक शिक्षक**– इलिच ऐसे शिक्षक में एक थेरपिस्ट या चिकित्सक देखता है । वह बच्चों की निजी जिंदगी में झाँक कर उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकारी तो संरक्षक या उपदेशक के नाते से ही बना है, मगर बच्चे को यह बताकर कि वह बच्चे के शरीर, मन और भावनाओं के विकास का माध्यम है, तो बच्चे उसे अपनी सारी क्षमताओं का मालिक मान लेते हैं और अंततः बच्चे शिक्षक और शिक्षक रचनेवाली संस्थाओं के लिए पालतू बन जाते हैं, जिन पर हर वक्त आज्ञाकारिता का अनुशासन लादा जा सकता है ।

संस्था के रूप में स्कूल में अनेक मिथ रचे जाते हैं । प्रवेश, प्रतिधारण या स्कूल में रहना, शाला त्याग, गतिशीलता, सुलभता, गुणवत्ता, समकक्षों के साथ शिक्षा, युक्ति–युक्तकरण, उपभोक्ता समाज, ज्ञान का उत्पादन आदि मुहावरे स्कूल से विश्वविद्यालय तक पहुंचते–पहुंचते चार प्रकार के मिथ रचते हैं :

(i) संस्था का मिथ– स्कूल एक ऐसी संस्था है, जो उत्पादन और उपयोग की अनंत संभावनाएँ पैदा करता है । स्कूल संस्थागत पढ़ाई की मांग उत्पन्न करता है । वह एक बार प्राप्त ज्ञान को भी उसी जगह छोड़ने के बजाय या स्वयं बालक को ज्ञान प्राप्त करने की स्वतंत्रता देने के बजाय, उसे विशेषता का लालच देता है और इस प्रकार प्रारंभ में स्कूल, फिर कालेज, फिर बड़े विशेषज्ञ संस्थान या विश्वविद्यालय बनते चले जाते हैं । ज्ञान प्राप्ति का स्थान, समय और अवसर सब कुछ इन्हीं संस्थाओं में सीमित हो जाते हैं और पूरा समाज और राज यह मान लेता है कि संस्था के बिना ज्ञान का कोई विकल्प नहीं है । यहां आकर ज्ञान को महत्वपूर्ण मानने के बजाए संस्था को महत्व देने की नई मानसिकता पैदा होती है । परीक्षाओं के ग्रेड ज्ञान से कम –ज्यादा या बच्चे के होशियार या वाक्पटु होने का निर्णय करते हैं । इस प्रकार समूचा ज्ञान संस्थाजीवी बन जाता है।

(ii) मूल्यों का मिथ – संस्था जिन मूल्यों को देती है, वे अनुमान और कल्पना पर आधारित होते हैं । स्कूल यह बताता है कि ज्ञान को हर स्तर पर मापा जा सकता है और यहां तक कि स्वयं

आदमी भी मापा जा सकता है । इलिच का कहना है कि किसी भी व्यक्ति का व्यक्तिगत विकास कैसे मापा जा सकता है? व्यक्तित्व अपने ही विरोधाभासों के बीच विकसित होता है । उसे किसी स्कूली स्केल, पाठ्यक्रम, तुलना या प्रतिस्पर्धा के आधार पर कैसे नापा जा सकता है? स्कूल का अहं ज्ञान के बँटबारे में निहित है । स्कूल बताता है कि ज्ञान प्राप्ति को विषय वस्तुओं में बाँटा जा सकता है और इस बँटबारे को ही एक साँचा मान लिया जाता है जिसे पाठ्यक्रम कहा जाता है। फिर अंतर्राष्ट्रीय मापन स्केल लागू कर दिये जाते हैं और पाठ्यक्रम का परिणाम व्यक्ति –व्यक्ति की उपलब्धि में फर्क कर के नापा जाता है । इससे बालक के अपने विकास के अनेक तत्व स्वयं उसके हाथों से निकल कर स्कूल की मापन प्रणाली के आगे समर्पित हो जाते हैं । इस कारण बच्चे यह मान बैठे हैं कि स्वयं अज्ञानी हैं, न स्वयं कुछ कर सकते हैं, न अपनी ताकत खुद हैं। उन्हें केवल यह महसूस कराया जाता है कि ज्ञान स्कूल का एकाधिकार है और वही जो बताता है या कहता है, ज्ञान है । ज्ञान का भी क्रम–विन्यास रच दिया जाता है । स्कूल उसे श्रेणीकरण या रैंकिंग प्रणाली कहता है । इस प्रकार बालक को उसके ज्ञान, उसकी योग्यता–अयोग्यता का परिणाम श्रेणी में दिया जाता है ।

(iii) मूल्यों की पेकेजिंग का मिथ–स्कूल पहले तो स्वयं को एक बड़े मूल्य की जगह स्थापित करता है, फिर अन्य मूल्यों का एक समुच्चय या पेकेज तैयार करता है । स्कूल पाठ्यक्रमों का बिक्री–घर है । पाठ्यक्रम उसी प्रकार एक बंडल की तरह तैयार किया जाता है, जैसे –एक व्यापारी सामानों को एक जगह रखकर उनका बडंल बना देता है । स्कूल–पाठ्यक्रम उत्पादक बन जाते हैं और उनके कथित शोध और वैज्ञानिक आधार के लिए शैक्षिक इंजीनियरों को 'पेकेजिंग' का काम दिया जाता है जो शिक्षा की समूची योजना को मांग और पूर्ति में बदल देता है । इस प्रक्रिया में शिक्षक वितरक और बालक उपभोक्ता हो जाता है । इस उपभोक्ता प्रणाली को आगे बढ़ाने के लिए शोध कराये जाते हैं जिनसे 'श्रेणी रहित मूल्यांकन प्रणाली' या सतत् मूल्यांकन, छात्र–केन्द्रित शिक्षण, दृश्य–श्रव्य सामग्री–युक्त शिक्षण जैसे मुहावरे पैदा होते हैं। इस प्रकार पाठ्यक्रम निर्माण पार्किन्सन–नियम की तरह यह बताता है जिस प्रकार काम उसके करने के उपलब्ध स्रोतों के साथ बढ़ता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की कठिनाइयाँ पाठ्यक्रम की कीमत के अनुपात में बढ़ती हैं । यह मिथ हमें यह समझाता है कि पाठ्यक्रम ज्ञान को मेनीपुलेट करने या उसकी जमावट करने का एक औजार है, जिसे स्कूल उपयोग में लाता है अर्थात् स्कूलिंग के माध्यम से ज्ञान को साधने या मरजी मुताबिक उसका क्रय–विक्रय करने का काम पाठ्यक्रम करता है ।

(iv) प्रगति का मिथ या अनंत उपभोग का मिथ–स्कूल का मिथ सतत् होती और अपने आप होती प्रगति के मिथ पर रचा गया है । यदि दुनिया भर में शिक्षा देने की प्रणाली को देखा जाए तो शिक्षा से घटते फायदे और बढ़ते खर्च का एक विरोधाभास नजर आयेगा । प्रगति के नाम पर हर स्तर पर सतत रूप से खपाये जाने वाले पाठ्यक्रम तैयार किये जाते हैं और प्रगति के नाम पर स्तर को ऊँचा उठाने का प्रतिवर्ष या कक्षा–दर–कक्षा विक्रय किया जाता है । स्कूल एक बच्चे के लिए ऐसी मीनार की तरह है जो सीढ़ियों के जरिये ऊँचाई तक जाने को ललचाता है और इस ऊँचाई के लिए स्कूल बड़ी सी बड़ी कीमत वसूलता है । इलिच की मान्यता है कि हाजिरी, अनुशासन और नापी जाने वाली गणितीय प्रणाली तो युद्ध के दृश्य के समान ही है,

जहाँ बाडी–काउंट या शव–गणना होती है । युद्ध मृत्यु–गणना को उपलब्धि मानता है; स्कूल मृत देहों या अनंत ढेरों का सिलसिला न होकर भी धन संग्रह का अनंत सिलसिला है और इसलिए वह भरती, ड्राप–आउट, संस्था–घंटे, खेल–घंटे और सीखने के अलग–अलग घंटे तय करके उन्हें पाठ्यक्रमों व पाठ्य–पुस्तकों के पेकेज में लपेट देता है । शिक्षक और शिक्षाविद् इस पेकेज को तन्मयता से ग्रहण करने और संतुष्ट होने की प्रेरणा देते हैं और यह बताते हैं कि जीवंत विकास के लिए इस पेकेज का होना अनिवार्य है । इससे एक नया मिथ स्कूल रचता है कि स्कूल ही वह जगह है जहाँ ज्ञान के अनंत उपयोग के सभी तरीके उपलब्ध हैं ।

ये चारों प्रकार के मिथ मनुष्य और ज्ञान दोनों की अनंत संभावनाओं को सीमित कर देते हैं और शिक्षा महज एक कर्मकांड बन जाती है । इस कर्मकांड से कई सूत्र–वाक्य मंत्र की तरह पैदा होते हैं – जैसे दीर्घायु आकांक्षा (लाइफ एक्सपेक्टेंसी), स्तर और अवधि की सीमा में बँटी शिक्षा (टर्मिनल एज्युकेशन) एवं पापों से बचने की शिक्षा आदि । अर्नोल्ड टायनबी का कहना है कि जब कोई संस्था एक कर्मकांड की तरह बन जाती है तो एक 'विश्व–चर्च' या 'महापूजागृह' बनने लगता है और वह पतनशील समाज बनाने के लिये कई विरोधाभास रचता है–जैसे धर्म, धर्म–निरपेक्षता, विज्ञान–अंध–विश्वास, हिंसा–अहिंसा, एकेश्वरवाद–अनेकेश्वरवाद, साकार–निराकार आदि । इन तमाम विरोधों को संस्था युक्तियुक्त या तर्कपूर्ण बनाने के लिए शोध करवाती है और इस प्रकार स्कूल अपना एक नया पंथ रच देता है, जिसे इलिच कार्गो–कल्ट कहता है, जहाँ विश्वासों का उत्पादन और प्रयोग, सिखाया जाता है । स्कूल के प्रति जाग्रत यह विश्वास ही यूनिफार्म, टाई, उसका रंग, आइसबाक्स, लंचबाक्स, बस्ता आदि सब कुछ तय कर देता है अर्थात् स्कूल आना–जाना स्कूली सामान की घर से स्कूल और स्कूल से घर तक की माल ढुलाई का पंथ बन जाता है और जो लोग पंथ रचते हैं, वे इसके धर्म–गुरु, मालिक या भावी साम्राज्यों के जनक बन जाते हैं । इस प्रकार स्कूल का एक और नया मिथ जन्म लेता है कि स्कूल सांसरिक सुखों का सृजेता है। सांसारिक सुखों का मिथ स्कूल को जिंदा रखने के लिए स्वयमेव ही समाज को उसी तरह प्रेरित करता है, जैसे मुक्ति के लिए चर्च या धर्मस्थल। स्कूल कभी 'विजन' की बात करता है, और स्वप्न दर्शी होता है, कभी रियेलिटी या यथार्थ की या नौकरी दाता की , तो कभी सवेतन नौकरी की । वह स्कूल का एक गिल्ड या मल्टीनेशनल कारपोरेशन भी चाहता है जहाँ योग्यताधारी जनशक्ति हो, मानव संसाधन हो । इसलिए स्कूलीकृत समाज एक प्रकार से सैन्य हरकतें करने वाला समाज हो जाता है जो शिक्षा–को तर्कसंगत बताकर एक प्रकार के शैक्षिक युद्ध की रचना करता है, जिसे इलिच पेडागाजिक–वारफेयर कहता है । संस्थायीकरण का ही तो यह परिणाम है कि 'स्वास्थ्य', सम्पत्ति, सुरक्षा, मूल्य जैसे विषय कानून नियंत्रण के विषय बन गए हैं, न कि मनुष्य के अपने सहजता केव्यवहार। लोगों को संस्थाओं के नये भ्रमों में रखने के लिए भी फ्री–स्कूल या मुफ्त–स्कूल, कभी संस्थायी शिक्षण तो कभी व्यक्तिगत शिक्षण, कभी अनिवार्य शिक्षण तो कभी औपचारिक शिक्षण जैसे शब्द गढ़ दिये जाते हैं । इलिच कहता है यह सब होने के वाबजूद समाज का विश्वास इतना जड़ और दृढ़ हैं कि वह स्कूली पेरडाइम या प्रलंब को तोड़ने को तैयार नहीं हो सकता । स्कूल का विद्रोह मामूली बात नहीं । स्कूल के विकल्प भी हैं, मगर विकल्पों को स्वीकारने में भी एक संघर्ष है । इलिच इसलिए ताने–बाने या 'शिक्षण–जाल' के विकल्प देता है । उसके चार प्रकार के 'शिक्षण–जाल' हैं जो स्कूली शिक्षण के विरुद्ध शिक्षण का विकल्प देते हैं ।

संस्थायी शिक्षा का विकल्प अर्थात् शिक्षण-जाल

इलिच ने स्कूल की शिक्षा को विश्व-धर्म ही नहीं, बल्कि तेजी से बढ़ते श्रमिक बाजार की संज्ञा देते हुए शिक्षण-उद्योग भी कहा है । यहाँ युवा एवं किशोरों का एक नया अलगाव अपने ही समाज से पैदा किया जाता है और इसे वे ही सूत्र संचालित करते हैं, जो उद्योग या सरकारों को चलाते हैं। इसलिए स्कूल को लेकर उत्पादन-लागत, पूंजी-निवेश, परिणाम-मूलक, रोजगार-उन्मुख जैसे शब्दों का शिक्षा में महत्व बढ़ता गया और **संस्कृति , संस्कार, संवेदन, सभ्यता** जैसे शब्दों का विघटन होता चला गया । संस्थाओं का पोषण मानव-श्रम के शोषण पर आ टिका और एक नए समाज का उदय हुआ, जो पढ़ लिख कर स्वास्थ्य की चिंता, रोजगार की चिंता, जीने की चिंता आदि अनेक चिंताओं से ग्रस्त हो गया। और इसके लिए भी उसे संस्थाओं की शरण में जाकर औद्योगिक सभ्यता के सहारे जीने-मरने की मजबूरी भोगना पड़ी। इलिच प्रसिद्ध अर्जेन्टीनी लेखक जार्ज-लुई बोर्खेज से एक संदर्भ देते हुये बताता है कि एक चीनी विश्व कोश में मनुष्य की घृणिततम अवस्था का ऐसे पशुओं के रूप में विवरण है कि उस काल्पनिक विश्वकोश का मनुष्य ही आज सही प्रतिरुप नजर आता है । उसे श्वान, सुअर, सनकी, मक्खियों के समान आदि अनेक रूपक दे दिए गए हैं और इस प्रकार संस्थायी-समाज ने मनुष्य के वर्गीकरण का एक ऐसा सिलसिला रचा, जिसमें घृणा और पशुता ही मनुष्यता के प्रतीक बनने लगे । स्कूल से उपयोगितावाद जोड़कर औद्योगिक यंत्रवाद, सेवा-संस्था, राजमार्ग प्रणाली और जीवन जीने की स्वाभाविकता के विरुद्ध इतनी नैकल्पिक प्रणालियाँ पैदा कर दी गईं, जिनका समूचा नियंत्रण उद्योगों के हाथ में है । इस तरह स्कूल निरंकुश एवं फासिस्ट व्यवस्था के साथ ही लोकतांत्रिक व्यवस्था का भी अनिवार्य अंग बन गया क्योंकि व्यवस्था अगर संस्थाजीवी स्वयं है, तो वह स्कूली संस्था को भंग क्यों करेगी?

इलिच ने अपने समूचे संस्थायी विरोध के विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं । वह कहता है कि नया विकल्प शैक्षिक पिरामिडो को तोड़नेवाला होना चाहिए । वह ऐसी व्यवस्था का हामी है, जो विद्यार्थी के लिए सुलभ हो । अगर वह किसी महाद्वार से प्रवेश न करे, तो कम से कम खिड़कियाँ तो उसे अपनी दुनिया के भीतर व बाहर झांकने के लिए उपलब्ध हों । ऐसी व्यवस्था में न अभिशाप होगा, न अभिशप्त। उत्पादन, प्रमाणीकरण और शिक्षा को मात्र कागजी व्यापार भी नहीं माना जाएगा । इसके लिए तीन-चार प्रकार की प्रणालियाँ आवश्यक हैं । शिक्षा आदान-प्रदान प्रणाली से विकसित हो, क्योंकि सारा संसार आदान-प्रदान प्रणाली का ही आदर्श है । बालक उसी आदर्श में जीना और सीखना सीखे । हम बालक को अधिक स्वतंत्र, संवादी, जिज्ञासु, निर्भीक और खोजपूर्ण बनाने के लिए ताने-बाने या नेटवर्क रचें । ये नेटवर्क होंगे- अवसर जाल (Opportunity Web) के रूप में । वैसे इन अवसर जालों के पूर्व चार मुख्य प्रणालियों पर ध्यान देना होगा-

1. आदान प्रदान से ज्ञान-प्राप्ति ।
2. हुनरों और मूल्यों से योग्यता-अर्जन ।
3. समकक्षों यानी पीयर्स से विचार विमर्श, वादविवाद, सहयोग एवं चुनौती के द्वारा ज्ञान का विस्तार, एवं
4. अनुभवी बुजुर्गों के साथ गुण-दोष विवेचन।

इन चारों को अगर एक-एक शब्द में रखें तो इलिच 'वस्तु', 'मॉडल', 'समकक्ष' और 'बुजुर्ग' ये चार स्रोत सीखने के मानता है । अवसर-जाल में भी कभी-कभी आदमी के दिमाग पर मान्यता थोपने या अनुकूल मानसिकीकरण करने का असर हो जाता है । इसलिए इलिच टेलीफोन, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि को प्रौद्योगिक बुराई मानकर भी इन्हें 'शिक्षण जाल' के रूप में एक वैकल्पिक व्यवस्था मानता है । ये शिक्षण जाल जुड़े होंगे चार प्रकार के अन्य जालों से -

(1) **वस्तुओं का संदर्भ -जाल :** शिक्षा शैक्षिक वस्तुओं के बिना संभव नहीं । विद्यार्थी को पुस्तक, प्रयोगशाला, म्यूजियम, थियेटर, प्रदर्शन-गृह आदि सभी चीजें चाहिए । जो ज्ञान वस्तु-आधारित है, उसका प्रबंध फेक्टरियों के अन्दर हो, जहाँ अवकाश में जाकर छात्र उन संदर्भों को देख सकें, काम कर सकें । इस प्रकार संस्था बनाकर उसमें इन चीजों को रखने से जो अधकचरा ज्ञान मिलता है, वह उनके संदर्भों के स्थान पर मिलने पर अधिक अच्छा होगा ।

(2) **हुनर या कौशलों के आदान-प्रदान का जाल-** समाज में अनेक कौशलों से मुक्त लोग भी पड़े हैं । उनकी सूची बनाकर उन्हे मॉडल के रूप में अपनाना होगा और उनसे हुनर विनिमय की प्रणाली विकसित करना होगी ।

(3) **समकक्षों का जाल :-**समकक्षों का परस्पर विनिमय या सुमेल जरूरी है । उससे ज्ञान प्राप्त की विधि का आदान-प्रदान होता है, और मिलकर सीखने और सीखे हुए को आपस में बाँटने की भावना विकसित होती है ।

(4) **मुक्त शिक्षा-कर्मी सेवा जाल :** समाज में अनेक व्यवसायों से जुड़े लोग हैं । कुछ तो व्यावसायिक हैं और कुछ फ्रीलांस। ऐसे अनुभवी, हुनरमंद और योग्य लोगों की भी सूची हो ताकि समय-समय पर उनके साथ विचार विनिमय हो और इस प्रकार सीखने के साधन व व्यक्ति, स्वयं सीखने वाला खोजे और उन तक पहुंचे ।

इन चारों जालों के लिए एक कम्प्यूटरीकृत संदर्भ सेवा का विकास करना आवश्यक होगा। इस प्रकार नॉलिज-इंडस्ट्री या ज्ञान-उद्योग बनने के बजाय समाज में शिक्षा का एक नया जन-विकल्प तैयार होगा और समाज में आपसी मेल-जोल की संस्कृति का विकास होगा । लोग संस्थाओं के उद्योग के बजाय शिक्षा को सेवा-कर्म मानेंगे । संदर्भ सेवा रचेंगे, हुनर-अध्यापक की तरह हुनरी व्यक्तियों का जाल बिछायेंगे, हुनरों का विनिमय करेंगे, समकक्षों के साथ सामूहिक जानकारी और सामूहिक अभिरुचि में हिस्सेदार बनेंगे, आत्मप्रेरित होंगे और संस्थायी-अर्हता के डर से मुक्त होकर ज्ञान को प्रमाण-पत्र का माध्यम न मानकर, जीवन और संस्कार का माध्यम मानेंगे । इससे व्यवसायी शैक्षिक मूल्यांकन पराजित होंगे, क्योंकि नागरिकों के पास अपने ही रचे हुए विकल्प मौजूद होंगे और शिक्षा के वे बंधनकारी उपाय अपने आप समाप्त होंगे, जिन्हें अभी तक छात्र-अनुशासन, जन-सम्पर्क, श्रमजीवी-शिक्षक, वेतनभोगी शिक्षक के रूप में देखा जाता था । इससे **(चाइल्ड-कस्टडी)** बालक-संरक्षण योजना, प्लानिंग, रेकार्ड कीपिंग, हाजिरी या 'एटेंडेंस' पाठ्यक्रम, पाठ्यवस्तु, परीक्षा आदि के भारी भरकम संस्थायी और प्रशासकीय बोझ भी कम होंगे । नए गुरु-शिष्य सम्बन्ध समकक्षता

व अनुभव के आधार पर आकार लेंगे । नीम–हकीमों, चलताऊ नेताओं, भ्रष्ट व्यवस्थाओं, धार्मिक कर्मकांडियों एवं तथाकथित मसीहाओं के एकाधिकार और व्यापार समाप्त होंगे । बालक अपने आराम और आनंद अर्थात् **लेजर** और **प्लेजर** का सही और स्वयं निर्णायक होगा। वह अपनी भाषा अपने समाज से ग्रहण करेगा और उसके परिष्कार के लिए उसे भाषा–प्रयोगशाला उपलब्ध होगी । इससे वस्तु, व्यक्ति, हुनर और प्रणाली पर जो औद्योगिक नियंत्रण एवं एकाधिकार है, वह भी समाप्त होगा । स्कूली ज्ञान कुप्पियों (Scholastic Funnels) का विकल्प संचार–जाल या (Communication Web) होगा ।

इस प्रकार एक नए एपिमेथियन मनुष्य का पुर्नजन्म होगा । दुनिया में औद्योगिक सभ्यता ने जो हताशाओं के अंतराल या Frustration gaps पैदा कर रखे हैं, वे समाप्त होंगे। सैन्य व्यवस्थाएँ निरर्थक होंगी । पृथ्वी पर सूखते– मरते संसाधन बच सकेंगे और स्वप्न या विजन के सहारे जिस विकसित मानव (Homo–Faber) की परिकल्पना की गई है, उस शून्य–पुरुष की बजाय मनुष्य का अपना एक नया प्रोमेथियस जाग्रत होगा जो आशा और विश्वास के साथ मानवता का इन्द्रधनुष पहचान सकेगा और यह बता सकेगा कि पृथ्वी का पेंडोरा के साथ जो विवाह ऐपिमेथियस ने कराया था, वह सही था या नहीं ।

इलिच ने अपनी पुस्तक **"डि–स्कूलिंग"** के अंत में आकर जिस भावुक आशावाद और उसके साथ शिक्षण– जाल, अवसर–जाल, संदर्भ–जाल और सेवा–जाल आदि की बात की है, उसके भी अनेक विरोधाभास हैं । स्वयं इलिच की अपने सोच की विसंगतियाँ हैं । संस्था–विखंडन मूर्ति मंजन के समान एक अच्छा क्रांतिदर्शी सोच है, मगर इलिच को भी रॉबिन बैरो और नव क्रांतिवादियों ने चुनौती देकर यह साबित कर दिया है कि स्कूल के अन्दर ही स्कूल का विकल्प खोजा और रचा जा सकता है । यह विकल्प कैसा और क्या होगा ? इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में है ।

अध्याय–2

क्या स्कूल की मृत्यु संभव है ? : एवरेट रैमर और इवान इलिच

स्कूल एक ऐसी संस्था है जिसमें जीवन की सबसे नाजुक गलतियों, भूलों व कमियों को छुपा लिया जाता है । स्कूल में मेरिट एक ऐसे धुएँ का परदा है जो वंचितों को वंचित रखते हुए, फायदा उठाने वालों के फायदों को न केवल कायम रखता है, बल्कि उन्हें स्थायी बनाता है।

इवान इलिच, रैमर और गुडमेन :

इवान इलिच को "डिस्कूलिंग–मूवमेंट" (अस्कूलीकरण आन्दोलन) का गुरु माना जाता है । वह गुडमेन के विचारों को कहीं अधिक सुस्पष्ट करते हुए स्कूलिंग प्रणाली के प्रति अपनी एक समग्र वैचारिक एवं क्रांतिमूलक कोशिश जाहिर करता है । वह गुडमैन के स्कूलिंग सम्बन्धी समस्या के विचारों को न केवल स्कूलिंग की बुराई तक सीमित रखता है, बल्कि और आगे जाकर सोच के संस्थायीकरण को भी व्यापक सन्दर्भों के साथ उठाता है । इलिच ने डिस्कूलिंग के विचार को अत्यन्त उत्तेजना के साथ रखा और शिक्षा के नये–नये रूपकों को रचा, लेकिन वे **'डिस्कूलिंग सोसायटी'** और **'सेलिब्रेशन आफ़ अवेअरनेस'** जैसी पुस्तकों से उतने स्पष्ट नहीं हो पाये जितने कि एवरेट रैमर की पुस्तक 'स्कूल की मृत्यु' (स्कूल इज डेड) से हुए । इलिच भी यह मानते हैं कि रैमर और वेः दोनों एक ही विचार के पोषक एवं विकासकर्ता हैं जिसमें **'डिस्कूलिंग सोसायटी'** तथा **'स्कूल इज डेड'** में शिक्षा का समूचा कटघरा टूटकर बिखरता नजर आता है ।

गुडमैन ने स्कूल को एक नाकामयाब या विफल संस्था मानकर उसको पुनर्जीवित करने योग्य नहीं समझा । वह स्कूल को एक अत्यन्त **लघु संज्ञा 'मिनी स्कूल'** के रूप में स्वीकारता है लेकिन उसके बृहत संस्थागत रूप को निरस्त करता है । रैमर और इलिच का तर्क यह है कि उनकी दृष्टि से स्कूल, संस्था के रूप में शिक्षा को ऊँचा उठाने का सफल औजार नहीं हैं बल्कि स्कूल की थोड़ी बहुत सफलता यदि है तो वह अनावश्यक एवं अवांछनीय कामों को बढ़ाने में है । इसलिए ये दोनों एक ऐसे प्रच्छत्र या **छद्म–पाठ्यक्रम (हिडन करीक्यूलम)** पर जोर देते हैं, जो वर्तमान सामाजिक मूल्यों के साथ एकाकार होकर संस्थाओं की प्रचलित व्यवस्था को बेकार साबित कर दें । गुडमैन इतना अतिवादी तो नहीं है, मगर फिर भी **'मुक्त–स्कूल'** उसकी कल्पना का हिस्सा अवश्य है । रैमर का कहना है कि **'समर हिल'** जैसा स्कूल भले ही

तथाकथित अच्छाई और मुक्तता का प्रतीक माना जाता हो, मगर अंततः वह भी परावलम्बी बनाता है । और इस कारण समाज के प्रति अनेक निरर्थक अनुमानों का जन्म होता है। गुडमैन का विरोध इस बात को लेकर है कि स्कूल जनता को अलग-थलग करता है और अवसरों की बर्बादी करता है, जबकि इलिच और रैमर स्कूलिंग से उत्पन्न उन तमाम तथाकथित सहज प्रवृत्तियों से एक सकारात्मक लड़ाई लड़ना चाहते हैं, जो स्कूल की विफलता व बुराई का परिणाम है । इन दोनों का मानना है कि **स्कूल एक ऐसी संस्था है जिसमें जीवन की सबसे नाजुक गलतियों, भूलों व कमियों को छुपा लिया जाता है** । रैमर तो इस बात को बड़ी ताकत से रेखांकित करता है कि जैसे जेलों एवं सुधार-ग्रहों को बुराइयों को ठीक करने के लिए रचा गया है, वैसे ही कुछ काम स्कूल करते हैं; अर्थात् यह पहले से ही मान लिया जाता है कि स्कूल में आने वाला हर बच्चा सुधारने योग्य है । सब बात का सार यह है कि स्कूल में आकर एक **बच्चा बच्चा न रहकर बच्चे जैसा** हो जाता है; और वहां जो भी होता है, वह **बच्चे** को केन्द्र में रखकर नहीं बल्कि सब कुछ एक **बच्चे जैसा प्राणी** को ध्यान में रखकर किया जाता है । इसलिए यदि हमें आज के छात्रों के असंतोष को रोकना है तो लोगों के अन्दर से जान बूझकर पैदा किये जाने वाले इस **बच्चों-जैसे बच्चे** का मनोविज्ञान न केवल समाप्त करना होगा, बल्कि बच्चे को बच्चा मानकर उसको सहयोग देना होगा, उसको बच्चे के रूप में ही लड़ना सिखाना होगा ।

इलिच और रैमर तो गुडमैन के **मिनी स्कूल** से पृथक किसी न किसी तरह के स्कूल को मानने को भी तैयार हैं जो स्कूल के वर्तमान रूप का विकल्प बन सकें, लेकिन ऐसे स्कूल पारंपरिक परिभाषा के स्कूल नहीं होंगे, जैसे ऐसी कोई संस्था जिसमें पूरे समय तक उपस्थित रहना अनिवार्य हो, निश्चित आयुवर्ग के बच्चे हों, शिक्षकों की निगरानी में चलती कक्षाएं हों और जहां श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम हो । इन दोनों की परिभाषा का स्कूल ही अलग है । उनकी परिभाषा भी अधिक स्पष्ट है, क्योंकि ये मानते हैं कि **'स्कूल'** शब्द में ही उसकी तरह-तरह की कसौटियां और परिभाषाएं निहित हैं और अलग-अलग लोग स्कूल को अलग-अलग प्रकार का मिश्रण मानते हैं । जबकि एक तथ्य यह भी है कि सड़क पर चलता एक आम आदमी तो तत्काल यह स्वाभाविक रूप से भेद करने लायक है कि कक्षा में उपस्थिति मांगने वाले और उपस्थिति न मांगने वाले स्कूल में मौलिक फर्क आया है । एक साधारण आदमी के लिए वह जगह स्कूल हो ही नहीं सकती जो उपस्थिति न माँगती हो । इसलिए इलिच और रैमर की परिभाषा का एक लाभ यह है कि वे **'डिस्कूलिंग'** शब्द से एकदम दिमाग में झनझनाहट पैदा करते हैं और एक आदमी यह शब्द सुनते ही भावुक जोश में भड़क उठता है । उसके अन्दर ही एक विकल्प जन्म लेने लगता है और वह सोचने लगता है कि क्या यह इस तरह का ऊलझलूल विकल्प भी **'स्कूल'** कहला सकता है?

इलिच, रैमर और गुडमैन के **'स्कूल'** का केवल शाब्दिक प्रयोजन ही नहीं है बल्कि वे एक दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं जो स्कूल को माध्यमिक स्तर पर देखते हैं । गुडमैन जो कहता है, उसमें भरोसा भी करता है । वह स्कूल को केवल एक विकल्प के लिए देखता है और बाकी बातों को समाप्त कर देना चाहता है । गुडमैन उस परिभाषा को मानता है जो एक साधारण आदमी की परिभाषा है । जब वह कहता है कि अगर बच्चे स्कूल जाना नहीं चाहते तो उन्हें वहां भेजने का मतलब ही क्या है?

गुडमैन के बारे में रैमर यह मानता है कि यदि गुडमैन स्कूल को निरर्थक कहता है, तो यह स्पष्ट है कि अगर लोग पढ़ना-लिखना या सीखना चाहते हैं तो क्या यह जरूरी है कि वे स्कूल में ही सीखें ? वे तो जीवन के वास्तविक संघर्षों के दौरान बहुत कुछ सीख सकते हैं । जहां तक विभिन्न व्यवसाय-व्यापारों का सवाल है, वे भी काम करते-करते सीखे जा सकते हैं। 'स्कूल' केवल ऐसा ज्ञान देते हैं जो समाज और जीवन से कटा हुआ ज्ञान है । सच पूछा जाय तो ऐसा ज्ञान, जो अपने मूल से भी पृथक हो चुका है और जो अपने उपयोग से भी कटा हुआ है और एक प्रकार से 'मृत ज्ञान' है । 'मृत ज्ञान' (Dead Knowledge) या 'कटा हुआ ज्ञान' (Alienated Knowledge) बड़े उत्तेजक मुहावरे हैं, जो बहस का मुद्दा बनते हैं और अपने आप में परिभाषित होने से कोई आतंक भी पैदा नहीं करते । गुडमैन ऐसे 'ज्ञान' की बात करता है। रैमर-इलिच इस बात पर सहमत नहीं हैं कि वास्तविक जीवन परिस्थितियों से संघर्ष करने पर ऐसा विश्वास करके चला जाए, क्योंकि ऐसा ज्ञान न पर्याप्त होगा, न जरूरी बल्कि इसका अर्थ एक बालक के लिए वह सब है जिसे वह अर्जित करना चाहता है ।

गुडमैन से असहमत होते हुए **इलिच** और **रैमर** मानते हैं कि :-

(1) इस प्रकार से यथार्थ जीवनानुभवों से प्राप्त **'फर्स्टहेण्ड'** अनुभवों को ज्ञान का माध्यम बनाना एक प्रकार से बालक को एक ऐसी धीमी प्रक्रिया में कैद करना है, जिससे ज्ञान की उपलब्धि भी अनिश्चित हो जाए और सीखने वाले हमेशा अपने आसपास की परिस्थितियों से ही संचालित होता रहे ।

(2) उसी प्रकार का फर्स्ट हेण्ड ज्ञान बिना जीवनानुभवों से टकराये, लायब्रेरी की वर्गीकृत किताबों के माध्यम से भी बालक अर्जित कर सकता है ।

(3) ताप-गति के सिद्धान्त के अनुसार फर्स्ट हेण्ड अनुभव में बच्चा केवल उतना ही नहीं सीखता जितना परिस्थितियों में उपलब्ध हैं, बल्कि कई अन्य महत्वपूर्ण चीजें भी सीख जाता है । इसलिए यह तर्कभी गलत है कि कोई चीज किसी खास तरीके से ही सीखी जा सकती है ।

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि गुडमैन के अनुसार उपलब्ध परिस्थितियों में फर्स्ट हेण्ड अनुभव से व्यक्ति अपने आप ज्ञान पा सकता है। इसके बदले में इलिच रैमर का कहना यह है कि इस तरह गुडमैन केवल स्कूल के बदले क्रियाओं के माडल्ज दे रहे हैं जिनसे बालक की सीधी मुठभेड़ हो और वह अपने आप सीखने के अवसर पाले, मगर इलिच-रैमर इसे न मानकर विकल्प यह देते हैं कि एक लिए गए काम को, दी गई परिस्थिति में सीखना भी क्या सीखना है-चाहे वे ऐसी क्रियाएँ ही क्यों न हों जिनसे बालक की सीधी मुठभेड़ होती हो । सीखने की सही चुनौती तो तब है जब बच्चे को एक दी गई निश्चित क्रिया से अलग करके, ज्ञान-अर्जित करने के अवसर दिए जाएं। इसके लिए हमें ऐसे केन्द्र बनाने होंगे जिन्हें हम **'ऑफ द जॉब सेंटर'** या **'काम से अलग काम के केन्द्र'** कह सकते हैं।यहां तक कि जब कोई भी ज्ञान किसी क्रिया से सम्बद्ध कर दिया जाता है तो बालक उस ज्ञान के विविध आयामों के सैद्धान्तिक पक्षों को पहचान लेता है और फिर उसे ही प्राप्त करने में लग जाता है; अर्थात् वह प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से ऊपर नहीं उठ पाता । लेकिन इलिच-रैमर की प्रक्रिया में जब मुक्त चुनौती में बालक खड़ा होगा तो यह भी पहचान लेगा कि ज्ञान का एक **शून्य-संसार** भी है और

इस शून्य में उसे ज्ञान की उपयुक्त संरचना को तलाश कर वह उसे अर्जित करता है । इलिच–रैमर जब **ऑफ–द–जॉब** की बात करते हैं, तो सचमुच बालक के अन्दर की उन क्षमताओं को चुनौतियों के सामने खड़ा करना चाहते हैं जो शून्य को भी पहचान कर **शून्य की सर्जनात्मक रचना** कर सकें ।

स्कूलिंग के विरुद्ध तीन आपत्तियाँ :–

रैमर और इलिच ने स्कूल नामक संस्था के विरुद्ध तीन आपत्तियाँ की हैं । इन आपत्तियों में कितना दम है तथा वे कहाँ तक स्वीकारी या नकारी जा सकती हैं? इसके लिए विश्लेषण एवं बहस आवश्यक है :

(1) बहुआयामीकरण आपत्ति ,

(2) श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम आपत्ति, एवं

(3) प्रच्छन्न या छद्म पाठ्यक्रम (हिडन करीक्यूलम) आपत्ति ।

इन तीन आपत्तियों में चौथी आपत्ति यह जोड़ी जा सकती है कि **स्कूलीकरण द्वारा संसाधनों की बर्बादी होती है** । यद्यपि ये ही लोग यह भी कहते हैं कि स्कूल उपलब्ध संसाधनों का इस्तेमाल करते हैं फिर भी उनकी यह आपत्ति स्वीकारने योग्य है कि स्कूल संसाधनों को बर्बाद भी करते हैं । यदि यह भी दर्शा दिया जाए कि स्कूलों से पर्याप्त शिक्षण नहीं होता या स्कूल लाभ के बजाय नुकसान ही ज्यादा पहुँचाते हैं तो इतना भी स्कूलों को निरर्थक साबित करने के लिए काफी है और यह कहना भी बेकार है कि स्कूल बड़ी खर्चीली व्यवस्था है । यदि हम स्कूलिंग के विरुद्ध अपनी बात सही साबित न कर सके और यह नहीं बता सके कि उन पर किया जाने वाला खर्च हमारी हैसियत से ज्यादा है तो फिर हम स्कूल पर होने वाले खर्च को बर्बादी नही कह सकेंगे । स्कूल पर लगने वाली लागत में स्वयं ही यह सवाल मौजूद है । यदि किसी भी काम के लिए लगाई गई लागत, उस पूंजी के अनुपात में उपलब्ध नहीं होती या कम संसाधनों से भी वह उपलब्धि हो सकती है तो इसका यह साफ मतलब है कि स्कूल पर धन की बर्बादी हुई है । लेकिन ऐसा तर्क एक प्रकार से छिछला तर्कहोगा और यह तर्क डि–स्कूलिंग की मूल अवधारणा के तर्क के अनुकूल भी नहीं है । ऐसा तर्क एक पृथक आपत्ति केवल इस रूप में ही बनेगा कि जैसे डिस्कूलर्स यह कह रहे हों कि ग्रामोफोन रेकार्ड को बिना उसकी गुणवत्ता की जांच किये खरीद लिया गया हो । ऐसे तर्क तो हमें सैकड़ों विज्ञापनों से भी मिल जाते हैं जो कहते हैं कि फलाँ वस्तु खरीद ली जाय क्योंकि वह श्रेष्ट है और फलाँ निरस्त कर दी जाए क्योंकि वह स्तर, मानक या गुणवत्ता के अनुरूप नहीं है । ऐसी सूरत में ज्यादा कीमत देकर भी अच्छी ग्रामोफोन रेकार्ड खरीद ली जाती है क्योंकि ज्यादा कीमत देना दो रेकार्डों के बीच से बेहतर को चुनना है और इसलिए प्रमुख बात यह है कि खरीदी जाने वाली रेकार्ड का हर हालत में बेहतर होना जरूरी है ।

बहुआयामीकरण आपत्ति :

रैमर और इलिच दोनों इस बात पर आपत्ति करते हैं कि स्कूल में अनेक सामाजिक कार्यकलापों का समावेश है जैसे–अभिभावकों द्वारा देख–रेख, सामाजिक भूमिका का चयन,

सिद्धान्तीकरण और शिक्षा–कौशलों और ज्ञान का विकास । (यह आम परिभाषा के रूप में है) इस प्रकार के सम्मिश्रण को ये दोनों विचारक 'शिक्षा पर' निरर्थक व्यय के लिए जिम्मेदार मानते हुए यह पाते हैं कि इससे स्कूल शैक्षिक रूप से प्रभावहीन हो गए हैं और उन पर सामाजिक नियंत्रण का प्रभाव बढ़ गया हैं । अभिभावकीय देख–रेख को भी वे गंभीर बात मानते हुए कहते हैं कि जहाँ एक खर्चीली व्यवस्था है, वहीं नितांत अनुपयुक्त है क्योंकि यह व्यवस्था **बचपन का विस्तार** उसकी स्वाभाविक शर्तों से कहीं ऊपर ले जाकर करना चाहती है । शायद स्कूल के इसी चरित्र के कारण स्कूल से निकलने वाले कई लोग सेना, जेल, पागलखानों जैसी जगहों में भरती हो जाते हैं, जो अनेक सामाजिक संस्थाओं के **समग्र का अंश** हैं । वे यह बताते हैं कि स्कूल की भूमिका है ही क्या सिवा विभिन्न व्यवसायों के लिए एवं विभिन्न सामजिक भूमिकाओं के लिए आदमी छाँटने के, जो कि स्कूल जैसी संस्था का परिणाम में दुरुपयोग भी है; निरर्थक भी और खतरनाक भी। और इसकी पुष्टि में वे ऐसे बड़ी संख्या में उदाहरण देते हैं जो लोग एक लम्बी खर्चीली लागत के बावजूद भी स्कूल से भाग खड़े होते हैं। जैसे–एक डॉक्टर बनने के लिए औषधि विज्ञान का यह ज्ञान प्राप्त करना कि कौन सी दवा किसके लिए हैं? इतनी–सी बात को इतनी धीमी गति से सिखाया जाता है कि उस पर होने वाला खर्च सीखने की उपलब्धि के मुकाबले कई गुना हो जाता है बल्कि इतनी सी बात तो एक अस्पताल का खलासी या वार्ड ब्वाय बनकर भी सीखी जा सकती है । एक बात और यह है कि स्कूली समाज के कारण जीवन के अवसरों का निर्धारण केवल स्कूली उपलब्धियों के आधार पर ही होता है, जो आमतौर से **प्रमाणपत्रीकरण** के रूप में होता है । इसका परिणाम यह है कि सड़क का कचरा उठाने वाले के लिए भी आज एक डिप्लोमा की जरूरत है । यदि हमारे पास एक प्रकार का प्रमाण–पत्र–प्रेमी समाज है तो पदैव किसी न किसी महत्वपूर्ण व ठोस सबूत को योग्यता के नाम पर लटका हुआ देखना चाहता है और ज्ञान को **'करके सीखने'** का सर्वाधिक प्रिय और अलौकिक तत्व मानता है, तो वह समाज रैमर की बात को कैसे स्वीकारेगा? स्कूल बालक के प्रावीण्य (मेरिट) को परिभाषित करता है और वही बालक प्रतिभावान माना जाता है जिसका स्कूली रेकार्ड अच्छा है और ऐसे मेरिट के होने का मतलब है कि उसके माता–पिता पढ़े लिखे हों, उसके घर में किताबें हों, उसे यात्रा करने, घूमने–फिरने के अवसर आदि हों अर्थात् **ऐसा मेरिट एक ऐसे धुएं का पर्दा है जो वंचितों को वंचित रखते हुए, फायदा उठाने वालं के फायदों को न केवल कायम रखता है, बल्कि उन्हें स्थायी बनाता है।**

ज्ञान के आदर्श के रूप में या ज्ञानवानों का चयन करने वाली संस्था के रूप में तो स्कूल हमें एक प्रकार का धोखा देता है मगर जिस क्षेत्र में वह सर्वाधिक कामयाब हो रहा है, वह है–एक ऐसा रूप जिसे हम कठमुल्ला बनाने वाला कह सकते हैं ? अर्थात् स्कूल **दिमागी कठमुल्लापन** के रूप में एक कामयाब संस्था रही है । यह आपत्ति प्रच्छन्न या छद्म–पाठ्यक्रम आपत्ति के बहुत करीब है क्योंकि कठमुल्लापन अन्दरूनी रूप से इससे जुड़ा है जो हमारे दृष्टिकोण और विश्वासों को बहुत ही अचेतन रूप से गढ़ता रहता है ।

हमें इन आपत्तियों में फर्क करके चलना होगा क्योंकि सम्मिश्रण या समन्वय की जो भूमिका स्कूलों पर लादी गई है, वह खतरनाक है । वह सफल शिक्षा के विरूद्ध ही आदमी को खड़ा करती है और इससे सम्मिश्रण में जो तत्व सम्मिलित है वे भी घातक हैं । इसलिए बहुआयामीकरण, जो सम्मिश्रण का ही रूप है, की आपत्ति हमें गंभीरता से लेना होगी ।

यह सोचने का भी कोई आवश्यक कारण नहीं कि एक संस्था व्यक्ति की अंतिम सामाजिक भूमिका, अभिभावकीय देखरेख और शिक्षा से कभी कभी जुड़ सकती है या उसे ऐसे कार्यों से जुड़ना चाहिए । **कठमुल्लाईकरण और शिक्षा** , जैसा कि सामान्यतया माना जाता है, एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं हो सकते क्योंकि सिद्धान्तीकरण या कठमुल्लाईकरण दिमाग बन्द कर देता है जबकि शिक्षा से दिमाग खुलता है । लेकिन स्कूल–प्रणाली जानबूझ कर दिमाग बन्द करने की कोशिश नहीं करती । उसे तो ऐसी किसी चीज का सिद्धान्तीकरण या कठमुल्लाईकरण नहीं करना चाहिए जिसकी तुलना शिक्षा से न की जा सके । यद्यपि स्कूल सतही तौर पर कठमुल्लाईकरण तो करता है, फिर भी इस मायने में शिक्षा और स्कूल के बीच कोई आवश्यक अतुलनीयता नहीं है । आप एक व्यक्ति को शिक्षित करते–करते प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ निश्चित मूल्यों को भी देते ही हैं । अब सवाल यह है कि कि चाहे कुछ भी हो, मगर क्या अ–स्कूलीकरण से हम यह मान लें कि सचमुच में दिमागी–कठमुल्लापन से बचा जा सकेगा ? चाहे कोई कुछ भी करे या हमारा इरादा कुछ भी हो लोग कई मूल्यों और उनमें निहित संदेशों को अपने परिवेश से ग्रहण कर लेते हैं । यदि यह मान लें कि स्कूल विशिष्ट रूप से ऐसे संदेशों की तरफ रुख बनाने के सर्वोत्तम स्थान हैं, तो क्या यह नहीं माना जा सकता है कि स्कूल ही इन मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह लगाने के भी सर्वोत्तम स्थान हो सकते हैं ?

स्कूल की विभिन्न भूमिकाओं और कार्यों को एक दूसरे के बीच रोड़ा बनने की कोई तार्किक जरूरत नहीं है लेकिन क्या सचमुच इस प्रकार का सम्मिश्रण खतरनाक है ? हम कई बार उत्साह और उमंग की हत्या सिर्फ इसलिए कर देते हैं कि हम अनुशासन और श्रेणीकरण की बड़ी चिन्ता करने लगते हैं । यह सोचना भी युक्तियुक्त लगता है कि एक अच्छा घर स्कूल से भी अच्छी शुरूआत देता है । जबकि स्कूली सफलताओं का अर्थ अच्छा ग्रेड पाना है, जो कि आगे चलकर सुविधाभोगी और प्रभावशाली नौकरी का माध्यम बनता है ।इस प्रकार की मानसिकता से निस्सन्देह रूप से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि **स्कूल** का अर्थ लोग **शिक्षा** से लेंगे ही । इसलिए ऐसी उम्मीद को नष्ट करना भी जरूरी नहीं है लेकिन साथ ही यह भी बिल्कुल कठिन नहीं है कि संस्था में इस प्रकार शिक्षा दी जाय जिसका कार्य जीवन में स्वीकृत रूप से आगे भी हो । संक्षेप में इस सब से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि यह व्यावहारिक रूप से इन चार कार्यों में परस्पर अपरिहार्य टकराहट है। और यदि उम्मीद न छोड़ी जाय या अस्कूलीकृत समाज में कोई इतनी बड़ी टकराहट की स्थिति पैदा होगी ऐसा मान लिया जाय, तो वह स्थिति स्पष्ट रूप से वर्तमान स्थिति से बिल्कुल भिन्न होगी।

यदि व्यक्तिगत तत्वों या स्कूल व्यवस्था को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यह तो मानना ही होगा कि **शिशु मानसिकता** अंततः शैशव काल को लम्बा करने जैसी है भले ही इसके पीछे कोई प्रत्यक्ष या अवधारणात्मक सत्य न हो। लेकिन लोगों को शिशुओं या बच्चों की तरह मानना एक प्रकार से इस बात को पुष्ट करता है कि इससे इस प्रकार का व्यवहार होता जाता है जिससे सीखने वाले के मन में शिशुपन या बालपन की अवधारणा बनी रहती है अर्थात् इस प्रकार हर सीखने वाला महज एक बच्चे की तरह मान लिया जाता है और उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता है । लेकिन वस्तु स्थिति के लिए दो अलग–अलग बातें जिम्मेदार हैं। ऐसी दशा में सोच के विकृत होने के खतरे रहते हैं । यह सोचना कितनी बड़ी मूर्खता होगी कि

स्कूल के बिना एक निश्चित अवधि का महत्वपूर्ण शैशव होगा ही नहीं । इसके पीछे अंशिक रूप से धारणा यह भी है कि ऐसी मान्यता भी स्कूल ही तो रचता है और दूसरे आंशिक रूप से यह धारणा भी है कि गर्भ से लेकर किशोर अवस्था तक एक बालक को भौतिक और मानसिक विकास के विभिन्न चरणों से गुजरना ही होता है ।

जहाँ तक लोगों को चुनने या छाँटने का सवाल है यह देखना बहुत कठिन है कि चुनने को कैसे छोड़ा जाय क्योंकि कुछ विशिष्ट कामों, गतिविधियों के लिए छँटाई करने में **'अधिक अच्छा'** और **'कम अच्छा'** का मानदण्ड विशेषताओं के आधार पर बनाना ही पड़ता है । यदि कोई समाज ऐसा भी मिल जाय जिसमें स्वयं चयन की परम्परा हो और प्रत्येक उपयुक्त काम का फैसलाकर उसके लिए चुनने की स्वयं को आजादी हो, तो भी कहीं न कहीं यह जानने का तरीका भी होगा हि कि हम दूसरे आदमी से कैसे भिन्न हैं? इस बारे में भी सोचें । जैसे कोई आदमी मेरे बच्चे को ट्यूशन पढ़ाता हो, मेरा गैस का चूल्हा ठीक करता हो, मेरे कागजात ठीक करता हो, तो मुझे ऐसी भाषा का इस्तेमाल तो करना ही होगा जिससे मुझे पता चल सके कि वह आदमी कितना कुशल और सक्षम है तथा दूसरे से कितना भिन्न है । हम लोगों पर कोई न कोई छाप या लेबल लगाना चाहते हैं ताकि उन्हें दूसरों से अलग कर सकें और शायद इसीलिए अन्दर से स्कूल प्रणाली के प्रति कभी कोई निंदा नहीं करते, क्योंकि स्कूल भी तो अंततः इसी प्रकार का काम करता है ।

(2) श्रेणीबद्ध–पाठ्यक्रम–आपत्ति :

पॉल गुडमेन की भांति रैमर और इलिच के पास भी शिक्षा से सम्बद्ध अनेक दावों की एक पूरी विस्फोटक श्रृंखला है। लेकिन वे काफी हद तक अपने दावों के प्रति चौकन्ने हैं । रैमर शिक्षण में **क्रमबद्धता** को स्वीकारता है और अपनी ओर से यदि उसमें कुछ जोड़ता है तो यह कि इन सीखने की विभिन्न **क्रमबद्धताओं** में कोई न कोई पारस्परिक सह–सम्बन्ध जरूर होना चाहिए । उसे आपत्ति है तो इस बात पर कि स्कूल सीखने को ऐसा मानते हैं मानों **'सीखना' अध्यापन** का ही **परिणाम** या **एक उत्पाद** हो जबकि दरअसल यह बात सही नहीं है । यहां आवश्यक एवं पर्याप्त शिक्षण–स्थितियों को लेकर भी काफी अनिश्चितता दिखाई पड़ती है। वास्तव में 'सीखना' अध्यापन का परिणाम या उत्पाद नहीं हैं क्योंकि कई बार कुछ सीखने के लिए अध्यापन आवश्यक नहीं होता । जबकि बात यह है कि अध्यापन **'अधिगम'** या 'सीखने' को पैदा कर सकता है या ऐसा वातावरण पैदा कर सकता है जिसमें 'सीखना' संभव न बन सके और अध्यापन के लिए इतना ही पर्याप्त भी है । लेकिन रैमर की प्रमुख आपत्ति श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम को लेकर है क्योंकि इसके माध्यम से सीखने की विषय– वस्तु, उसका क्रम उसकी गति, सब कुछ निर्धारित कर दिये जाते हैं और कुछ मायने में **श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम** विश्वविद्यालयीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर थोपा जाता है ।

क्रांतिवादी तो यह आम शिकायत करते ही हैं, मगर रैमर का यह भी कहना है कि ऐसा सोच भी हर हालत में दिशाहीन है । इससे यह साफ जाहिर है कि हम विश्वविद्यालयों के रुख को सवाल बनाकर उन पर विचार तब तक नहीं कर सकते जब तक हम यह समझ नहीं लेते कि विश्वविद्यालयों का इरादा क्या है? और क्यों है? अगर स्कूलों में केवल विश्वविद्यालयों के

दबाव के कारण ऐसी चीजों का अध्यापन हो रहा है जो सीखने योग्य नही हैं, तो यह हालत अत्यन्त निराशाजनक है । मगर रैमर की इस बात के विरूद्ध सच्चाई यह भी मानी जाती है कि इसके लिए विश्वविद्यालयों के प्रति हमें आभारी होना चाहिए अगर वे यह चाहते हैं कि स्कूलों में समुचित और उपयोगी बातें पढ़ाई जाएं । मगर असल सवाल तो अब यह है कि आखिर उपयोगी का क्या मतलब ? उपयुक्त या समुचित का क्या अर्थ ?और डि-स्कूलिंग के हिमायती इसके लिए क्या कहते हैं? रैमर इन प्रश्नों के जबाव देने के लिए एकदम तैयार नहीं है । वह सोचता है कि पढ़ाने का अर्थ तो है – **"उपस्थिति, कक्षा, अध्यापन और पाठ्यक्रम जो कुछ हद तक सहन किये जा सकते हैं मगर इन्हें अकादमिक चर्चा का विषय नहीं माना जा सकता"**। मुक्त लोग, अपने साथ कुछ और मुक्त लोगों के स्वैच्छिक समूह बनाकर अनेक विकल्पों को समाने रखकर स्वतंत्र रूप से बातचीत करके अपने निर्णय स्वयं ले सकते हैं। रैमर, गुडमैन और नील की अत्यन्त साधारण-सी इस बात को स्वीकार करते हुए कुछ हद तक संतोष होता है तो यह मानकर कि अकादमिक विषयों को जो छात्र उनमें रुचि रखते हैं उन्हें वे सीखते हैं और जिनकी रुचि नहीं है, वे नहीं सीखते। लेकिन यहां बड़े साहस से वह यह बात जरूर कहता है कि चाहे उसका प्रभाव न होता हो परन्तु 'छात्र की रुचि के सवाल को इसलिए नहीं मान सकता क्योंकि उसे शक है कि रुचि स्कूल द्वारा ही पैदा की जाती है।"

इस मुकाम पर ऐसा तर्क प्रायः अत्यन्त कमजोर होना है । पहिले दिये गए बयान को ही देखिये चाहे उसके समर्थन में स्पष्ट प्रमाण न हों, लेकिन यह सही है कि हजारों लोगों की रुचि ऊपर उठाये गये सवाल में है । वे स्कूलों की ही पैदाइश हैं और स्कूल में निहित विशेषताओं व प्रवृत्तियों के प्रति हमारे कुछ अनुमान भी हैं, चाहे ये अनुमान भली-भाँति परीक्षित न हों । यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि रैमर सामान्य रूप से जिस सिद्धान्त को रचता है उसकी मान्यता यह नहीं है कि **"स्कूल रूचि को नहीं बढ़ाते"** बल्कि उसकी मान्यता तो यह है कि **"स्कूल रुचि बढ़ा ही नहीं सकते"**। क्या हम अरस्तू की कहावत **"एक चिड़िया गरमी नहीं लाती"** या **"एक चना भाड़ नहीं फोड़ता"** का अर्थ यह निकालें कि उसने यह अच्छी तरह से समझ लिया होगा कि स्कूल से कुछ हासिल नहीं होता। क्योंकि **आइन्सटीन** का प्रतिभा सम्बन्धी उदाहरण भले ही असंगत हो लेकिन आइन्सटीन एक उत्कृष्ट और असाधारण विशिष्ट आदमी तो था ही । यहां ये क्रान्तिवादी कुछ और उदाहरणों के द्वारा प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को खोज निकालने में कुछ गर्व करने लगते हैं जबकि उन्होंने ऐसा किया नहीं है। फिर भी वे इस बात को समझने में असफल हैं कि इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच (फिनामिनन) का कार्य और महत्व क्या है? यह कौन कहेगा कि जो कुछ आइन्सटीन ने किया या जो कुछ वह न पकड़ सका उसका कारण अनजाने में स्कूल ही है? शायद स्वयं आइन्सटीन भी ऐसा नहीं कहेगा।

इसके बाद एक अत्यन्त दुःखदायी और कुतर्क पूर्ण कोशिश के साथ ये लोग यह भी कहते हैं कि स्कूलों में भाषा-कौशल सिखाना असफल हो गया है । उनका यह तर्क कि **साक्षरता स्कूल से आगे-आगे दौड़ती है** और ऐसे बच्चे हैं जो स्कूल में रहकर भी पढ़ना नहीं सीख पाते । इस प्रकार के तर्क से मुकाबला करने पर लिस्टर द्वारा जोर देकर कही गई इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है जो स्कूल भंग करने वालों के पक्ष या विरोध में कुछ प्रामाणिक व प्रत्यक्ष साक्ष्य चाहता है । इस विषय में किसी प्रत्यक्ष साक्ष्य की जरूरत ही नहीं है । हमें तो यहाँ

जरूरत है कुछ स्पष्टीकरणों की, कुछ स्पष्ट शब्दावली की, बहस एवं अकलमंद तर्कों की । उक्त उद्धरण से कुछ भी साबित नहीं होता सिवा इतनी सी बात के कि साक्षरता स्कूल से बाहर भी अर्जित की जा सकती है और उसके लिए हमेशा स्कूल की जरूरत नहीं पड़ती ।एक मान्यता यह भी है कि हमेशा स्कूल की जरूरत नहीं पड़ती । दूसरी मान्यता यह भी है कि पढ़े लिखे माँ-बापों की संतानें, बिना स्कूल जाए भी पढ़ना-लिखना सीख जाती हैं, जबकि निरक्षर माता-पिता की संतानें स्कूल में रहकर भी फैल हो जाती हैं । लेकिन यह तर्कभी चौंकाने वाला है, क्योंकि इसका इस बात से कतई सम्बन्ध नहीं है कि स्कूलों का साक्षरता के विकास में कोई योगदान है या नहीं अथवा क्या वे साक्षरता को बेहतर तरीके से देते हैं?

'श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम आपत्ति' का सार तत्व यह है कि इसमें हम एक **अनुमान** पर काम करते हैं । वह यह सीखने में **अध्यापन** या **शिक्षण** शामिल है और इसीलिए **ज्ञान** हमें **विवरण योग्य उत्पाद** दिखाई देता है । यह **श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम,** इलिच और रैमर की नजर में एक प्रकार की क्रमबद्ध जमावट है अर्थात् ज्ञान को भी चीजों के पेकेटों या पेकेजों में जमाने के समान है । ज्ञान की ऐसी जमावट बच्चे के दिमाग को भी एक पेकेट की तरह बना देती है । शायद हममे से कोई इस बात से इंकार करना नहीं चाहेगा कि ज्ञान के इस प्रकार के **पैकेजिंग** और वर्गीकरण का स्कूलों में जरूरत से ज्यादा ही इस्तेमाल होता है। यह एक ऐसा लम्बा तरीका है जो स्कूल की मौजूदगी में एक ऐसा अनिवार्य कारण देखता है जिससे स्कूल आवश्यक रूप से घृणित स्थान लगे । इस बात में भी कोई कारण नजर नहीं आता कि यदि कोई यह जान ले कि **सीखना** कुछ हद तक **अध्यापन** के माध्यम से सरल व सुविधाजनक हो जाता है तो हम उसे निरस्त कर दें । यह क्यों मानें कि ज्ञान एक प्रकार का ऐसा **स्कूली उत्पाद** है जो विकृत एवं निन्दात्मक अर्थ में लिया जा सकता है । यदि हम यह भी मान लें कि ऐसा मत या इम्प्रेशन कुछ ज्ञान सीधे-सीधे देने के कारण बना है, तब भी हम स्कूल के विरुद्ध कोई ठोस तर्कनहीं दे पाते हैं और न ही यह भी स्पष्ट समझ में आता है कि आखिर सुगठित, सुव्यवस्थित और तर्कबद्ध क्रम में जो **श्रेणीबद्ध-पाठ्यक्रम** दिया जाता है, उसमें सैद्धान्तिक रूप से उपयुक्तता व कठिनाई की दृष्टि से क्या खराबी है? आखिर इस मान्यता में भी कुछ न कुछ तो सच्चाई है ही कि **"दौड़ने के पहले चलना सीखना जरूरी है"** और अधिक गंभीरता से इस स्तर पर देखें तो लगता है कि स्कूल विरोधियों का यह तर्क भी अत्यन्त भ्रामक व बेतुका है जब कि वे **'एक समय में एक कदम'** उठाने की आदत को गलत बताते हैं । कभी कभी ऐसा होता है कि स्कूल पाठ्यक्रमों में कई बेहूदा तथ्यों का भण्डारण होने से गलत चीजों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है, मगर इस कारण सिद्धान्त रूप से सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम को निरस्त या तिरस्कृत तो नहीं किया जा सकता और न ही ऐसा करने के लिए स्कूल विरोधियों और स्कूल-वादियों के बीच कोई ऐसा मुद्दा बनता है जो दोनों को एक दूसरे से जोड़ सके । **"स्कूलों को श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रम की जरूरत नहीं है"** यह कहने के बावजूद रैमर और इलिच द्वारा प्रतिपादित अस्कूलीकृत समाज वाली कल्पना में भी श्रेणीबद्ध पाठ्यक्रमों की संभावनाएँ मिलती हैं और आश्चर्य इस बात पर है कि ऐसा होते हुए भी अस्कूलीकरण की कल्पना इन संभावनाओं को नकारती हैं ।

प्रच्छन्न पाठ्यक्रम आपत्ति (हिडन करीक्यूलम आब्जेक्शन) :

दिमागी-कठमुल्लाईकरण के पीछे जो तर्क निहित है वह यह कि चूंकि स्कूल, संस्था का रूप है इसलिए उनके पास अपने ऐसे तर्क भी हैं, जिनसे उसका विशिष्ट प्रकार

का प्रचार हो सके । स्कूल यह भी चाह सकते हैं या ऐसा दावा कर सकते हैं कि वे कुछ न कुछ पढ़ाते हैं और ऐसे दावे में कुछ हद तक वे सफल भी होते हैं । लेकिन सच पूछा जाए तो वे निरन्तर बड़े प्रभावशाली ढंग से कुछ विशिष्ट प्रकार की बातें ही पढ़ाते हैं, जैसे–**'बचपन का मूल्य'**, जीवनगत पुरस्कारों को प्राप्त करने के लिए स्पर्धा का मूल्य, और 'शिक्षण करने का मूल्य' । चाहे ऐसे मूल्यों को स्कूल स्वयं या सीखने वाले जानते भी हों या नहीं । ऐसे पाठ पृथक से जानबूझ कर नहीं पढ़ाये जाते, बल्कि वे प्रक्रियाओं और संगठन में ही निहित होते हैं । उदाहरण के लिए हम यह मान लें कि जब हम **समानता** के तत्व की बात करते हैं तो हमारी व्यवस्था इसके विरुद्ध **असमानता** के स्थायीकरण और प्रमाणीकरण का काम संस्थायीकरण द्वारा करती है । और यह काम वह इतनी चालाकी से करती है कि जिससे यह मान लिया जाए कि 'समानता' स्कूल व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है । **इसी प्रकार जब "स्वतंत्रता की टिमटिमाती रोशनी बुझने लगती हैं" तो हम आकर्षक नारों के मकड़जाल और परम्परागत रूढ़ियों में उलझा लिए जाते हैं और कहा जाता है कि हमारे देश की स्वतंत्र और स्वतंत्रता प्रेमी जनता के लिए लोकतांत्रिक चुनाव हो रहे हैं जबकि वास्तव में इनके जरिए एक प्रकार की अकादमिक स्वतंत्रता का ही प्रदर्शन किया जाता है ।** जो लोग यह कहकर कि "ऐसा नहीं है" सहलाते हैं, वे हमारी शिकायतों को भी झूठी सुरक्षा में सहलाते हैं । क्या दरअसल यह वह विरोध करने की आजादी है जिससे विरोध का वास्तविक प्रमाण मिलता हो? हमारे हालातों में **'प्रगति'** तो अब अनुपस्थित है, उसकी जगह रूढ़ियाँ और निरर्थक शोध हमें मूर्ख बना रही हैं । जहां तक प्रगति का सवाल है, **प्रगति** होना ही चाहिए। मगर यह भी हमारा मूर्खतापूर्ण चिन्तन है क्योंकि आम तौर से लोग जिन नये विचारों, उत्तरों और शोधों को देखते हैं, वे भी अंततः ऐसी लगती हैं, मानों गलत तरीके से की गई स्कूली रिसर्च हो । अर्थात् स्कूलीकृत तरीका वास्तव में सही उत्तरों, विचारों व शोधों के लिए सही नहीं कहा जा सकता । शोधों के उदाहरणों का सरलीकरण या सामान्यीकरण भी किया जाता है जो किसी न किसी गतिविधि को या तो जारी रखकर किया जाता है या उससे कुशलता के थोथे मुहावरे को संपुष्ट किया जाता है । अथवा उपयोगी एवं उपयुक्त कदम उठाकर किसी का को सही करने का इसमें थोथा भ्रम पाला जाता है । स्कूलों ने एक बात की खोज बहुत पहले हो कर ली थी और वह यह कि "बच्चों को अगर सोचने से दूर रखना है तो उन्हें किसी न किसी काम में उलझाये रखो" । प्रतिफल यह है कि डिग्री और डिप्लोमा के आकर्षण में उलझ कर कुछ लोग इस खुशफहमी में जी लेते हैं कि वे कुछ अच्छे काम में लगे हैं और वे बाहरी दुनिया की गतिविधियों और परम्पराओं में भागीदार बनकर बड़ा अच्छा काम कर रहे हैं । वे कई समितियों के सदस्य हैं । उनके पास कई प्रायोजनाएँ हैं, कई अभियान हैं, कई उत्पादन हैं, कई उद्योग हैं, काफी रोजगार हैं, और अंततः बड़े पैमाने पर वे विराट राष्ट्रीय उत्पादक हैं ।

इवान इलिच इसी बात को और अधिक सही ढंग से रखते हुए कहता है कि हमें स्कूल में यह पढ़ाया जाता है कि जितना भी मूल्यवान **ज्ञान** एवं **सीखना** है, वह सब स्कूल में उपस्थिति के परिणाम से संभव है और सीखने का मूल्य वैसे–वैसे बढ़ता जाता है, जैसे जैसे उसके साधन या इनपुट्स बढ़ाये जाते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ है कि आप जो कुछ

आकस्मिक रूप से सरलतापूर्वक सीख लेते हैं वह संघर्षपूर्ण ढंग से सीखे हुए से कहीं कम सीखने योग्य रहता है। इस प्रकार से सीखने के इस मूल्य का मापन एवं दस्तावेजीकरण भी श्रेणियों (ग्रेडस) एवं प्रमाणपत्रों के माध्यम से किया जा सकता है । इसके आगे आप यह भी जोड़ सकते हैं कि यह लोचविहीन ग्रेड प्रणाली, जिसने आइन्सटीन को अपनी पढ़ाई जारी रखने से रोक दिया था और जिसने अन्यों को कदम से कदम मिलाकर **स्टेलिनगार्ड** और **औशविट्ज** की तरफ आगे बढ़ने को प्रेरित किया था, हमें आज्ञाकारिता और गूंगापन या चुप्पी सिखाती है।मौसमों के बजाए घड़ी की सुई से संचालित समय की पाबन्दी सिखाती है और बच्चों को यह पाठ पढ़ाती है कि जीवन में उनकी भूमिका अपनी जगह पहचान कर वहीं चुपचाप बैठे रहना है ।

यदि कोई चीज हमें अच्छाई या बुराई की ओर ले जाती है तो उसे अपने आप में घटिया कहकर निरस्त कर देना भी ठीक नहीं हो सकता । आगे बढ़कर यदि देखें तो यहां हमें **'पोस्ट हॉक एरगो प्राप्टर हॉक फैलेसी'** का एक क्लासिक उदाहरण मिलता है जिसका तात्पर्य **झूठमूठ या काल्पनिक अनुमानों** से है अर्थात् जिसमें यह मान लिया जाता है कि यदि कोई चीज **'क'** के पीछे पड़ जाती है तो इसके लिए **'क'** ही जिम्मेदार है क्योंकि उसने ऐसा कुछ किया होगा कि वह चीज **'क'** के पीछे पड़ती । जर्मन लोग परम्परागत रूप से बड़े कठोर आज्ञाकारी लोग हैं । वे विशेष प्रकार के स्थूलीकरण के लिए भी प्रसिद्ध हैं । इसलिए यह, मतलब निकाला जा सकता है कि उनकी आज्ञाकारिता की यह विशेषता उन्हें स्थूलीकरण प्रणाली से ही मिली है । यहाँ हम रूसो की मान्यता वाली एक अत्यन्त बेहूदा हास्यापद और घटिया घड़ी पर विचार करें जो वास्तव में वही करती है जो उससे कहा जाता है । यहां जो सवाल उठते हैं, वे है– (1) क्या कोई प्रच्छन्न या छद्म पाठ्यक्रम भी हो सकता है? (2) यदि ऐसा है तो क्या उसमें तत्वों और विषयों को सूचीबद्ध किया जाता है?(3) यदि ऐसा है तो क्या यह आपत्तियोग्य है? (4) क्या हम किसी प्रकार के प्रछन्न पाठ्यक्रम को छोड़ सकते हैं?

यह बड़ी दुःखद स्थिति है कि इस मुद्दे को लेकर अत्यन्त अनर्गल बहस की गई जबकि इसकी मूल दृष्टि सही है । छद्म या प्रछन्न पाठ्यक्रम भी होता है । स्कूल बच्चों को बिना प्रत्यक्ष रूप से या चेतन रूप से पढ़ाये भी अनेक बातों से प्रभावित जरूर करते हैं । लेकिन इस मुद्दे की सबसे बड़ी दिक्कत या इसके अन्दर की ऊहापोह यह है कि स्कूल–विरोधी इसे अपनी एक अत्यन्त ऊँची और महत्वपूर्ण खोज मानते हैं क्योंकि **प्लेटो** के समय से ही यह एक लिखित इतिहास है और अनेक लोग इस बात पर तर्क करते आये हैं कि स्कूलों के पास उनका एक छद्म या प्रछन्न पाठ्यक्रम भी होना चाहिए । कई लोग हमेशा यह मानते हैं और ऐसी अपेक्षा करते हैं कि स्कूल कुछ ऐसी बातें अपने आप पढ़ाये (जबकि इसका कहीं निर्देश नहीं होता) कि राज्य के प्रति सदैव सद्भाव और अनुकूल विचार रखा जा सके। इलिच का मुहावरा अगर इस्तेमाल करें तो हम स्थापित और **वर्तमान स्थिर सामान्यीकरण को प्रणाम करें** या उसका समारोह मनाएं। ऐसी बातें समाज में मौजूद हों तो समाज के लिए उसके विरुद्ध जाना कितना कठिन होगा एक समाज उसमें ही निहित प्रचलित विचारों व मूल्यों में से नहीं गुजरेगा तो एक दिन समाज को समाज की तरह अपना काम बन्द कर देना होगा । इसलिए इस बात को जोर देकर कहना चाहिए कि हम कुछ चीजों का सामान्यीकरण कर रहे हैं क्योंकि उससे ही मूल्य और विचार निर्मित होते हैं । जिस तरह बिना किसी तर्क के हम यह मानते हैं कि कोई न कोई छद्म पाठ्यक्रम होता है उसी तरह हमें ऐसे स्पष्ट सुझावों को निरस्त भी करना चाहिए कि हमें तो

ऐसा इसलिए पढ़ाया जाता है कि इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता । इसलिए हर बच्चे को एक समान सांस्कृतिक मूल्यों को अंगीकार कर लेना चाहिए । एक बात हम सबको यह जरूर स्वीकार करना चाहिए कि ऐसे कई लोग हैं जिनका यह मत हैं कि स्कूल का लक्ष्य उन्हें पकड़कर रखना रहा हैं । कुछ यह मानते हैं कि स्कूल चेतनरूप से आगे बढ़ाने की मंशा नहीं रखता और यह कि स्कूल दोनों ही प्रकार के विचारों का निर्माता है ।

क्या जिन मूल्यों एवं विश्वासों को स्कूल–विरोधियों द्वारा उद्धृत किया जाता है वे प्रच्छन्न पाठ्यक्रम की सामान्य व महत्वपूर्ण विषय सामग्री हैं? हाँ, अधिकांश तो हैं; अगर उनमें से कुछ को जरा अतिवाद से बचाकर रखा जाए । हममें से अधिकांश लोग स्कूली शिक्षण की कीमत करते हैं और यह भी मानते हैं कि वहां रहकर ही आकस्मिक रूप से सीख लिया जाता है वह या तो कम सीखने योग्य होता है या उसे ठीक ढंग से सीखा ही नहीं जाता । हम इस पर भी विश्वास करने लगते हैं कि कुछ मात्रा में **सीखने, न सीखने** का भी आखिर कुछ मतलब है। हम जो सोचते हैं, वही कहते हैं ? हम इस बात पर भी भरोसा करने लगते हैं कि हमारे पास काफी ऊँचे ढंग की स्वतंत्रता व समानता की भावना है और लोगों के बीच जो प्रतियोगिताएँ और अन्तर होते हैं, वे यद्यपि ठीक नहीं हैं ,फिर भी अवश्यंभावी हैं । दूसरे यह भी सामान्य रूप से सच नहीं है कि हम अपने अनुभवों से कुछ न कुछ अपनाते हैं। इसलिए हमारी हर बात अपने आप में सर्वमान्य हो यह तर्क भी शिक्षा और स्कूलीकरण में सही भेद करने योग्य नहीं है और न यह कि हमें इस प्रकार से सोचने की आदत डाली गई है कि जो कुछ भी होता है, वह **संभावित श्रेष्ठतमों के संसारों में श्रेष्ठतम है ।** यह महत्वपूर्ण बात है क्योंकि अनिवार्यताओं की बनी स्वतः हमारी सोच की ऐसी प्रवृत्तियां कुछ कम खतरनाक एवं दहशतभरी हैं । किसी बात को अधिक बलपूर्वक कहने को हम केवल सामान्य से फर्क की चीज मानकर नहीं रख सकते और अगर हम पूरी तरह एक अतिवादी विचार हर मुद्दे को लेकर बना लेते हैं तो फिर हालातों को सुधारने की उम्मीद ही खत्म हो जाएगी ।

क्रान्तिवादियों द्वारा प्रच्छन्न पाठ्यक्रम पर की गई आपत्ति पर हम कुछ तीखे प्रश्न उठा सकते हैं । क्या वास्तव में प्रच्छन्न पाठ्यक्रम इतना बुरा है? शायद कुछ लोग यह तर्क दें कि प्रच्छन्न पाठ्यक्रम में कुछ बेशकीमती महत्वपूर्ण विश्वासों के संदेश निहित होते हैं जो खुले रूप से दिखाई नहीं देते । अगर ऐसा नहीं है भी तो प्रच्छन्न पाठ्यक्रम बुरा क्यों है? अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष बनाना भी तो शिक्षा है । कोई आदमी अगर समय की पाबंदी सीख जाए तो इसमें आखिर गलत बात क्या है? टुकड़े–टुकड़े में बँटे हुए उस ज्ञान में भी क्या हर्ज है यदि वह बँटवारा और विभाजन ठीक, विश्वसनीय और उपयुक्त हो?

अब पुनः एक तर्क पैदा होता है और हम पूछने लगते हैं कि क्या प्रच्छन्न पाठ्यक्रम से हम मुक्त हो सकते हैं या हमें मुक्त होना चाहिए? कुछ हद तक यह तर्कसंगत लगता है कि हाँ, हमें मुक्त होना चाहिए चाहे उसके द्वारा हमें जो संदेश प्रदान किये जाते हों, वे आपत्ति योग्य ही क्यों न हों । इस बात का आधार यह है कि हम जो भी मान्यताएं आदर्श के रूप में अर्जित करें, वे अचेतन रूप से अर्जित मान्यताएं न हों, बल्कि उन्हें हम स्वीकार या अस्वीकार गंभीर युक्तिपूर्ण विचार के बाद ही करें । यहाँ मुझे ऐसा नहीं लगता कि हम प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को एकदम ही छोड़ देने का कोई प्रश्न उठायें क्योंकि मुझे नहीं लगता कि ऐसा किसी तरह संभव हो सकता है । स्कूल–विरोधी यह साबित भी नहीं कर पाये हैं कि प्रच्छन्न पाठ्यक्रम होने का आवश्यक और पर्याप्त कारण स्कूलीकरण में ही मौजूद है । मगर फिर भी स्कूलीकरण आवश्यक नहीं क्योंकि

इस दुनिया में स्कूल ही एक मात्र ऐसी संस्था नहीं है और न ही यह सच है कि केवल संस्थाओं के माध्यम से अध्यापन संभव है । इसके अतिरिक्त पर्यावरण और परिवार भी निश्चित रूप से शिक्षण के आयाम है । इस बात को मान्यता देना भी बड़ा मुश्किल है कि कोई अपने विचार और काम ऐसे लोगों तक ले जाएगा जिन पर उनका कोई असर ही नहीं पड़ता हो । यह तो हमारे अन्दर एक तरह से प्रवृत्तिगत है कि हम अपने पर्यावरण के प्रति अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करें और हमारी ऐसी त्वरित प्रतिक्रियाओं का परिणाम है कि आज हम जो कुछ हैं, वह इसी कारण से हैं । **इसलिए स्कूल से मुक्त होने का यह कतई मतलब नहीं होगा कि हम प्रच्छन्न पाठ्यक्रम से भी मुक्त हो गए हैं ।**

अब तो यह भी निर्विवाद है कि स्कूलों के पास प्रच्छन्न पाठ्यक्रम होता है । पॉलो फ्रेयरे का तो यह भी कहना है कि **"शिक्षा तटस्थ नहीं रह सकती",** और शिक्षा के मूल्य मुक्त एवं प्रच्छन्न पाठ्यक्रमों से पैदा होते हैं । इसलिए यदि लिस्टर यह कहता है कि पाठ्यक्रम सुधार को जब समग्र रूप से लागू किया जाए तो उसमें प्रछन्न पाठ्यक्रम में किये जाने वाले परिवर्तनों पर भी विचार आवश्यक है । लेकिन कुछ मामूली परिवर्तन से ही प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को अलग किया जा सकता है । इस प्रकार का विचार कुछ कम समझ में आने योग्य है और इसलिए प्रच्छन्न पाठ्यक्रम का मामूली परिवर्तन के नाम पर हम पक्ष भी नहीं ले सकते और न इस आधार पर अस्कूलीकरण का बचाव कर सकते हैं । कुल मिलाकर यदि हमें प्रच्छन्न पाठ्यक्रमों के खतरों से कोई जरूरी लड़ाई लड़ना है तो पहले पहल उसकी विषय वस्तु पर नियंत्रण करना होगा ताकि उससे वांछित संदेश ही ग्रहण किया जा सके । दूसरे ऐसे कदम उठाने होंगे जिससे संदेश प्रसारण की प्रछन्न या दोरंगी प्रवृत्तियों को हटाकर ऐसे मूल्यों व मान्यताओं को मुक्त रूप से रखा जा सके जिनका परीक्षण हो सके ।

शिक्षण जाल और नेटवर्क की नयी परिकल्पना : विकल्पों की व्यूह रचना

इवान इलिच और रैमर अपने अस्कूलीकरण के दावे को केवल स्कूलीकरण के विरोध तक सीमित नहीं रखते । उनका विरोध शिक्षा या ज्ञान से न होकर उसके क्रूर एवं निरंकुश संस्थायीकरण से है जो पर्यावरण, परिवेश, व्यक्ति–व्यक्ति के अंदर निहित क्षमता और कल्पनाशीलता को अवरुद्ध करता है । अब प्रश्न यह उठता है कि स्कूल भंग कर देने पर या संस्था समाप्त कर देने पर आखिर ज्ञान प्राप्ति का अन्य विकल्प क्या रहेगा ? स्कूल अब एक परम्परा का रूप ले चुका है । एक रिचुअल हो चुका है बल्कि बड़ी हद तक ज्ञान–प्राप्ति का पर्याय बन चुका है । शिक्षा से सम्बद्ध हर प्रश्न का सही या गलत उत्तर स्कूल या संस्था के अन्दर से ही खोजने की प्रवृत्ति रही है । स्कूल को एक ऐसी सामाजिक वास्तविकता और सामाजिक अनिवार्यता की मानसिकता से जोड़ा जा चुका है कि स्कूल–रहित होकर शिक्षा की परिकल्पना भी मुश्किल है । हमारे सारे शैक्षिक सोच व विकास का केन्द्र अब स्कूल बन चुके हैं, संस्थाएँ बन चुकी हैं तथा इनके ही स्तरीकरण और मानकीकरण के सतत् प्रयत्न नई–नई शिक्षा नीतियों और पद्धतियों के माध्यम से हो रहे हैं । मगर इलिच–रैमर इस मानसिकता का खाका तोड़कर 'शिक्षण–जाल' या ज्ञान का एक स्वतंत्र नेटवर्क फैलाना चाहते हैं । ज्ञान की यह व्यूह रचना जो शिक्षा का नया जाल रचती हैं और नयी व्हाउचर प्रणाली पैदा करती है इसका विश्लेषण भी क्रान्तिवादियों की दृष्टि से देखना आवश्यक है ।

अध्याय – 3

स्कूल का विकल्प क्या ? रैमर

शिक्षा का सबसे बड़ा संकट ही है–सोच की क्रिया और प्रकिया का एक प्रणाली विशेष में बन कर जड़ हो जाना । किसी भी विचार या व्यक्ति का संस्थायीकरण होना संभावनाओं को पूर्णविराम देना है; अपनी ही कोशिशों से पीछे हटना है । मनुष्य के सोच का विकल्प तो मनुष्य का सोच ही हो सकता है और सोच का गतिशील बने रहना शिक्षा को स्कूलीकृत मानसिकता से मुक्त रख सकता है ।

शिक्षा का संस्थायीकरण:

अ–स्कूलीकरण के दिग्गजों ने शिक्षा के संस्थायीकरण को ध्वस्त करने के अपने तर्क रखे । उन्होंने बहुआयामी, श्रेणीबद्ध और प्रच्छन्न पाठ्यक्रमों पर तीखी आपत्तियाँ दर्ज कीं ; बाल–केन्द्रित शिक्षा के तथाकथित क्रिया–प्रधान मुहावरे को खंडित करते हुए बाल–केन्द्रित शिक्षा को एक प्रकार का छल कहा । और यह साबित करने की कोशिश की कि बच्चों को क्रियाओं के निरर्थक मायाजाल में उलझाकर उन्हें विचार–वंचित या सोचविहीन करना है । शिक्षा का सबसे बड़ा संकट ही है– सोच की क्रिया और प्रक्रिया का एक विशेष प्रणाली विशेष में बँधकर जड़ हो जाना । आज हमारे आसपास शिक्षा के जितने भी रूपक मौजूद हैं, उनका संस्थायीकरण हो गया है । विचार की प्रवहमान तरलता को एक वस्तु–संज्ञा या चीज की जड़ता में बदलने से शिक्षा का हर मुहावरा किसी न किसी संस्था का, विचारधारा का या स्कूल का पर्याय बन गया है । शिक्षा में निहित गति, ऊर्जा, प्रकाश, चिंतन और आत्मप्रेरित या स्वयंसेवी कर्म की सभी संभावनाएँ संस्थायीकरण ने अपने अन्दर कैद कर ली हैं । संस्थायी–शिक्षा प्रमाणपत्रीकरण का भौंडा औजार मात्र बनकर रह गई है । इस दुष्प्रभाव ने बालक, शिक्षक, पुस्तक, पाठ्यक्रम, विचार और प्रक्रिया सभी को संस्थायी ज्ञान–प्राप्ति का निर्धारित और नियंत्रित साधन बना डाला है ।

ज्ञान या शिक्षा के इस संस्थायीकरण से एक वर्गबद्ध और रूढ़िबद्ध समाज को अपनी दूरियाँ बढ़ा कर रखने का अवसर मिला है । संस्थायीकरण औद्योगिक समाज की आवश्यकता हो गया है । इसलिए शिक्षा के साधन औद्योगिक भाषा में ढलकर मानवीय और भौतिक संसाधन कहलाने लगे थे। औद्योगिक समाज का ठोस बुद्धिवाद मनुष्य को भी वस्तु या संसाधन कहने लगा है । इसलिए मनुष्य का विकल्प मशीन, तकनालाजी या कम्प्यूटर में खोजा

जाने लगा है । इ[illegible] और रैमर जहां संस्थायीकरण और स्कूलीकरण के विरूद्ध एक प्रचलित परंपरा की मृत्यु घोषित करने लगते हैं, वहीं वे नेटवर्क एवं शिक्षण–जाल प्रणाली की भी बात करते हैं और टेलीविजन प्रोग्रामिंग, प्रौद्योगिकीकरण या विशेष रूप से कम्प्यूटर के इस्तेमाल को नकार नहीं पाते हैं । क्या इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि जिस औद्योगिक सभ्यता के शीर्ष पर खड़े होकर वे संस्थायीकरण या स्कूलीकरण को मृत्यु–दण्ड देने की घोषणा कर रहे हैं, वहीं से टेलीविजन और कम्प्यूटर आ रहे हैं, **जो स्कूलीकरण की प्रचलित मानवीय प्रणाली** से कहीं अधिक खतरनाक हैं । औद्योगिक उपकरणों की क्षमता भले ही व्यापक हो सकती है लेकिन क्या उद्योग अपने आप में एक संस्था का विकराल प्रतिनिधि नहीं है? क्या मनुष्य बने रहने की तमाम संभावनाओं पर औद्योगिक संस्थावाद पानी नहीं फेर देगा?

किसी भी विचार या व्यक्ति का इस प्रकार संस्थायीकरण होना संभावनाओं को पूर्णविराम देना है, अपनी ही कोशिशों से पीछे हटना है । मनुष्य का विकल्प मशीन, ज्ञान का विकल्प कम्प्यूटर और स्कूल का विकल्प उद्योग बन कर आता है तो क्या वह स्वयं रैमर और इलिच की एंटी–स्कूल थीसिस की धज्जियां नहीं उड़ा देगा ? मनुष्य के सोच का विकल्प तो मनुष्य का सोच ही सकता है और सोच का गतिशील बने रहना शिक्षा को स्कूलीकृत मानसिकता से मुक्त रख सकता है । रॉबिन बैरो ने अस्कूलीकरणवादियों की बहुआयामी, श्रेणीबद्ध और प्रच्छन्न पाठ्यक्रमों की आपत्तियों को एक प्रकार का अतिवाद माना है चाहे उनके क्रांतिमूलक विचारों को कुछ हद तक उपयोगी एवं स्वीकारने योग्य कह दिया हो । इलिच और रैमर जब स्कूल को एक संस्था और शिक्षा को संस्थायीकरण के खतरनाक तरीके से स्वतंत्र करने की बात करते हैं तो पाल गुडमैन स्कूल संज्ञा में से ही **मिनी–स्कूल** संज्ञा का अन्वेषण करता है। वह स्कूल को **कम्पलसरी–मिसएज्यूकेशन** का केन्द्र भले ही कहता हो मगर इस अनिवार्य–कुशिक्षा के विरुद्ध स्कूल का एक ऐसा आण्विक विखण्डन चाहता है, जिससे संस्थायीकरण का बेडौल और बोझिल रूपक टूट कर बिखर सके। इलिच और रैमर भी स्कूल के विरुद्ध कुछ वैकल्पिक व्यूह–रचनाएँ देते हैं, मगर उनके विकल्प भी बहुत आसान नहीं है । रॉबिन बैरो को उन पर तीव्र आपत्ति है । रॉबिन इलिच–रैमर के क्रांतिमूलक दर्शन के विरुद्ध भले सुधारवादी दिखाई दे, मगर उसका स्पष्ट सवाल यह है कि क्या **नेटवर्किंग प्रणाली** या **शिक्षण जाल** या **मिनी स्कूल** अंततः प्रणालीबद्ध होकर संस्थायीकृत नहीं होंगे ? इलिच–रैमर के ये विकल्प और इन विकल्पों को आजमाने की व्यूह रचना ? कहाँ तक संगत और उचित है इस पर रॉबिन बैरो एक पूरी बहस पैदा करता है ।

स्कूल का विकल्प : नेटवर्क और शिक्षण जाल : विकल्प के विरुद्ध विकल्प की बहस :

मोटे तौर पर रैमर और इलिच जिन नये तरीकों को सुझाते हैं, वे अधिक से अधिक सस्ते (पश्चिमी मानक से) और अप्रतियोगी व्यक्तिगत विकल्प हैं जिनसे कोई आदमी अगर चाहे तो किसी भी प्रकार के अवसर प्राप्त कर सकता है चाहे वह परमाणु भौतिकी के उच्च स्तरीय सेमीनार के कोर्स का हो या स्थानीय मछलीबाजार का । अर्थात् स्कूल के विकल्प की संभावनाएँ बहुत निर्बाध और खुली है ।वे ज्ञान का सीमितीकरण नहीं करती। मगर रॉबिन बैरो इसे स्कूल

समाप्त कर देने जैसा विकल्प नहीं मानता । इलिच और रैमर की समझ में मनुष्य के मस्तिष्क से नियंत्रित शिक्षा, सीखने वाले के मस्तिष्क को भी नियंत्रित करती है । मनुष्य के सारे पूर्वग्रह, सारे विचारधारागत जड़ और कठमुल्लाई तरीके बालक में प्रारंभ से ही प्रवेश करने लगते हैं । इसलिए संस्थागत तरीका मगज–धोने (ब्रेन वाश) या सोच की क्रियाओं को बाँधने का तरीका है । रॉबिन बैरो यह तो नहीं कहता कि इलिच और रैमर के क्रांतिवादी विचार या स्कूल विरोधी तर्क बिल्कुल बेमानी हैं क्योंकि स्कूलीकरण की अपनी खामियां भी है। मगर जो विकल्प इलिच और रैमर प्रस्तुत करते हैं उनसे भी बैरो बहुत सहमत नहीं होता । रॉबिन बैरो का कहना है कि स्कूलीकरण में भी भयानक भूलें है और उनका सावधानी से परीक्षण और विश्लेषण आवश्यक है। एक बड़ा खतरा यह है कि स्कूलीकरण की इन भूलों को यदि अलग नहीं रखा गया तो स्कूल के विरूद्ध जो विकल्प निकलकर आ रहे हैं, कहीं वे इतने अधिक प्रभावशाली न हो जाएँ कि उनके प्रभुत्व या आतंक में रहकर ही सब कुछ सोचा जाये । एक बात तो यह है कि जिस प्रकार ब्राजीलियन किसानों पर ब्राजीलियन जमींदारों का प्रभुत्व या आतंक या प्रभुत्व था, उसी तरह का आंतक या प्रभुत्व बच्चों पर भी स्पष्ट दिखाई देता है और हमने इस सत्य से अपने बच्चों को सदैव अलग रखा है यह बात भारतीय संदर्भ में भी काफी हद तक सही है। बच्चों को स्कूल के आतंक की सच्चाई से दूर रखने का काम भी उन वर्गों या समूहों ने किया, जिनके निहित स्वार्थ स्कूल से बँधे हुए हैं । हम तो यह तक भी कह सकते हैं कि यहाँ निहित–स्वार्थ–समूह भी हम स्वयं ही हैं । एक ही उदाहरण इसके लिये पर्याप्त है । कोई भी कार–मैकेनिक–संगठन यह कभी नहीं चाहेगा कि लोग अपनी–अपनी कारों की सर्विसिंग या मरम्मत खुद कर ले। इसलिए वे एक विशेष प्रकार का भ्रम या मिथ छोड़ते हैं और कहते हैं कि कारों की सर्विसिंग या मरम्मत प्रशिक्षित मैकेनिकों का ही काम है और प्रशिक्षित का मतलब है – एक **स्कूल्ड–मैकेनिक** या किसी संस्था में तैयार प्रमाणपत्रीकृत मैकेनिक । इस मिथ के बावजूद भी हममें से कुछ लोग खुद ही मैकेनिक हैं । स्कूलवादियों के अतिवाद को यह उदाहरण एक उत्तर है और इसलिए यह मुद्दा आगे बहस योग्य है । आगे हमें यह कहना होगा कि स्कूल उस प्रकार का प्रभुत्व या आतंक नहीं रचते, जैसा कोई राजनीतिक दल या औद्योगिक समूह रचता है। यह तर्क भी बहुत ज्यादा गले नहीं उतरता कि स्कूल को अपना प्रभाव कतई पैदा नहीं करना चाहिये । स्कूल के प्रभाव या प्रभुत्व को एकदम निरस्त करना संभव नहीं है। हां यह जरूर है कि हमें इस बात के लिए **संगठित** प्रयत्न करना चाहिये जिससे स्कूल का छद्म या गुप्त आतंक समाप्त हो सके; और हम ऐसे विकल्पों पर ध्यान दे सकें जो स्कूलीकरण की मानवीय व्यवस्था से सचमुच की स्पर्धा कर सकते हैं ।

दूसरी मान्यता यह है कि सीखना अन्य क्रियाओं से पृथक होना चाहिये । सीखना स्वयं में एक क्रिया है, ऐसा मान कर सीखना ही सही ढंग से सीखना है । रैमर एक खास किस्म के शिक्षण–परिदृश्य की भी कल्पना करता है । कक्षा में जब छात्र नेता होता है, तो उसकी भूमिका एक छात्र की भूमिका होती है और छात्र बन कर सीखना बड़ी मुश्किल से होता है । सीखना तभी अत्यंत स्वाभाविक ढंग से होता है, जब कोई काम स्वयं किया जाता है या कोई खेल खेला जाता है इसलिये यह जरूरी है कि सीखने की प्रक्रिया सतत् चलती रहे, और सीखने वाला उससे पृथक हो पाए । खेल से पृथक होना, क्रिया से अलग होना, सीखने की स्थितियों

से दूर होना है । इसलिए हमें ऐसी प्रेरक स्थितियों का स्वयं निर्माण करना चाहिये और यह मानना चाहिये कि दुनियाँ में हर व्यक्ति एक शिक्षण संसाधन या शिक्षण स्रोत है । मानवीय संसाधन या स्रोत इसे रॉबिन बैरो एक प्रकार की नारेबाजी कहता है, जो खतरनाक है । बैरो का कहना है कि ऐसी परिभाषाओं को देते वक्त हम यह नहीं सोचते कि इन परिभाषाओं के कारण छोटी–छोटी बातों के लिए हमें कितनी बड़ी कीमतें अदा करना पड़ती हैं । अगर हम अस्कूलवादियों के निष्कर्ष सीधे–सीधे स्वीकारने के बजाय यह कह सकें कि उनमें गलतियाँ हैं । (उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे कि अंग्रेजी साहित्य या कोई भी साहित्य पढ़ने के लिए स्कूल की क्या जरूरत है) तो इससे स्कूल या संस्था में पढ़ने के विरूद्ध कोई एक तर्क तो जरूर बनेगा मगर वास्तव में वह सौ फीसदी सच नहीं होगा । यह माना जा सकता है कि स्कूलरहित होकर कुछ सूचनाएँ, कुछ ज्ञान, कुछ अनुभव प्राप्त किये जा सकते हैं और कुछ दक्षताओं व तर्कों के लिए खुली सुविधा का वातावरण मिल सकता है लेकिन यह निर्भर करेगा व्यक्ति की अपनी क्षमता और उसके आसपास के परिवेश पर । इसके विपरीत तथ्य यह है कि क्षमता और परिवेश की भी सीमाएँ होती हैं । रैमर ने जो 'वर्कएंड प्ले' (काम और खेल) की बात की है, आखिर उसका क्या मतलब निकलता है? 'वर्कएण्ड प्ले' तो हर सीखने की बात पर लागू होता है । इसलिए हमें पॉल गुडमैन की तरह यह मानना होगा कि 'काम और खेल' एक प्रकार से कक्षाई उपस्थिति और अकादमिक कार्य व्यापार का हिस्सा ही है। मगर 'काम और खेल' को यदि कक्षा के विरोध में परिभाषित किया जाता है, तो फिर बहस के लिए जायज मुद्दा यह उठेगा कि सीखना तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जैसे कि बहुत सी बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें क्लब या दफ्तर में लोग सीख लेते हैं और उन्हें सीखने के लिए किसी स्कूल की जरूरत नहीं होती लेकिन इस तर्क से भी एक सवाल यह उठता है कि इस तरह सीखना भी क्या सीखना है? इस तरह से क्या और कितना सीखा जाएगा ? हम इस बात से इंकार क्यों करते हैं कि इतने ही स्वभाविक ढंग से कक्षा में नहीं सीख सकते ?

आखिर 'कृत्रिम अभिप्रेरण' या प्रेरक स्थिति के निर्माण का मतलब क्या है? यदि हम यह कहें कि कक्षा में प्रेरक स्थिति का निर्माण जरूरी है, तो इससे क्या कोई फर्क पड़ेगा? क्या कक्षा में यह स्थिति डरावनी या मुश्किल में डालने वाली होगी ? अगर हम यह मानते हैं कि हर चीज एक प्रकार का 'शिक्षा संसाधन या 'शिक्षा स्रोत' है, तो यह केवल इतना ही सच है कि इससे कुछ न कुछ सीखा जा सकता है मगर ऐसा सीखना बहुत मददगार या उपयोगी होगा, इसमें शक है । अब सवाल ये उठते हैं कि क्या हर चीज के बारे में या हर चीज को समान रूप से सीखना उपयुक्त है? क्या कोई व्यक्ति किसी वस्तु के आमने–सामने खड़ा होकर वह सब कुछ सीख सकता है जो सीखने के लिए जरूरी है? जो 'ऑन द जॉब लर्निंग' यानी 'काम करते–करते सीखने' पर जोर दिया गया है, वह एक प्रकार से हमें उस प्रश्न से भटकाता है जो यह कहता है कि क्या कुछ ऐसी बातें नही हैं, जो भाववाचक तरल या निराकार होते हुए भी मास्टरी या विषय पर पूर्ण अधिकार की माँग करती है ? 'काम करते करते सीखना' वस्तु जगत तक सीमित सीखना है, फिर भाववाचकों को कैसे सीखा जाएगा? रैमर की यह बात भी बड़ी विचित्र और भोंडी लगती है कि वह भावनाओं की बात करते हुए राजनीति और मनोविज्ञान जैसे विषयों का हवाला देकर उन्हें 'महत्वपूर्ण भाववाचक' कहता है । इसका मतलब साफ है कि जब स्कूल के विरुद्ध इस बात का जवाब नहीं मिलता, तब तक अ–स्कूलीकरण की माँग ही नावाजिब है । किसी ने कभी

यह झूठ-मूठ का दावा नहीं किया कि पत्रकारिता करने या रेल ड्रायवर बनने के लिए स्कूल ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है । जिन शिक्षाविदों ने स्कूल की तरफदारी करते हुए लगातार उसकी आवश्यकता बताई है, उनका भी यही कहना है कि ज्ञान के क्षेत्र में कुछ 'भाववाचक संज्ञाएँ हैं; और जिनका जीवन में बहुत बड़ा स्थान और मूल्य है । वे सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से स्कूल में ही सिखाई जा सकती हैं । इस बात को हम सर्वमान्य सत्य तो नहीं कह सकते क्योंकि भाववाचक भी मनुष्य के अपने संसार से अलग नहीं हैं । स्कूल के बाहर इन्हें सीखा ही नहीं जा सकता यह तर्क भी एक प्रकार का अतिवाद है। और केवल स्कूल ही इन्हें सिखा सकता है, यह दूसरा अतिवाद है ।

रैमर और इलिच के विकल्पों को लेकर जो मूलभूत सवाल उठते हैं, उन पर अधिक कुछ कहने की जरूरत नहीं है । यह बात कि शिक्षक को कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये: कोई पृथक विचार नहीं है बल्कि एक प्रकार से अ-स्कूलीकरण आस्था का यह भी अविभाज्य हिस्सा है। और यह तथ्य कई तथ्यों के साथ अंतरंग रूप से जुड़ा हुआ है । विकल्प सस्ता हो, इस पर सिद्धान्ततः कोई विवाद नहीं लेकिन यह जानना तो जरूरी है कि 'सस्ता आखिर कितना सस्ता'? और कोई चीज किस हद तक सस्ती हो सकती है?

किसी चीज का सस्ता या महंगा होना इस बात पर निर्भर करता है कि वह चीज कितनी मूल्यवान या महत्वपूर्ण है अर्थात् सस्तापन मात्र भौतिक न होकर, उस वस्तु के मूल्यवान, महत्वपूर्ण और आवश्यक होने पर निर्भर करता है । विकल्प की सिफारिश मात्र सस्तेपन को लेकर नहीं की जा सकती और न हम यह कह सकते हैं कि जो कुछ खर्च आवश्यक है, वह भी नहीं किया जाए ।

रैमर और इलिच जैसे क्रांतिकारियों का एक तर्क यह भी है कि 'विकल्प अप्रतियोगी' होना चाहिये। अप्रतियोगी विकल्प को लेकर जो तर्क दे रहे हैं, उनमें से तीन प्रश्न उठ खड़े होते हैं :-

1. अप्रतियोगी का वास्तविक या सही अर्थ क्या है? उस प्रतियोगिता का सही प्रकार क्या होगा, जिसके लिए प्रत्यक्ष रूप से उन्हें आपत्ति है? क्या हम व्यक्ति से व्यक्ति के विरूद्ध प्रतियोगिता की बात कर रहे हैं? या हमारी प्रतियोगिता ऐसे लोगों अथवा ऐसी वस्तुओं के साथ है, जिन्हें हम जानते तक नहीं? क्या प्रतियोगिता का मतलब दौड़ों, खेलों या होम-वर्क करने के तरीकों से प्रतियोगिता है ?
2. प्रतियोगिता किसी भी रूप में हमारे दिमाग में मौजूद हो, आखिर वह आपत्तिजनक क्यों? क्या प्रतियोगिता को नकारने का कोई ऐसा सर्वमान्य तर्क है, जो यह साबित करे कि प्रतियोगिता से यह नुकसान होगा ?
3. क्या स्कूलीकरण या स्कूली-शिक्षा से प्रतियोगिता को पृथक किया जा सकता है? क्या यह मान लिया जाए कि अ- स्कूलीकरण में उन प्रतियोगी प्रवृत्तियों का अंत हो जाएगा, जो सीखने वालों के जीवन में हर जगह मौजूद हैं? या कि स्कूल में रह कर प्रतियोगिता करने से बेहतर प्रतियोगिता वह होगी जो स्कूल से बाहर की जाती है?

आज इन सवालों के उत्तरों की जरूरत है और अस्कूलीकरणवादी या क्रांतिवादी विचारक इन प्रश्नों के उत्तर ठीक से नहीं दे पा रहे हैं ।

इलिच और रैमर जिन वैकल्पिक व्यूह रचनाओं की बात करते हैं, वे बहुत मजबूत नींव पर नहीं खड़ी हैं । विकल्प के बजाय एक राष्ट्रीय संसाधन या स्रोत प्रणाली के रूप में रैमर 'साधनों या वस्तुओं का नेटवर्क' और 'जन नेट वर्क' की बात करता है, जिन्हें इलिच अपनी भाषा में 'शिक्षण-जाल' या लर्निंग वेब कहता है जबकि दोनें चीजें एक तरह से समान ही हैं। वस्तुओं का नेट वर्क वस्तुओं का संग्रह है विशेष रूप से एक प्रकार की 'अभिलेखन' और 'नस्तीकरण यानी डाक्यूमेंटेशन और फाइलिंग' प्रणाली है । इस प्रणाली में यह हमेशा संभव है कि यदि कोई व्यक्ति कोई जानकारी प्राप्त करना चाहता है तो उसे यह पता चल जाता है कि वह जानकारी कहाँ मिलेगी ? इस प्रणाली में कम्प्यूटर, जो कुछ सीमा तक पुस्तकों का विकल्प बनते जा रहे हैं या पुस्तकों को रास्ते से हटाते जा रहे है, ज्ञान का प्रवेश-द्वार बनने लगते हैं । इस नेट वर्क में हर किसी का आसानी से प्रवेश संभव है । सीखने वाले की पहुंच संभव है, इसलिए इस प्रणाली के प्रवक्ता यह कहते हैं कि इस प्रणाली में शिक्षा की गुणवत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि अभिलेखन या फाईलीकरण कितनी पूर्णता और गुणवत्ता के साथ उपलब्ध है ?

'स्कूल की मृत्यु' का संदेश देना, सच पूछा जाए तो बहुत बड़ा विरोधाभास है। उनका यह प्रस्ताव भी अपने आप में कम विशिष्ट नहीं है क्योंकि स्कूल की मौत का तर्क वे बड़ी ही मासूमियत के साथ देते हैं। मगर सच पूछा जाए तो यह तर्क ही अपने आप में निहायत बोदा और निरर्थक है । ज्ञान के नियंत्रण के तरीकों पर हमला करने के बाद इलिच और रैमर अपने आप में यह सवाल करने से कैसे चूक गये कि आखिर उनके द्वारा प्रतिपादित नेटवर्कों का पर्यवेक्षण कौन करेगा और इस प्रकार ज्ञान पर किसका नियंत्रण होगा? जब हम अभिप्रेरण (motivation) और रुचि की बात करते हैं तो फिर इस सवाल की उपेक्षा कर कैसे सकते हैं कि इन स्रोत केन्द्रों (Resource centres) यानी नेट-वर्कों तक लोग पहुँचेंगे कैसे ? हमारे पास वैसे तो कई अवसर और सुविधाएँ उपलब्ध हैं और स्कूलीकरण का यह दोष भी है कि बहुत कम लोग इन अवसरों और सुविधाओं का लाभ उठाने में रुचि लेते हैं, जो हमें स्थानीय संग्रहालयों (muscum) स्थानीय संस्थाओं, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों, खुले विश्वविद्यालयों, सार्वजनिक ग्रंथालयों, फायर ब्रिगेड, पुलिस स्टेशन या समाज के छोटे से छोटे टुकड़े से आसानी से उपलब्ध है । इन सबसे भी ऊपर जाकर एक बड़ी बात और है- और वह यह है कि जब हम स्कूलीकरण और शिक्षा में भेद करते हैं , और स्कूलीकरण को शिक्षा की अपेक्षा ज्ञान के कठमुल्लाईकरण से जोड़ते हैं, तब फिर हम बेहिचक ऐसा कैसे कह देते हैं कि सूचनाओं का एक जगह भंडारण स्कूलीकरण के विरूद्ध खड़ी समस्या का आदर्श हल है और 'बटन दबाओं' प्रणाली (Push Button) के नियंत्रण से तर्क करने की योग्यता का अभ्यास या विकास हो जाएगा । यह सच है कि रैमर और इलिच ज्ञान के भंडारण का संदर्भ की तरह इस्तेमाल करने के लिए स्रोत-केन्द्रों की प्रासंगिकता को बहुत ज्यादा स्वीकार नहीं करते। वे शायद किसी अधिक व्यापक ऐसे विकल्प की बात कर रहे हैं, जिससे शिक्षा का संभ्रांत मुहावरा खंडित हो, और वह तभी संभव है, जब कि एक अ-स्कूलीकृत पीढ़ी तैयार हो । इलिच और रैमर को इलिच बदली हुई परिस्थितियों में इस बात की चिंता करना होगी कि लोग नेट वर्क प्रणाली से केवल सूचना ही हासिल न करें, और न कम्प्यूटर का बटन दबा कर सवाल का सही जबाव निकालें बल्कि उन्हें साथ-साथ

अपनी तर्क प्रणाली का विकास भी करना होगा । फिर भी अभी तो इतना ही कहा जाएगा कि नेट वर्क–प्रणाली शिक्षा का सम्पूर्ण विकल्प न होकर मात्र सांख्यिकी सूचना–संग्रहण रहेगी ।

स्कूल के विकल्प की खोज में प्रौद्योगिकी विशेष महत्वपूर्ण है । रैमर का सारा उत्साह ही प्रौद्योगिकी पर टिका हुआ है । प्रौद्योगिकी के प्रभाव से अक्ल का एक अजीब ही दावा पैदा होता है और वह यह कि रैमर और इलिच एक ऐसा **'टेक्नोटोपिया'** अर्थात् **'प्रौद्योगिकी–स्वप्न'** देख रहे हैं, जिसमें 'स्वैच्छिक शिक्षार्थी समूह' कम्प्यूटरों के जरिये एक दूसरे के पास लाया जाता है । इससे अ–स्कूलीकरण और प्रौद्योगिकी के बीच के रिश्ते ज्यादा भ्रामक और अस्पष्ट बने हैं और इलिच–रैमर भी विकल्प के प्रति विशेष आकर्षण या विश्वास पैदा नहीं कर पाते। गुडमैन तो प्रौद्योगिकी का मुरीद है ही नहीं । इलिच प्रत्यक्ष रूप से टेलीविजन विरोधी है और उसका माध्यम की तरह इस्तेमाल करना पसंद भी नहीं करता । यही वजह है कि इलिच तथा रैमर यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि प्रौद्योगिकी अस्कूलीकरण का कारण या साधन है या नहीं । **लिस्टर** यह जरूर कहता है कि प्रौद्योगिकी माध्यम ने ऐसी क्रांति की है, जिससे स्कूल सूचना–प्रसारक के रूप में अप्रासांगिक हो गये हैं । लिस्टर की यह टिप्पणी भी दो अर्थ वाली है। ऊपरी तौर पर देखें तो यह बिलकुल असत्य टिप्पणी है। स्कूल निश्चित रूप से सूचना–प्रसारक के रूप में कतई अप्रासंगिक नहीं हुए हैं। इसके विपरीत आज यह ज्यादा उपयुक्त लगता है कि स्कूलों का आकलन आज के परिप्रेक्ष्य में अधिक वस्तुनिष्ठता और तटस्थता से किया जाए ।फिर देखा जाए कि वे वास्तव में सूचना–प्रसारक या सूचना–दाता की भूमिका अदा करते है या नहीं ? लेकिन ऐसा करने से जब अ–स्कूलवादी इंकार करते हैं तो लगता है कि स्कूल और प्रौद्योगिकी को लेकर यह तर्क भी बहुत दमदार नहीं लगता कि नव माध्यम यानी प्रौद्योगिकी स्वयं शिक्षार्थी द्वारा नियंत्रित और संचालित होने से अधिक क्षमतावान और सुविधाजनक है । यह तर्क बड़ा हास्यास्पद लगता है । हम खुद ही सोचें कि पढ़ते–पढ़ते किताब बन्द करने और टी.वी. का स्विच आफ करने या कम्प्यूटर का बटन दबाने में मौलिक अन्तर क्या है? क्या किसी कार्यक्रम को टी.वी. पर पुनः लाया जाकर या बार–बार देख कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि टी.वी. स्कूल का सही विकल्प है? प्रौद्योगिकी के स्व–नियंत्रण की जो बात कही गई है, वह भ्रामक है । यह नियंत्रण वैसा नहीं है, जैसी बात हम कर रहे हैं । हमारी मुख्य चिंता तो यह है कि व्यक्ति जो कुछ सुने, देखे या पढ़े, उस पर अपना नियंत्रण रखने लायक बने और अक्ल की बात तो यह है कि बालक अपने कार्य का स्वयं ही मूल्यांकन करे– बजाय इसके कि किसी पिछलग्गूपन, जड़ता, कठमुल्लापन और दिमागी धुलाई का शिकार हो । इसलिए यह तर्क कतई मानने योग्य नहीं है कि नव–माध्यम में वास्तव में अधिक आत्म–नियंत्रण के अवसर हैं । यह सही है कि आज चॉक–बोर्ड, ओव्हर हैड–प्रोजेक्टर, माइक्रो फिल्म, टेप–रिकार्डर–हायर प्रणाली और कई जटिल मशीनी उपकरण ऐसे हैं, जिनसे एक सीखने वाला बालक अपनी नाव खुद खे सकता है मगर इनसे जो बात स्पष्ट नहीं होती वह यह है कि क्या माध्यम उसे इतना अच्छा सिखाते हैं, जितना अन्य कोई चीज उसे नहीं सिखा सकती? इस बात को केवल हम इस रूप में देख सकते हैं कि यदि हमें **स्कूल तोड़ना ही** पड़े तो प्रौद्योगिकी विकल्प बनने को तैयार खड़ी है । और यदि हम स्कूल **का रूपक जारी**

रखते हैं तो स्कूल प्रौद्योगिकी विकास का इस्तेमाल कर सकते हैं । इससे यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि प्रौद्योगिकी स्कूलों को निरर्थक या अप्रासंगिक करने के लिए है या उन्हें सूचना–प्रसारण के केन्द्रों के रूप में जीवित नहीं रहने देगी । केवल इतना अन्तर अवश्य होगा कि सूचना–प्रदाय का तरीका बदल जाएगा और प्रौद्योगिकी सूचना का प्रसारण स्कूल की तरह न करके अलग तरीके से करेगी ।

यदि स्कूल के नुकसानों को लेकर रैमर और इलिच चिंतित हैं, तो प्रौद्योगिकी के नुकसानों को भी अलग नहीं रखा जा सकता । खिलौने और खेल इस प्रौद्योगिकी समाज में निहित शैक्षिक नुकसानों का प्रतिकार करने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली साधनों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं । यह भी माना जाता है कि खेल और खिलौने सीखने के कौशल को आनन्ददायी ढंग से बताते हैं । किसी व्यक्ति, शिक्षक या अधिकारी की सत्ता के नियंत्रण के बिना ही इन खेल–खिलौनों से शैक्षिक गतिविधियों का आयोजन किया जा सकता है । यदि गंभीरता से लिया जाय तो यह तर्क थोड़ा अटपटा लगता है । यह सही हो सकता है कि खेल का प्रकार सहभागिता की क्रियाएं निश्चित करता है लेकिन यह बात कौन तय करेगा कि कौन सा खेल, क्या सीखने के लिए खेला जायगा? यह तर्क उतना बेतुका नहीं है जितना कि बिना सोचे–समझे यह मान बैठना कि खेल बौद्धिक प्रणाली को विकसित करने के निश्चित मानदण्ड हैं। एक बार फिर हमें यह तथ्य भी स्वीकारना होगा कि लोगों को वर्तमान प्रणाली के कठमुल्लाईकरण के प्रभाव से मुक्त कराने सम्बन्धी अस्कूलीकरणवादियों की घोषणा अपनी जगह भले ही सही हो मगर ये लोग भी स्वायत्त और तर्कपूर्ण सोच के लिए कोई पर्याप्त या उपयुक्त विचार नहीं दे पा रहे हैं । खेलों के लिए भी कुछ हद तक कौशल और अक्ल दोनों की जरूरत होती है । कोई व्यक्ति किसी खेल विशेष में होशियार हो सकता है। खेलों का आधार भी कोई तर्क शास्त्र हो सकता है । उनमें कुछ युक्तियुक्त प्रक्रियाएं हो सकती हैं । वे स्पष्ट रूप से सोचने का थोड़ा मौका भी प्रदान कर सकते हैं।मोटे तौर पर विभिन्न अवधारणाओं के बीच एकदम भेद करने की क्षमता के विकास में, किसी बात की खोज करने और उससे सम्बद्ध उपयुक्त साक्ष्य जुटाने में, चीजों के बारे में कारण या दलीले देने में, भ्रांत तर्कों से बचने में और खेलों का योगदान बहुत कम होता है । यदि हमें लोगों द्वारा की जाने वाली बहस के स्तर में सुधार लाना है तो उसका एक ही तरीका है– वह यह कि मान लीजिए कि लोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बातचीत या बहस करना चाहते है, तो पहले उन्हें वास्तविक तथ्यों की अधिक से अधिक जानकारी एकत्रित करने पर जोर देना होगा । फिर उन्हें चाहिये कि वे कथित तथ्यों की प्रमाणिकता पर प्रश्न उठायें और तथ्यों से सम्बद्ध आवश्यक साक्ष्य या प्रमाण जुटायें । फिर ठोस तर्कों के आधार पर तथ्यों को प्रस्तुत करें । **खेल** एक प्रकार की **शैक्षिक कूटनीति** है और इस खेल–कूटनीति से शिक्षा का निश्चित ही कोई विशेष भला नहीं होगा ।

बड़े अफसोस की बात है कि साधनों या वस्तुओं के नेट वर्क का जो खलबलीभरा, मगर निहायत थोथा विवरण रैमर देता है, उसके बारे में इलिच कोई खास प्रतिक्रिया जाहिर नहीं करता । हाँ, इतना जरूर है कि रैमर से थोड़ा अलग हटा कर इलिच अपने विकल्प को बचाने की कोशिश करता है । अपनी 'सेलेब्रेशन आफ अवेयरनैस' नामक पुस्तक में इलिच गणित और भाषा के आयोजित शिक्षण की बात मंजूर करता है और साल में दो महीने औपचारिक स्कूली

शिक्षा की वकालत करता है । रैमर के साथ-साथ डि-स्कूलिंग सोसायटी में वह प्रमुख रूप से शिक्षण जालों (Learning Webs) के माध्यम से मुक्त शिक्षण की अनिवार्यता पर जोर देता है और कहता है कि किसी के भी जीवन से कभी भी सीखने पर कोई पाबंदी या बाधा नहीं होना चाहिये क्योंकि कोई व्यक्ति जीवन में कहीं भी, कभी भी सीखने के फैले हुए सैकड़ों तरीकों और अवसरों में से अपना तरीका और अवसर चुनने योग्य है । रैमर की भांति इलिच जीवन में हर सीखने वाले की पहुँच, हर शिक्षण स्रोत या शिक्षण संसाधन तक चाहता है । इलिच भी रैमर की तरह संस्थायी प्रभुत्व की समाप्ति चाहता है। इन संस्थाओं के चतुराईपूर्ण और आनन्दपूर्ण इस्तेमाल की भी वह बात करता है । उदाहरण के लिए वह टेलीफोन सम्पर्कों, डाक-तार व्यवस्था तथा ऐसे अन्य मनोरंजक साधनों के शैक्षिक इस्तेमाल को स्वीकारता है अर्थात् पश्चिमी सन्दर्भ में वह सीखने वाले के समक्ष ऐसे अनेक साधनों को पहले से ही उपस्थित मानता है, जिनका उपयोग करके सीखने वाला सीखने की क्रिया को एक आनंदमय उत्सव बना सके । भारत के संदर्भ में या भारत जैसे विकासशील देशों के सन्दर्भ में आनन्दमयी शिक्षण की यह साधन युक्त व्यवस्था एक दिवास्वप्न ही होगी । इलिच और रैमर संसाधनीय दरिद्रता की दृष्टि से कोई विकल्प नहीं सुझा पाये । इसलिए विकासशील देशों के लिए स्कूल कितना भी आततायी क्यों न हो, अप्रासंगिक या अनावश्यक नहीं बन पाता ।

रैमर और इलिच ज्ञान-प्राप्ति के लिए आसपास के पर्यावरण, परिवेश और परिस्थितियों के उपयोग की बात करते हैं । उदाहरण के लिए कार के इंजिन के अध्ययन के लिए कार गेराज में जाना जरूरी है बजाय इसके कि शिक्षा के किसी विशेष स्थान पर कार लायी जाए । भारतीय संदर्भ में कार का अध्ययन अप्रासंगिक हो सकता है। इसलिए हमें अपनी स्थितिगों के अनुकूल किसी साधन का अध्ययन उस जगह जाकर करना होगा जहाँ वह साधन अपने आप उपलब्ध है -बजाय उस साधन को संस्था में लाने के। ज्ञान-प्राप्ति को लेकर इलिच और रैमर एकदम स्पष्ट प्रतीत नहीं होते । इलिच मानता है कि ऐसे कई लोग हमें मिल जायेंगे जो यह कहेंगे कि उन्होंने जो भी तथ्यपरक ज्ञान प्राप्त किया है, वह उन्हें स्कूल की संस्थायी संरचना से मिलने की बजाय या तो जीवन और कर्म के प्रति उनकी अपनी समझ से मिला है, या दोस्तों के प्यार से, टी.वी. देख कर, किताबें पढ़ कर या अन्य पढ़ने-लिखने वालों से गली मोहल्लों में मिल जुलकर, टकराकर मिला है । रॉबिन बैरो मानता है कि वह निश्चित रूप से उसी बात को सही कहेगा। तथ्यों के बारे में हमारे ज्ञान, जीवन और कर्म की समझ का जहाँ तक सवाल है, यह बिलकुल साफ है कि वह हमें ऊपर बताये गये तरीकों में से कई के द्वारा हासिल होता है । इसके अलावा शायद ऐसा लगता है कि इलिच और रैमर एक प्रकार से तौद्योगिकी के मजाल में फँस गये हैं । इसलिए ज्ञान-अर्जित करने के तरीकों का वे इतना अधिक सरलीकर कर रहे हैं जैसे ज्ञान कोई ऐसी चीज हो, जिसकी तुलना कैमरे की आँख से की जा सके, जिसमें जो कुछ भी दिखाई दे, उसका फोटो खिंच जाता है । सचाई यह है कि टेलीवीजन, किताबें, पारिवेश, पर्यावरण या परिस्थितियों से मुठभेड़ करके सीखना इतना सरल नहीं है । इन माध्यमों से सीखने का अर्थ है कि इन माध्यमों के सामने हम किस प्रकार पेश आते हैं? जिस प्रकार ये माध्यम हमारे सामने पेश किये जाते है, उनसे सीखने-समझने या सोचने की हमारी अपनी योग्यता क्या है? इसी प्रकार इलिच हर आदमी के लिए टेप-रिकार्डर की बात करता है

(जैसा कि बोलीविया में होता है) । वह कहता है कि टेप-रिकार्डर से हर एक को मुक्त अभिव्यक्ति का मौका मिलता है । वह चाहे पढ़ा लिखा हो या अनपढ़ दोनों ही समान रूप से अपनी बात रिकार्ड कर सकते हैं, उन्हें संभाल कर सुरक्षित रख सकते हैं । उन बातों का प्रसार कर सकते हैं । अपनी राय को दोहरा सकते हैं । इलिच की इस बात का तो मतलब यह हुआ कि इसमें सोच और संवाद अपने असली रूप से हट कर विचारों की एक कड़ी या एक मैकेनिकल चैन बन कर रह जाएँगे । शायद इलिच ऐसी बात कह कर समझ ही नहीं पाया कि रीडिंग या वाचन का मतलब केवल विचारों को रिकार्ड करना या उनका प्रसार करना ही नहीं अपितु वाचन सीखने का अर्थ **पढ़ कर सोचना सीखना** है । जब एक शिक्षक यह बताता है कि कौन मनुष्य क्या है? मनुष्य के बीच के रिस्ते क्या हैं? तो यह केवल रिकार्डर के बटन दबाकर समझाने जैसा काम नहीं है बल्कि वह एक सवाल या सीखने वाले के आगे एक ऐसा जानदार तरीका इस्तेमाल कर रहा है, जिससे सोखने वाले के अन्दर फर्क करने और सोच विचार के सन्दर्भो को समझने की योग्यता पैदा होती है जबकि टैप-रिकार्डर न तो स्वयं ऐसा कुछ कर सकता है और न सीखनेवालों को खुद-ब-खुद आगे बढ़ने या उठने का मौका देता है । यह सही है किसी विशेष प्रसंग में (जैसा कि बोलीविया में है) मुक्त अभिव्यक्ति और विचारों के आदान-प्रदान को प्राथमिकता देने के लिए यह उपयोगी है मगर पश्चिमी औद्योगिक और प्रौद्योगिकी संस्कृति को देखते हुए ऐसा सभी जगह संभव नहीं है । हमारे लिए तो हमारे जन की शिक्षा का मतबल यह है कि उनमें किसी भी विचार को संचालित करने की योग्यता पैदा हो, न कि विचार प्रसारित करने की ।

वस्तुओं या संसाधनों के नेट वर्क के अलावा रैमर और इलिच कौशल-विनिमय की योजना भी प्रस्तुत करते है- साथ ही मौटे तौर पर शिक्षा में प्रवेश के लिए 'शिक्षार्थी-एकरूपता' या 'शिक्षार्थी-मिश्रण' या 'पीयर-मैचिंग' को एक ही नाम देते हैं वह है- जन नेट वर्क । कौशल-विनिमय ऐसे केन्द्र हैं, जो कौशल-प्रादर्श या स्किल-माडल तक पहुंच को सुगम बनायेंगे अर्थात् ये ऐसे व्यक्ति होंगे जो कुछ विशिष्ट कौशलों मे दक्षता प्राप्त होंगे । ऐसे कुशल लोग शिक्षा में योगदान कर सकते हैं । इस बात की छूट देते वक्त उनकी योग्यता पर विशेष सावधानी से ध्यान दिया गया है । यह सुझाया गया है कि एक कुशल टाइपिस्ट, टाइपिंग सीखने वाले अपने सहशिक्षार्थी को टाइपिंग के अध्यापक से ज्यादा बेहतर सिखा सकैता है । लेकिन फिर भी वह कुशल टाइपिस्ट टाइप-राइटर जैसी चीज से भी कहीं कम महत्वपूर्ण है । ऐसे में एक विशेष मानसिकता यह बनी है कि रैमर और इलिच स्वयं अपने ही शब्दजाल और योजना-तंत्र के प्रति अतिमोह की घुटन से ग्रस्त है । एक प्रकार से वे एक ऐसा राष्ट्रीय नौकरशाही युक्त व्यावसायिक प्रशिक्षण हमें देने की कोशिश कर रहे हैं, जिसे वे शिक्षा या संस्था का विकल्प मानते हैं । क्या वस्तुओं के बारें में सीखने वाले, कुशल विशेषज्ञ, सह-शिक्षार्थी और शिक्षक अपने-अपने वैविध्य के साथ उस सीखे जाने वाले तत्व से अपने को जब मोड़ लेते हैं, तब वे कम महत्वपूर्ण हो जाते हैं? हम कैसे मान सकते हैं कि अफ्रीका के भूगोल को बिना अफ्रीकी लोगों को सामने रखे, पढ़ाना और बिना टाइपराइटर के टाइपिंग सिखाना एक जैसी बात है?

यह भी बिडम्बना ही है कि वस्तु की सर्वोत्कृष्टता के गीत गाने के बावजूद इलिच और रैमर एक अच्छी बात यह कहते हैं कि स्किल–माडल या सीखने की अन्य वस्तुओं के प्रति सीखने वाले की प्रतिक्रिया निश्चित नहीं हो सकती । मानव प्राणी ही एक मात्र वह संसाधन है, जो अप्रत्याशित प्रत्युत्तरों को अपने अनुकूल बना सकता है या स्वयं को उन उत्तरों के अनुकूल रख सकता है, अर्थात् स्किल–माडल या प्रौद्योगिकी माडल से हम मानवीय–माडल की तरह किसी अप्रत्याशित उत्तर की अपेक्षा कर ही नहीं सकते। वस्तु–माडल तो पहले से ही उत्तर निश्चित करके काम में लाया जाता है । मानवीय–माडल के सामने उत्तर अप्रत्याशित हो सकता है। और जिसके लिए मानव–मस्तिष्क ही तैयार रह सकता है । इलिच और रैमर का तर्क यह है कि स्किल–माडल का जहाँ तक संबंध है, उसमें स्कूल एक बन्द दुकान की तरह चलते हैं, जिसमें व्यक्ति को स्वयं एक स्किल–मॉडल की तरह प्रस्तुत करने की तब तक इजाजत नहीं होती, जब तक कि वह एक उपयुक्त नौकरीशुदा, प्रमाणपत्र प्रतिष्ठासंपन्न या लायसेंस–प्राप्त शिक्षक न हो जाए । उनका यह तर्क थोड़ा जटिल लगता है क्योंकि इससे यह बात निकल कर सामने आती है कि बाहरी व्यक्ति को स्किल–माडल के रूप में स्कूल द्वारा नहीं अपनाया जा सकता । इसका मतलब यह भी है कि बाहरी व्यक्ति चाहे कितने ही अच्छे नमूनों या अपने स्किल–माडलों का प्रतिनिधित्व करें, स्कूल उन्हें सुयोग्य और क्षमतावान शिक्षक की तरह इसलिए स्वीकार नहीं कर सकता कि उनके पास शिक्षक होने का लायसेंस नहीं है । वास्तव में स्कूल का यह बर्ताव आपत्तिजनक है। इस पर बहस हो सकती है। ऐसे कई लोग हैं जो उत्कृष्ट और जबर्दस्त स्किल–माडल बन सकते हैं, भले ही वे निर्धारित प्रक्रिया द्वारा मान्य शिक्षक न हों। इलिच और रैमर स्कूल का निषेध इस रूप में करते हैं कि वहाँ गैर–शिक्षककीय क्षमता का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता अथवा वह एक बन्द दरवाजे वाली दुकान के समान है, जहाँ काम करने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया से गुजरना जरूरी है । इस स्थिति में फिर स्कूल सीखने की मुक्त प्रणाली के रूप में कैसे अपनाये जा सकते हैं? इलिच और रैमर तो वस्तुओं का नेट वर्क या शिक्षण जाल इसीलिये पेश करते हैं कि वहाँ स्कूली नियंत्रण का दायरा टूटता है। इसलिए रॉबिन बैरो की इस बात पर भी आपत्ति उठ सकती है कि जब स्कूल मानवीय व्यवस्था होने के बावजूद एक गैर शिक्षकीय व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता, तो सीखना एक मुक्त प्रक्रिया का रूप कैसे ले सकता है? शिक्षार्थी की स्वतंत्रता और स्वायत्ता का फिर क्या होगा?

एक ओर तो स्कूल अप्रमाणपत्रीकृत शिक्षकों को स्वीकार नहीं करता है दूसरी ओर भावी छात्र हैं जो ऐसे क्षमतारहित या अयोग्य शिक्षकों द्वारा पढ़ाये जाने का जोखिम उठाना नहीं चाहते। यहाँ मुख्य मुद्दा यह है कि कुछ काम ऐसे हैं, जो आन–द–जॉब विशेषज्ञ की देख–रेख में सीखे जा सकते है। फिर भी यह हर चीज सीखने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यवस्था नहीं कही जा सकती । हमें ऐसे अनुमानों से भी बचना होगा कि स्किल–माडल कोई ऐसी चीज है, जो शिक्षक से बिलकुल अलग है । कोई भी आदमी जो चाहे सीख सकता है, जैसे–मोटर चलाना, खाना पकाना या बढ़ईगिरी करना । यह शिक्षण उन लोगों से प्राप्त किया जा सकता है, जो यह काम एक व्यवसाय की तरह करने में लगे हुए हैं, अपना काम सिखाने में सक्षम हैं और इन कार्यों में आवश्यक रुचि भी लेते हैं । वैसे तो यह सच है कि कोई भी इल्म उस इल्म के माहिर व्यक्ति से ही ग्रहण कर लेना चाहिये मगर यहाँ हमें मूलभूत क्षमता और प्रमाणपत्रित क्षमता को

एक दूसरे से मिला कर कोई भ्रम पैदा नहीं करना चाहिये । हम ये कौशल स्कूलों में तो सीख ही नहीं सकते। भले ही यह बात सही हो कि स्कूल का शिक्षक एक व्यावसायिक कारीगर की अपेक्षा उस कार्य का उतना अच्छा स्किल–माडल नहीं बन सकता । यदि इलिच यह मानता है कि हम किसी भी कौशल को स्कूल के बगैर सीख सकते हैं, तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि सर्जरी की यांत्रिक क्रियाएँ, या बांसुरी बजाना, या पढ़ना भी किसी माडल को सामने रख कर किया जा सकता है । इसका एक उदाहरण हमें भारतीय सन्दर्भ में 'एकलव्य' का भी मिलता है । क्या हम गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति को एकलव्य का स्किल–माडल नहीं कह सकते? इलिच यह बात कहता जरूर है, मगर इसके समर्थन में या आम तौर से अप्रिय लगनेवाले अपने सुझावों के पक्ष में वह कोई ठोस और वजनदार तर्कनहीं दे पाता । ऐसी स्थिति में जो इलिच और रैमर के विरोध में स्कूल की सत्ता के पक्षधर हैं, वे क्षमा योग्य हैं ही ।

यह भी तर्कदिया जाता है कि एक बार कोई भी व्यक्ति जब किसी मॉडल का प्रदर्शन या संचालन देख लेता है, तो फिर उसका अभ्यास करके स्वयं ही वह कौशल प्राप्त करना चाहता है। ऐसे अभ्यास के लिए वह साथ काम कर सकने योग्य सहभागी की तलाश में रहता है। इसी उद्देश्य से एक केन्द्रीय एजेन्सी की कल्पना की गई जहाँ समान इच्छा व रुचिवाले लोग एक दूसरे के सम्पर्क का अवसर पा सकें । सीखने वाले हमेशा अपनी रुचि के सहभागियों की खोज में रहते हैं और समान रुचि के सहभागी की यह खोज अखबारी विज्ञापनों से भी की जा सकती है। यहाँ यह आपत्ति उठ सकती है कि ऐसा करने में आखिर नवीनता ही क्या है? ऐसा तो हमेशा ही होता रहा है । लेकिन इसे एकमात्र तरीका बना लेना न केवल दुखदायी होगा, बल्कि एक प्रकार का बंधन ही होगा । साथ ही यह माना जाने लगेगा कि स्कूल का कई कामों में से एक काम यह है कि वह समान विभाग वाले सहभागियों को एक जगह एकत्रित करे । इसके अतिरिक्त एक तर्क यह भी है कि मानव–मस्तिष्क तो समान होते नहीं हैं । उन पर कई अंतरंग और बहिरंग स्थितियों का क्षणिक या स्थायी प्रभाव रहता है । कभी वे क्रांतिकारी विचारों से अनजाने ही टकरा कर उसके अन्दर से गुजरते हैं, तो कभी क्रांति–विरोधी तत्वों के अन्दर से उन्हें गुजरना पड़ता है । ऐसे में समान रुचि के मुताबिक मनुष्य की रचना तथा उसके पोषण और विकास का विचार एक तरह से खतरनाक हो सकता है । इलिच और रैमर न जाने क्यों नेट–वर्क की सम्पूर्ण अवधारणा को समान रुचि के आधार पर चला रहे हैं? उनकी यह बात जरूर मानने लायक है कि व्यक्ति की कुछ विशेष रुचियाँ होती हैं, जिनके बारे में पहले पहल उसे खुद पता नहीं रहता।बाद में पता चलता है जब या तो वह चीजों को स्वयं चलाने लगता है या कुछ साथियों के साथ किसी मॉडल को चलाने में दक्षता प्राप्त करने की कोशिश करता है ।

रैमर ने तीन प्रकार के लोगों को खोजा है जिनके आपसी फर्क के अपने–अपने मुकाम हैं– (1) शैक्षिक स्रोत या संसाधन से जुड़े शिक्षाविद् और प्रशासक, (2) ऐसे शिक्षाशास्त्री जो पृथक से अपना शैक्षिक कार्यक्रम तैयार कर सकते हैं, शैक्षिक कठिनाईयों के कारणों की खोज कर सकते हैं और उनको दूर करने के उपाय बता सकते हैं, (3) शिक्षण की प्रत्येक शाखा का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति ।

एक तरफ तो रैमर और इलिच अपने कम्प्यूटर प्रेम की बात करते हैं तो दूसरी तरफ वे रुचियों के आधार पर व्यक्ति के अपने भेदों को गिना रहे हैं जबकि कम्प्यूटर और व्यक्ति के आपसी भेद एक दूसरे से अलग और विरोधी बाते हैं ।

ऐसा लगता है कि इन तर्कों में उलझ कर या तो हमें यहाँ हर चीज मिल रही है या कुछ भी नहीं मिल रहा है । हर चीज मिलने का मतलब है– वह अधकचरा और भौंडा संख्याशास्त्र, जिससे ज्ञान और अनुभव के समूचे क्षेत्र को अपने आंकड़ों में उलझा रखा है । कुछ भी न मिलने का मतलब यह है कि यह जरूरी नहीं कि कोई भी आदमी किसी भी चीज को सीख ले। आज तक ऐसा तो कोई आदमी नहीं मिला, जो यह कह सके कि यही एक मात्र ऐसी आदर्श बात है, जिसे सीखना ही चाहिये । अस्कूलवादियों का स्पष्ट रूप से यह सोच है कि ये तमाम विवाद और असमंजसपूर्ण आकस्मिकताएं इसलिए फैलाई जाती हैं कि व्यक्ति को यह पता चल सके कि वह सीखने के लिए अपने आप में स्वतंत्र है और वह ऐसी–सभी बातें अपने आप सीख सकता है । मगर इलिच–रैमर ने यह कहते वक्त इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इसके परिणाम क्या होंगे ? उन्होंने व्यक्ति को लेकर या पूरे समुदाय या समाज को लेकर इस तथ्य पर ध्यान ही नहीं दिया कि कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो ज्यादा कुछ नहीं सीखना चाहते। यह इसलिए कि वे नहीं सोचते कि जैसा वे सीखेंगे वैसा उनके जीवन में कभी घटेगा या उनके जीवन के लिए वह जरूरी होगा । इलिच–रैमर की बातों से अभी तक यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि नेट वर्क और शिक्षण–जाल से सीखने के प्रति जो काल्पनिक उत्साह है, वह कम नहीं है जबकि स्कूल सीखने के उत्साह को बाँध कर रख देते हैं । अभी यह भविष्यवाणी करना भी असंभव सा लगता है, कि स्कूल के इलिच–रैमर द्वारा बताये गये विकल्प सीखने वाले की स्वतंत्र प्रकृति, सीखने की मात्रा, समानता और न्याय के व्यवहार पर किस प्रकार का प्रभाव डालेंगे? रैमर तो यह कसम खा–खा कर कहना चाहता है कि उसके विकल्प शिक्षा को उस दुनिया की तरफ ले जाने वाले हैं, जो मूल्यों पर आधारित हैं । अगर इस बात पर गंभीरता से विचार किया जाए तो लगता है कि इससे तो बहुत बड़ी तादाद में लोगों की रुचियों और क्षमताओं में भेद ही भेद होंगे । इससे सामुदायिक भावना और अनुभवों को परस्पर बाँटने की संस्कृति का विघटन होगा । जो समाज अपनी भावनाओं और अनुभवों के परस्पर आदान–प्रदान में नहीं जियेगा, वह रुचियों और क्षमताओं के भेदों में किस प्रकार जी सकेगा, भले ही यह सच हो कि रुचियां और क्षमताएं कभी एक जैसी नहीं होती? इलिच और रैमर के विकल्प भी तो इस जगह मौन हैं कि यदि ऐसा है, तो क्या वे रुचि और क्षमता का भेद पूरे समाज की भावना के ह्रास की कीमत पर चाहते हैं? क्या उनके विकास में ऐसा नहीं हो सकता कि रुचियों और क्षमताओं के भेद भी बने रहें और समाज–बोध भी जीवित रहे ?

व्हाउचर प्रणाली : अस्कूलीकरण का एक और विकल्प–

रॉबिन बैरो **व्हाउचर प्रणाली** को एक ऐसी शैक्षिक आर्थिक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करता है जैसे स्कूल का विकल्प एक तयशुदा कीमत पर किसी विशेष कोर्स के रूप में खरीदा गया हो । यदि एक गरीब बालक स्कूल के बजाय किसी अन्य कोर्स को चुनता है और यह कोर्स वह किसी विशेषज्ञ या शिक्षक से स्कूल के बिना ही प्राप्त करना चाहता है, तो उसे एक शिक्षण व्हाउचर मिल जाएगा । यह राशि उसे सरकारी खजाना देगा और उस व्हाउचर को लेकर वह अपनी मरजी का कोई भी कोर्स खरीद सकेगा । कहने को तो यह बात बड़ी आसान लगती है, मगर अस्कूलवादी यह साबित नहीं कर पा रहे हैं कि उनके बताये गये विकल्पों पर धन लगाना बहुत आसान होगा । वे इतना जरूर मानते हैं कि उनके प्रस्तावों के अनुसार रिश्तों पर पैसा

लगाना आज की केन्द्रीय व्यवस्था की अपेक्षा अधिक न्यायसंगत है और इसके लिए उन्होंने जो तरीका अपनाया है, वह है– व्हाउचर प्रणाली ।

व्हाउचर प्रणाली के कई प्रयोग हो चुके हैं और इसमें कुछ सफलताएं भी मिली हैं । यह विचार भले ही अधकचरा सा है मगर इलिच–रैमर इसे एक व्यावहारिक विकल्प के रूप में पेश करते हैं । इसका एक उदाहरण कैलीफोर्निया का है जहां पालकों को यह स्वतंत्रता दी गई थी। कि वे स्कूल और कोर्स के बीच किसी एक का चुनाव कर लें । सामान्य रूप से उन्हें उतनी कीमत के व्हाउचर दे दिये गये थे, जितनी कोर्स की कीमत रहती थी । इनमें से कुछ क्षति–पूर्ति व्हाउचर रहते थे, जो अधिक महंगे थे । ये व्हाउचर गरीबों अथवा सुविधा–वंचितों के लिए रहते थे । इन व्हाउचरों का मकसद यह था कि गरीबों या वंचितों के बच्चों को अच्छे स्कूल में भरती करने के लिए जहां वे उत्सुक हों या उनके पालक जो कोर्स पसंद करें, उसे खरीद सकें । इसका तात्पर्य यह है कि स्कूल अगर भरती करता है तो एक पिछड़े और वंचित बालक की शिक्षा में उसे जो अतिरिक्त प्रयत्न करना होगा या बालक स्कूल के बजाय जो कोर्स चुनेगा, उसके लिए जो खर्च आयेगा, उसकी पूर्ति व्हाउचर की कीमत से की जा सके । इस प्रकार बच्चों को दोनों ही व्यवस्थाओं में यह गारंटी रहेगी कि वह जो भी प्रतियोगिता चुनेगा, उसमें धन का अभाव बाधक नहीं होगा ।

रोड्ज बॉयसन इस व्हाउचर प्रणाली का जनक है । बॉयसन का मानना है कि व्हाउचर प्रणाली ब्रिटेन में चलनेवाली किसी भी ऐसी योजना से बेहतर है जो आर्थिक आधार पर गरीबों व सम्पन्नों के बच्चों में भेद का दावा तो नहीं करती मगर फिर भी वहाँ सरकारी सहायताओं के बावजूद परस्पर भेद बने हुए हैं । व्हाउचर प्रणाली में बॉयसन को ऐसे शत–प्रतिशत प्रमाण मिले हैं जिनमें ऐसे भी माँ–बाप हैं, जिनके दो या दो से अधिक बच्चे हैं और जिन्होंने अपने बच्चों के लिए स्कूल के बजाय व्हाउचरों से कोर्स खरीदे हैं । ये माँ–बाप और नौकरशाह तक यह मानने लगे हैं कि उनके बच्चों की पृथक–पृथक योग्यता और स्वभाव है । इसलिए स्कूल बजाय विभिन्न कोर्स के बच्चों की जरूरतों को ज्यादा अच्छे ढंग से पूरा कर सकते हैं । बॉयसन का यहां यह तर्क है कि व्हाउचर प्रणाली के व्यापक प्रसार से स्कूल अपने आप ही मरने लगेंगे एवं जो अलोकप्रिय एवं घटिया स्कूल हैं, वे जीवित नहीं रह सकेंगे । इसके विपरीत जो लोकप्रिय और अच्छे स्कूल है, उन्हें व्हाउचर कोर्स से प्रतियोगिता करने के लिए अपने को स्वयं ही जिन्दा रखना होगा ।

इलिच और रैमर इस व्यवस्था को एक स्वतंत्र और स्वायत्त व्यवस्था मानते हैं और यह भी सच है कि इससे बच्चा मनचाहा कोर्स खरीद सकता है। मगर इससे हर गरीब का विकास हो सकता है, और बच्चे के मार्ग में कभी कोई आर्थिक बाधा पैदा नहीं होगी, इसकी गारंटी नहीं देता।इससे यह भी सिद्ध होता है कि अस्कूलवादी स्कूल का विकल्प आर्थिक आधार में ही ढूंढ पा रहे हैं, और उनके ये विकल्प, फिर भी स्कूल का पूरा विकल्प नहीं बन पा रहे हैं ।

अध्याय–4

अनिवार्य अपशिक्षा और मिनि स्कूलः पॉल गुडमन

अच्छी शिक्षा का तात्पर्य अच्छा सामाजिक स्तर या अच्छा वेतन कमाने योग्य बन जाना नहीं है बल्कि अच्छी शिक्षा का लक्ष्य है, बेहतर भविष्य की तैयारी करना, और उस तैयारी के अंग होने चाहिये– समाजसेवा की बहुआयामी भावना, अनेक प्रकार के काम धंधों के योग्य बनने की संभावना और जीवन में उन सबकी वास्तविक उपयोगिता ।

शिक्षा और गुडमेन

पॉल गुडमन ने स्कूल को **"अनिवार्य–कुशिक्षा" बुरी शिक्षा या अपशिक्षा** का माध्यम कहा है। अस्कूलवादियों में इलिच की अपेक्षा गुडमन अधिक स्पष्ट है । इलिच स्कूल को लेकर एक समूचे सोच और दर्शन के विरूद्ध नई मान्यता रचता है मगर वह जो विकल्प देता है, वे बहुत व्यावहारिक, स्पष्ट और विश्वसनीय नहीं लगते । पॉल गुडमन की पुस्तक **"ग्रोइंग अप एब्सर्ड"** वैसे तो एक प्रकार का सामाजिक विवेचन है किन्तु **"फ्रीडम एंड लर्निंग"** वाले अध्याय में वह हमारे सामाजिक सोच के बदलाव के लिए कुछ शैक्षिक उपाय सुझाता है, जो समग्र और सतत् रूप से अपनाए जा सकते हैं । गुडमन के दो विरोधाभास हैं : एक तो वह हमें उत्तेजित या उद्वेलित करने वाले तर्क देता है और उनके कारण बताता है। दूसरे उसमें एक प्रकार का निश्छल निश्चय है, जिसे मानने को मन करता है । जहाँ वह मानने योग्य बात कहता है, वहीं उसके कहने का ढंग भी आकर्षक है । वह शब्द जाल भी ऐसा बुनता है कि खराब से खराब तकनीक भी बेहतर नजर आने लगती है । उसकी शैली एक प्रकार से किस्सागोई की शैली है । ये किस्से वह अपने अनुभवों, परिचितों और परिवेश पर्यावरण में मिलने वाले लोगों से एकत्रित करता है । वह अनके रूपक और समानताएँ, तुलनाएं आदि रचता है जिन पर सवाल पैदा होते हैं ।

गुडमन का कहना है कि अच्छी या समुचित शिक्षा जैसी चीज इस दुनिया में है ही नहीं क्योंकि हर बच्चा अपने ढंग से अपनी दुनिया के साथ बड़ा होता है । अच्छी शिक्षा का तात्पर्य अच्छा सामाजिक स्तर या अच्छा वेतन कमाने योग्य बन जाना नहीं है बल्कि अच्छी शिक्षा का लक्ष्य है बेहतर भविष्य की तैयारी करना और उस तैयारी के अंग होना चाहिये: समाज सेवा की बहुआयामी भावना, अनेक प्रकार के काम

धन्धों के योग्य बनने की संभावना और जीवन में उन सबकी वास्तविक उपयोगिता।

गुडमन मानता है कि शिक्षा से आज ऐसे संदेशों की जरूरत है जो पूरे समाज का पुनः उन्मुखीकरण कर सकें । गुडमन जानकर मजदूरों से अपनी बातचीत के जरिए एक तथ्य यह देता है कि आज का श्रमिक–समाज अपने उत्पीड़न से मुक्त होकर, यदि बेहतर भविष्य की ओर उठाया जा सके, तो वह शिक्षा काम की है। गुडमन की कुछ बातें बड़ी आश्चर्यजनक लगती हैं। जब वह मजदूरों की रुचि के हवाले से कहता है कि आज के आठ बरस की शिक्षा का सबसे उपयोगी तत्व वह होगा, जो एक बारह बरस के सामान्य बच्चे को चार महीने में आवश्यक शिक्षा दे सके । इस बात को गुड़मन बार–बार जोर देकर कहता है। मगर इस तर्क का सबसे कमजोर पक्ष यह है कि यह कैसे हो ? और क्या प्रयोग करके ऐसा सिद्ध किया गया है? वह इस पर अपना कोई सिद्धांत नहीं देता ।

"ग्रोइंग अप एबसर्ड" के "फ्रीडम एंड लर्निंग" अध्याय में वह जेम्स कोर्नेट के बीस साल तक किए गए प्रयोग बार–बार बताता है लेकिन स्वयं गुडसन के विचार स्थिर नहीं है । वह कभी कोर्नेट को मानता है, तो कभी उसे अनुपयोगी कह कर निरस्त कर देता है । पॉल गुडमन शिक्षा–वृत्ति और ज्ञान–प्राप्ति को एक कर्मकांड की तरह करने पर आपत्ति करता है । यह बात वह स्वयं कुछ स्कूलों के अवलोकन के बाद कहता है । गुडमन कहता है कि स्कूल की उपयोगिता मात्र इतनी है कि वह **"घर के वातावरण का एक विकल्प हैं"** । गुडमन यह भी मानता है कि सर्वश्रेष्ठ युवा लोग हमेशा शक्तिशाली या पदवान लोगों का विरोध कर सकते हैं । युवा शक्ति को वह पद या अधिनायक शक्ति की प्रतिशक्ति मानता हैं । "सर्वश्रेष्ठ युवा" कौन है ? और वे क्या करेंगे ? इस बारे में गुडमन बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है । वह मानता है कि 'सर्वश्रेष्ठ युवा' स्वेच्छा से आचरण का चुनाव करके सर्वोत्तम युक्तियुक्त ढंग से विकसित होता है ।

गुडमन 'वाचिक दर्शन' और 'वास्तविक दर्शन' के बीच के विलोम या विरोधाभास प्रस्तुत करता है लेकिन 'वाचिक दर्शन' और 'वास्तविक दर्शन' का असली तात्पर्य क्या है ? यह स्पष्ट नहीं करता। इस कारण शाब्दिक रूप से गुडमन के कुछ दावे बड़े विचित्र लगते हैं। वह अधिकार, पद और स्कूलिंग की बात जब फ्रीडम एंग लर्निंग में करता है, तो इनके कुछ लाक्षणिक अर्थ भले ही निकलें, मगर केवल शब्द के आकर्षण की सीमा तक ही सीमित रहते हैं । 'स्कूलिंग' को वह एक जगह 'प्रायर–प्रोसेसिंग' या 'पूर्व प्रक्रिया' कहता है, मगर अपनी पुस्तक "अनिवार्य–अपशिक्षा" में "स्कूलिंग" या "पूर्व प्रक्रिया" को भी "यातना शिविर" का नाम देकर निरस्त कर देता है । गुडमन भले ही बहुत विद्वता की बात न करे, लेकिन वह बौद्धिकता–विरोधी नहीं है और न ही आकादमिकता का विरोधी है । गुडमन अपनी पुस्तक में एक पारंपरिक टिप्पणी भी देता है और कहता है कि मस्तिष्क का पोषण भी किया जा सकता है। उसके मत से पोषित मस्तिष्क वह होता है, जो अपने शास्त्रों और शास्त्रज्ञों का ज्ञान रखता है और अपनी कला, साहित्य, संगीत, संस्कृति आदि की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को जानता है । चाहे कोई पारंपरिक मूल्यों की इन बातों को माने या न माने लेकिन गुडमन का कहना है कि मन को संस्कारित करने के लिए ये तत्व बहुत बहुत बड़ी भूमिका अदा करते हैं । गुडमन प्रचलित लोकप्रिय संस्कृति का विरोध करता है । वह कहता है कि आजकल ऊंबड़–खाबड़पन के प्रति बहुत बाहरी मोह

है । यह मोह भी ऐसा है जिसका कोई बौद्धिक उद्देश्य नहीं है । वह कालेज और विश्वविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली पूर्वाभासों पर केन्द्रित शिक्षा का भी विरोधी है । जिसका भविष्य निश्चित नही या जिसका कोई निश्चित केन्द्रीय लक्ष्य नहीं, उसकी शिक्षा रुचि-रहित होकर बच्चों को सीखने के लिए बाध्य करती है। वह क्रांतिकारी विलियम मॉरिस की बात से असहमत है और कहता है कि रोजमर्रा की शिक्षा को संस्कृति-रहित शिक्षा के रूप में स्वीकारने की मारिस की बात समझ में नहीं आती । वह यह नहीं मानता है कि बहुसंख्यक जनता की रुचि संस्कृति-रहित और रोजमर्रा की शिक्षा में होती है । दिन-प्रतिदिन की शिक्षा से भी संस्कृति के तत्वों को अलग रख कर शिक्षा नहीं हो सकती है। गुडमन तथाकथित सांस्कृतिक रुचि का विरोधी है वह वास्तविक सांस्कृतिक रुचि के मूल्य को मानता है, चाहे ऐसी रुचिवाले लोग थोड़े ही क्यों न हों।

गुडमन का सिद्धान्त अगर स्वीकार लिया जाए तो उसकी शिक्षा का स्वरूप हमें समाज में उजागर होता दिखाई देगा । यह समाज विविधता से भरा हुआ है । यहाँ कई तरह के अलग-अलग हुनर वाले लोग हैं और वे सब मिलकर एक अच्छी बुनावट वाला समाज रचते हैं। उदाहरण के लिए समाज में कोई किसान है, कोई इंजीनियर, कोई सफाई कर्मचारी, और कोई भाषा-शिक्षक तो कोई नल लगाने वाला है । कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें कई हुनरों में महारत होती है । कुछ सिर्फ अपना ही हुनर जानते हैं दूसरा हुनर बिल्कुल नहीं जानते । इन लोगों में समानता बहुत कम होती है क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि तो अलग-अलग हुनर की है; वे फिर भी एक गुँथा हुआ समाज रचते हैं । इस प्रकार शायद गुडमन भी प्लेटो की तरह शिक्षा या ज्ञान को व्यवसाय का ही एक अंग मानता है । मगर यहाँ गुडमन से सहमत नहीं हुआ जा सकता। अकादमिकता यदि केवल हुनर होती, और शिक्षा केवल व्यवसाय होती तो यह बात स्वीकार करने योग्य हो सकती थी । लेकिन सम्पूर्ण अकादमिकता को मात्र धन लगाने, पत्रकारिता करने या संस्कृत सीखने से जोड़ कर तो नहीं देखा जा सकता ।

गुडमन भी हिल्डा टाबार की ही भांति छद्म या प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को मानता है । उसका तर्क यह है कि सामाजिकता और अनेक सामाजिक मूल्य पढ़ाये नहीं जाते, वे शिक्षा में अन्तर्निहित होते हैं । गुडमन "शिक्षित" का अर्थ एक ऐसे आदमी के रूप में बताता है, जैसे शिक्षित हो जाना कोई आरोपग्रस्त या अपराधी हो जाना है । वैसे गुडमन का कहना है कि शिक्षा से ऐसी अवधारणा इसलिए बनती है कि कुछ लोग ऐसे हैं, जो जातिवादी-उच्चवर्ग के हैं या कुछ लोग शिक्षा के लायक ही नहीं है । यदि ऐसा मान लिया गया तो शिक्षा केवल कुछ सुविधा भोगियों की सुविधा बनकर रह जाएगी । कुछ लोगों का गुडमन के विरुद्ध यह मानना है कि यह शक्ति सभी कैसे अर्जित कर सकते हैं। जिस प्रकार कुछ लोग शिक्षा हासिल कर सकते हैं, तो कुछ ऐसे तो होंगे ही जो इसके लिए योग्य नहीं हैं । मगर गुडमन कहता है कि इससे शिक्षा का एक नया अधिनायकवाद जन्म लेगा । यदि शिक्षा अकादमिक-शक्ति की वृद्धि का स्रोत है, तो वह उन सबकी शक्ति बनने का काम क्यों न करें; जो उच्च वर्ग का नहीं है, मगर शिक्षा प्राप्त करने योग्य हैं ।

पॉल गुडमन और उनकी पुस्तक-"ग्रोइंग अप एब्सर्ड"

"ग्रोईंग अप एब्सर्ड" एक प्रकार से पॉल-गुडमन का ऐसा दर्शन प्रस्तुत करता है, जो भारतीय दर्शन के एक तत्व से मेल खाता है । भारत की सन्यास परंपरा में संसार निरर्थक है। यहाँ सब कुछ निरर्थक है। वैसे ही पॉल गुडमन भी समाज को निरर्थक, रिक्त और उद्देश्यविहीन देखता है । लेकिन गुडमन का दर्शन, साधना या ज्ञान-परंपरा का दर्शन न होकर इस शून्य को आधुनिक विज्ञापन-संस्कृति, भौतिकवाद और थोथे स्टेटस-प्रतीक से जुड़े लोगों की महत्वकांक्षा में देखता है । इस संस्कृति ने एक प्रकार से मनुष्य को मनुष्य से काट दिया है, अलग-अलग कर दिया है । गुडमन मनुष्य की इच्छाओं की परिपूर्णता और तृप्ति को चार कार्यात्मक सन्दर्भों में देखता है :

(क) व्यक्ति की भूमिका,

(ख) प्रक्रिया,

(ग) प्रतिष्ठा,

(घ) लाभ।

गुडमन अन्य क्रांतिकारी चिंतकों की तरह ज्ञान के परस्पर सह-संबंधों पर बहुत जोर नहीं देता । उसकी धारणा है कि संस्कृति चूंकि विविधतामूलक होती है इसलिए ज्ञान और उससे जुड़े मूल्य भी अलग-अलग हो सकते हैं । जरूरी नहीं कि जो बात हमें ठीक लगे, वह दूसरे को भी वैसी ही लगे । साथ ही गुडमन राइट मिल्स के इस तर्क को भी पूरी तरह नहीं स्वीकारता कि मनुष्य होने की परिभाषा यही है कि उसे स्थान-स्थान, संस्कृति-संस्कृति, परंपरा-परंपरा में अलग-अलग होना चाहिए ताकि अंततः वह अपने उस अलगपन की पहचान कायम कर एक समाज की ऐतिहासिक स्थिति और विकास के अनुरूप अपने को दिखा सके । इसका मतलब यह हुआ कि समाज में ही आदमी की एक जैसी पहचान नहीं होती । यदि कोई खेती की परंपरा में पहचान कायम करता है, तो वह अपनी ऐतिहासिक समाज रचना में किसान है यदि कोई मछुआरा है तो वह मछुआरा है, कारीगर है तो कारीगर है । इसे हम भारतीय जाति-परंपरा के वर्गीकरण में शायद आसानी से देख सकते हैं क्योंकि अगर कोई व्यक्ति कभी दरजी, बढ़ई या लोहार है, तो ऐतिहासिक परंपरा में वह उसका निर्वाह करते-करते एक जाति में बदल गया है। नृतत्व-शास्त्र इस प्रकार का ऐतिहासिक विकासवाद स्वीकारता है । गुडमन भी इसकी विविधता में मनुष्य की पृथकता को मानता है मगर फिर भी वह पारस्परिक सम्बद्धता का सूत्र निकालने के लिए सहमत नहीं है ।

गुडमन एक और विरोधाभासी बात कहता है- उसकी राय है कि कई बार विकास के दौर में समाज में कई बातें घर कर जाती हैं और वे ही [illegible] की पहचान बन जाती हैं । हम यह कहने लगते हैं कि यह बात तो इस व्यक्ति या समाज की ज[illegible] जैसे यूनानियों के बारे में यह कहना कि "गणित" तो उनके मूल में है और वह उनकी जीवन प्रणाली है या मेहनत जापानी समाज की जीवन प्रणाली है, या धर्म भारतीय समाज के मूल में है, आदि । इस प्रकार मनुष्य के अन्दर निहित स्वभाव को उसकी पहचान मानता है । यद्यपि वह स्वभाव विकास की प्रक्रिया में होता है तथा पूर्ण रूप से उसका परिष्कार नहीं होता है तथापि उसे नितांत कोरा या खाली नहीं कहा जा सकता ।

गुडमन मनुष्य के स्वभाव, उसकी प्रकृति एवं उसके परिष्कार को लेकर समकालीन समाज से उसका विरोधाभास देखता है । वह कहता है कि आज पश्चिमी समाज में पुरुषोचित व्यवसाय ही नहीं बचे हैं । अब ऐसे मूल्यवान और नाजुक किस्म के व्यवसाय नहीं रहे हैं जिन्हें मनुष्य शर्मरहित होकर कर सके । गुडमन उदाहरण देता है कि मान लीजिए आप किसी उद्योग में एक क्लर्क हैं। आपकी वहाँ एक जगह है मगर दूसरे आपके बारे में यह भी कह सकते हैं कि आप वहाँ क्या हैं–महज एक उद्योग द्वारा नियंत्रित ऐसे आदमी के सेवक कि जिसे कभी भी निकाला जा सकता है । आप भी डर से परिचित हैं, मगर आप अपने बारे में एक मिथक या कपोलकथा रच लेते हैं– हमेशा यह जताने का प्रयास करते हैं कि आपका काम अत्यंत नाजुक और महत्वपूर्ण है । साथ ही यह कि आपके बिना काम नहीं चल सकता है। आप हमेशा चिंतित और निराशा में जीते हुए यह डरा हुआ मिथक रचकर जीते हैं । यह एक प्रकार से अपने ही प्रति स्वयं अपना षड़्यंत्र है । हां, गुडमन इस षड़यंत्र में विश्वास नहीं करता। इसलिए उसके समाज के प्रति विचार अन्य क्रांतिकारियों से मेल नहीं खाते । कई बार ऐसा लगता है कि हम कहीं नहीं हैं । हमारा कोई अस्तित्व नहीं हैं और हम हैं भी तो वहाँ, जहाँ कुछ मुट्ठीभर लोग हमें रखना चाहते हैं तथा हम उस जगह इसलिए हैं कि हममें से कोई यह नहीं जानता या पूछता कि वह वहाँ क्यों है? इस प्रकार समाज एक ऐसी चीज है, जो अपने ही विरोधों के अन्दर बेहोश रखती है । गुडमन का कहना है कि **समाज के विरोधों को पहचानने की ताकत शिक्षा से पैदा होती है ।** समाज कभी हमारे सोच को उदार बना देता है, तो कभी संकीर्ण । हम जानते हैं कि एक अखबार के नियंत्रण के सूत्र उसके मालिक के हाथ में रहते हैं । इस कारण वह सूचना के मामले में शोषण करता है। मगर ऐसा नहीं है कि उसी के अखबार से, उसी के लेख से सूचनाएँ निकल कर आती हैं । एक तरफ समाज भोगवादी संस्कृति का प्रदर्शन करता है तो दूसरी ओर शोषण की बात करता है। इसलिए समाज में अपराधग्रस्तता आ जाती है । मगर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा अस्तित्व 'अपराध–परिवेश' की उपज है या शोषण की उपज है । दरअसल बात यह है कि पुरुषोचित काम का अभाव भी अपराध का कारण है और इस अभाव के कारण कभी–कभी अपराध भी जायज लगते है ।

गुडमन शहरी समाज की भयावहता का दुश्मन है । इस मामले में गुडमन रूसो की तरह पुराणपंथो या नास्टल्जिक है । वह जब मनुष्य के स्वभाव या प्रकृति की बात करता है, तो उस सहजता की ओर इशारा करता है, जो उद्योग–युग के पूर्व की सहजता थी । वह कहता है कि उद्योग ने हमें छद्म प्रौद्योगिकी दी है । उसने उद्योग देकर पारिवारिक–मेलजोल, अपनी देशज, ग्राम्य–भावना, पड़ोसीपन की परंपरा और खेलने–कूदने की जगह सब कुछ हड़प ली है । इस प्रकार असली पर्यावरण या वास्तविक परिवेश को तो उद्योग मे डँस लिया है । इस कारण आज हमारा पर्यावरण या परिवेश अमानवीय हो उठा है । इसी की वजह से हमारी शिक्षा में "प्रच्छन्न पाठ्यक्रम या हिडन करीम्यूलम" जैसी अवधारणा का जन्म हुआ है । वह कहता है हर रोज, हर क्षण हम कुछ न कुछ सीखते हैं और बगैर यह महसूस किये कि हम सीख रहे हैं । आज तकनालाजी ने हमें भौतिक साधनों से सम्पन्न कर दिया है, मगर बहुत सी बातें तकनालाजी ने हमें नहीं बताई, तो भी हमने सीख ली हैं । हमारा टी. वी. खराब होने पर हम मेकेनिक ही बुलाते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि हम उस ठीक नहीं कर सकते । इससे कई संकट पैदा हो गए । हमारा बेडरूम–संकट

पैदा हुआ । हमने अपने व्यक्तिगत संपर्क तोड़ लिये । एक पकार से हम सांस्कृतिक रूप से स्वयं के प्रति एवं समाज के प्रति अप्रासंगिक हो गए हैं । एक प्रकार के अलगाव के भाव ने हमें डँस लिया है। इस प्रकार हमारे विकास का चरम बिन्दु अपने आप में व्यर्थ हो जाता है, जो सीधा शिक्षा की जड़ों में नहीं है । फिर भी इस निरर्थकता को समाप्त करने के तत्व शिक्षा में ही निहित हैं। इसलिए शिक्षा की प्रकृति व प्रक्रिया में बदलाव आवश्यक है ।

प्रौद्योगिकी ने शिक्षा में वस्तुनिष्ठता देकर हमें यह बता दिया है कि बहुविकल्प प्रश्नों से हम सही उत्तर अधिक सही ढंग से ढूंढ लेते हैं । नियोजित शिक्षण से भी वस्तुनिष्ठता आती है। मगर समाज का भावनात्मक विकास तो सर्जनात्मक व्यक्तियों से ही होगा । इसलिए शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह वस्तुनिष्ठ तो हो, साथ ही सर्जनात्मक भी हो । वस्तुनिष्ठता से अवसर पैदा हो सकते हैं, मगर आस्थाएँ और सेवाएँ अपना पर्यावर खो बैठती हैं । इसलिए गुडमन की दृष्टि में यह समाज एक प्रकार से "हारर्स" या 'विकरालताओं" का समाज है । इसलिए या तो वे पर्यावरण से समझौता कर लेते हैं या उसमें अपने को पृथक करके जीने पर मजबूर होते हैं इसलिए गतिशील विचार शिक्षा में अपनाये तो अवश्य जाना चाहिए। वे उन बेहूदा परंपराओं के लेख हैं, जैसे परीक्षा डिप्लोमा उपाधि आदि । हो सकता है, इनसे आर्थिक उपलब्धियाँ होती हों मगर ये उपलब्धियाँ अपने ही अलगाव की कीमत पर विलियम मारिस के यूरोपियन समाजवाद में ऐसी संस्कृति से व्यवसायी समाज तो बन जाएगा मगर एक आत्मप्रेरित शिल्पी या शिल्पकार नहीं बन सकेगा ।

गुडमन और अनिवार्य अपशिक्षा :

गुडमन लोक–शिक्षण–प्रणाली या वर्तमान औपचारिक शिक्षा–प्रणाली को एक प्रकार की अनिवार्य अपशिक्षा या कुशिक्षा का प्रतीक खराब से खराब शिक्षा देकर भी स्कूल–शिक्षा अधिक व्यापक क्यों है? इसका जबाव गुडमन यह देता है कि स्कूल समाज में एक प्रकार से अंधविश्वास की सीमा तक अपना लिया गया है । स्कूल दावा करता है कि वह कुछ निर्दिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बना है, जैसे –

(1) स्कूल के जरिए इस जटिल दुनिया से जूझने की तैयारी करना ।

(2) बेरोजगारों के लिए रोजगार और समान अवसरों का स्वप्न जाग्रत करना ।

(3) सर्जनात्मकता, व्यवसाय का काम, सामाजिक कार्य, मानसिक स्वास्थ्य और वास्तविक साक्षरता के लिए पथ–प्रदर्शक का काम करना ।

गुडमन औपचारिक शिक्षा के इस स्वरूप पर आपत्ति करता है । सर्वप्रथम तो वह स्कूल द्वारा किए जाने वाले उक्त दावों को ही अस्वीकार करता है । वह मानता है ये कि अपने आप में झूठे हैं क्योंकि स्कूल किसी भी स्तर पर जाकर इन उद्देश्यों को उपलब्ध नहीं कराता है । दूसरा इन उद्देश्यों की उपलब्धि की निरर्थक कोशिश में वह अपने ज्ञान–केन्द्र की छवि भी गँवा बैठता है। तीसरा तर्कगुडमन का यह है कि उक्त उद्देश्यों की स्कूलों के लिए जरूरत ही नही है क्योंकि शिक्षा तो सत्य, सौन्दर्य, ज्ञान और संस्कृति का अन्वेषण है; उनकी साधना है । चौथा तर्क यह है कि स्कूल इन मूल्यों के सहज–विकास में तो एकदम असफल हुआ है और प्रेम एवं सौन्दर्य जैसे संवेगात्मक मूल्य भी स्कूल उपलब्ध नहीं करवाता है । इनके बदले वे कतिपय सामाजिक

मान्यताओं को पकड़ कर बैठने और राष्ट्रीय आवश्यकताओं के जड़ीकरण को ही सिखाते हैं। गुडमन कहता है कि स्कूल मध्यवर्गीय मूल्यों को अपनाने की शिक्षा तो दे देता है, लेकिन इससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं के प्रति गुमराह हो जाता है । इस कारण उनका विकास नहीं कर पाता । इसका अर्थ यह है कि स्कूल **मेनफ्रेड-सिंड्रोम** के अंतर्गत एक लादी गई व्यवस्था की जड़ता को मजबूर या डरे हुए व्यक्ति पर लाद देता है ।

गुडमन इसका एक परिणाम तो स्कूल से भाषा सीखने वालों में देखता है, जो शब्दों की ऊर्जा और तेजी के बजाए शब्द का बोझ भर ढोना ही भाषा-शिक्षा मानते हैं । स्कूल ने शिक्षा में माध्यम की भाषा का एक ऐसा शब्द-वैभव रचा है, जिसने भाषा की कृत्रिमता देकर भाषा से उसकी असली शक्ति और प्रभाव समाप्त कर दिया है । इसके परिणामस्वरूप भाषा की अपनी विशेषता समाप्त हो गई है और फौजी आदेश या कॉशन की तरह एक जैसी स्थिति हो गई है। इस प्रकार शिक्षण मशीन, मीडिया और स्कूली-भाषा-शिक्षण ने शब्दों की मूलभूत शक्ति को ही कुचल डाला है ।

विज्ञान-शिक्षण भी जरूरत पर आधारित बना दिया गया है । जरूरत आधारित विज्ञान-शिक्षण लाभों का लालच पैदा करता है, जरूरतों का विस्फोट करता है परन्तु जरूरतों पर नियंत्रण का विज्ञान नहीं सिखाता है । इसलिए विज्ञान की शिक्षा अर्थात् जानकारी और लाभों की एक पार्सल। गुडमन खोज-प्रणाली को प्रत्येक विषय में लागू देखना चाहता है ताकि बच्चा स्वयं की खोज और स्वयं के परिणामों से अपने अन्दर ऐसा आत्मविश्वास पैदा कर ले कि वह हर चीज-स्कूल, अध्यापक या स्थापित व्यवस्था से ही नहीं सीखता है बल्कि वह स्वयं भी कुछ करके, खोज से, प्रयोग से, तर्क से, रचना से, संवाद से बहुत कुछ सीख सकता है। गुडमन शिक्षण-तकनीकों की समानता पर घोर आपत्ति करता है। विविध प्रणालियों व तकनीकों से रोचकता बढ़ाकर भी समान स्तर उपलब्ध किया जा सकता है । यहाँ आकर गुडमन अस्कूलवादी इलिच या रैमर की अपेक्षा जॉन डिवी और ए.एस. नील के काफी करीब नजर आता है । गुडमन की मान्यता है कि स्कूल अनिवार्य होने की बजाय स्वैच्छिक होना चाहिये क्योंकि स्वतंत्र व्यक्तिवाद के विकास में जब तक अन्तप्रेरणा नहीं होती, तब तक कोई शिक्षा कारगर नहीं होती है । गुडमन कहता है कि शिक्षा इस दुनिया को बदलने का माध्यम है और दुनिया सतत् बदले जाने की माँग करती है । जैसे आज की बात लें कि आज शिक्षा को यह बताना होगा कि प्रौद्योगिकी से ग्रस्त समाज में कैसे जिया जाय। गुडमन कहता है कि विभिन्न प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओं ने व्यक्ति का स्वभाव और चरित्र ही बदल दिया है । यदि हम यह मानते हैं कि शिक्षा द्वारा एक श्रेष्ठ मनुष्य बने, और यह नहीं होता तो कम से कम जान डिवी के अनुसार एक बेहतर लोकतांत्रिक मनुष्य का तो वह निर्माण करे ही ।

गुडमन अंग्रेजी के **"एज्यूकेशन"** शब्द पर भी आपत्ति करता है । जहां हम **एज्यूकेशन** शब्द का या **शिक्षा** का इस्तेमाल करते हैं, तो वह सीधे-सीधे एक प्रकार के पाठ्यक्रम, पुस्तक, परीक्षा और कुछ विशेष कौशलों या हुनरों में जाकर कैद हो जाती है और उसकी व्यवस्था का जाल बुना जाता है । गुडमन यहाँ गांधी के शिक्षा दर्शन के बहुत पास है । गाँधी, विनोबा और जाकिर हुसैन ने जिस शिक्षा की परिकल्पना की थी, वह असल में "विद्या" थी । विद्या में ज्ञान और कौशल का समन्वय है, जैसा कि गीता में कहा गया है "योगः कर्मसु कौशलम" । गुडमन का कहना है कि कोई व्यवसाय या कार्य जब एक व्यक्ति करने लगता है तो शिक्षा या सीखने के

सभी तत्व और मूल्य उसी से पैदा होते हैं । सीखने के प्रति उसका समर्पण पैदा होता है और जरूरत या लाभ के विविध आयाम भी सीखने वाले को उसी से मिलते हैं ।

गुडमन की दृष्टि में इस प्रकार, स्कूल शिक्षा का प्रतीक भले ही हो, स्कूल "विद्या", अर्थात् ज्ञान और कर्म के समन्वय का प्रतीक नहीं बन सकता । यह विविधता उजाड़कर नकली एकजैसापन पैदा करता है । वह प्रतिभा के उन्मेष की जगह न होकर, प्रतिभा के सामान्यीकरण का स्थान है । संभवतया रवीन्द्रनाथ ने जब स्कूल को उन्मुक्त परिवेश, अनौपचारिक व क्रियात्मक शिक्षा से जोड़कर शिक्षा को एक प्रकार का तपोवन बनाने का जो प्रयत्न किया था, गुडमन भी शिक्षा में वैसे ही तपोवन की अप्रत्यक्ष खोज में है । यही कारण है कि शिक्षा का वर्तमान व्यवस्थावादी स्वरूप गुडमन को अनिवार्य बुरी शिक्षा का जनक लगता है।

गुडमन और मिनिस्कूल की अवधारणा :

गुडमन एक प्रकार से वर्तमान शिक्षा के स्वरूप और उसकी प्रतिभा से निराश है । आज की शिक्षा में उसे मूल्याहीनता दिखाई देती है जिसका परिणाम यह है कि हमारे अन्दर असहिष्णुता पैदा हो गई है और हमारे बच्चे शिक्षा के योग्य नहीं रहे हैं । यदि हम एक किशोर को ही लें, जिस समय उसकी उम्र संवाद करने, चुनौती देने और चुनौती झेलने की होती है, उसमें कुछ कर दिखाने का साहस और संकल्प होता है, तभी स्कूली शिक्षा उसे एक निर्धारित पाठ्यक्रम की चौखट में कसकर शिक्षक के हवाले कर देती है । जिसका परिणाम यह है कि बच्चा अपनी संस्कृति, परंपरा और मूल्यः सभी के प्रति अपनी आस्था और विश्वास खो देता है । ऑरनोल्ड के शब्दों में जिस समय श्रेष्ठतम सोचा और बोला जा सकता है, उसी समय बच्चा उदास और अकेला हो जाता है ।

इस प्रकार "मिनि स्कूल" अपने पड़ोसी स्कूल को भी ऐसे मूल्यों के लिए बाध्य करे जिससे वे आर्थिक भेदभाव के आधार पर शिक्षा को कुछ संभ्रातों का हक मानना बंद कर दें । मिनि स्कूल की पहली प्राथमिकता "पढ़ना और लिखना" रहा है । स्कूल का अर्थ तो आगे बढ़ाना और संस्कारित करना है न कि अवरुद्ध करना या प्रतिभा को कुचल देना ।

"मिनि स्कूल" में बच्चा अपनी रुचि स्वयं प्रकट करता है । रुचि के मुताबिक साधन स्वयं खोजता है । उनके साथ किस्म-किस्म की क्रियाएँ करता है और हमेशा इतना स्वतंत्र रहता है कि इस पर किस व्यक्ति द्वारा सिखाये जाने या किसी निश्चित चीज को सीखने का डर नहीं रहता । यह एक पूरी विकेन्द्रित प्रक्रिया होती है, जहाँ पढ़ना-लिखना आवश्यक है । मगर रुचि के साथ कहानी-कहना, गाना-गाना व नाटक-अभिनय करना, खिलौने बनाना या बने हुए खिलौनों से खेलना, भ्रमण करना, बातचीत व तर्ककरना, प्रश्न करना आदि ऐसे अनेक कार्य हैं, जिन्हें मिनि स्कूल में बच्चे और सिखाने वाले मिलकर करते हैं । बच्चा कभी नहीं सोचता कि उस पर सीखने का दबाव है या कोई बात किसी डर या लालच के कारण उसे सीखना है । इस प्रकार बच्चे को मेनफ्रेड सिंड्रोम (शाला और शिक्षक के भय) से मुक्त रखने का, और स्वयं अपना चुनाव, अपना तरीका और अपने साधनों को अपना कर सीखने का स्थान है-

गुडमन का मिनि-स्कूल।

गुडमन का कहना है कि स्कूल की वर्तमान व्यवस्था अनेक भ्रमों को पैदा करती है । अगर रूसो जैसे विचारक जायज नागरिकता और दार्शनिकता का एक मिथक स्कूल में देखते हैं, तो दूसरा मिथक मुक्त और भौतिक रहस्यों के बीच स्कूल से रचा जाता है । भौतिक रहस्यों की

खोज का स्थल स्कूल ही आध्यात्मिकता का मिथक बनाता है । गुडमन का एक तर्क यह भी है कि स्कूल से कटटरपन और जड़ता पनपती है, जो सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध करती है। गुडमन कहता है कि प्रतिभा और रुचि तो सतत् प्रवहमान करने के समान हैं और कोनेंट सही कहता है कि कुल मिलाकर जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसमें अकादमिक वातावरण में पुस्तक से प्राप्त ज्ञान केवल पन्द्रह प्रतिशत ही होता है । **मिनि स्कूल एक प्रकार से कर्म की अभ्यास शाला है** । वर्तमान स्कूल प्रणाली उपयोगी–अनुपयोगी, सामान्य–असामान्य, सहमति–असहमति के कई मुहावरे तो देती है, मगर बच्चे को मुक्त नहीं करती । वह जटिल, उबाऊ और रुचिहीन होती है । गुडमन की राय में स्कूल तीन भ्रम पैदा करते हैं :–

(1) उस तथ्य के बारे में, जो है, और जिसे मानने का पर्याप्त कारण है अर्थात् तथ्य की उपस्थिति को सकारण मान लेना और जिसके लिए किसी तर्क या संवाद की जरूरत न होना ।

(2) तथ्य का एक ऐसे मैनेजर की तरह होना है जो स्वयं गलत है अर्थात् एक गलत व्यक्ति का ऐसे तथ्य की तरह उपस्थित होना जिससे कुछ भी उद्देश्य पूरा न हो पाता हो अर्थात् एक गलत चीज की उपस्थिति को स्वीकार कर उसकी गलती को भी स्वीकार कर लेना है ।

(3) परिभाषाओं के माध्यम से वास्तविकता को अमान्य कर देना–जैसे पारंपरिक व्याकरण में संज्ञा की परिभाषा– व्यक्ति, वस्तु या स्थान केनाम मगर इन तीनों से अलग भी संज्ञाएँ हैं, जो एक वास्तविकता है ।

इसी प्रकार अन्य अस्कूलवादियों की तरह गुडमन कहता है कि वर्तमान शिक्षा एक स्नातक से यह नहीं पूछती की वह जानता क्या और कितना है । मगर हां, वह यह अवश्य पूछती है कि उसके पास डिप्लोमा या डिग्री का प्रमाण पत्र है या नहीं । शिक्षा का यह प्रमाणीकरण सीखने की प्रक्रिया का घोर अमानवीयकरण कर देता है और सीखना आनन्द, रुचि, खोज, क्रिया व निष्कर्ष के सुख का माध्यम न रह कर प्रतियोगिता श्रेणी और उपाधि के झूठे मोह व स्टेटस का प्रतीक बन जाता है ।

इलिच, रैमर, पोस्टमन आदि अस्कूलवादियों की तरह गुडमन के पास शिक्षा का एक रूपक है जिसे "चिकन एंड एग च्वाइस" अर्थात् मुर्गी, अंडा और इन दोनों के बीच का चुनाव" माना गया है । मुर्गी–अंडा का रूपक तर्क का रूपक है । इनमें से जिसे भी चुना जाएगा, उसके तर्कों की खोज, सीखने वाले को स्वयं करना होगी । इसलिए शिक्षा में 'क्या सीखना' और सीखने की अनेक परिस्थितियों में से अपनी रुचि की स्थिति का चयन, अपनी रुचि के अनुसार हुनर का चयन, और अपनी रुचि के अनुसार क्रियाओं का चयन आवश्यक है । मिनि स्कूल बारह बरस के बच्चों के छोटे से समूह में बच्चे को दो आजादियाँ देता है–एक तो वह आजादी, जो बच्चा घर में स्वाभाविक रूप से भोगता है और दूसरी वह, जिसे घर में भोगने के अवसर या स्थितियाँ नहीं है । इस रूप में यदि हम "टोटो चॉन" के प्रयोग को लें, तो यह नवाचार तेत्सुको कुरोयांगी एक जापानी शिक्षक का वैसा ही नवाचार है, जैसा "मिनि स्कूल" में निहित है । सीखने के स्थान पर रूढ़ीकरण, सीखने की प्रक्रिया का रूढ़ीकरण और सीखने की व्यवस्था का रूढ़ीकरण ही गुडमन के अनुसार अनिवार्य अपशिक्षा का मुख्य कारण है । इसलिए अनिवार्य अपशिक्षा से मुक्ति का माध्यम गुडमन का "मिनि स्कूल" है ।

विद्यार्थी में शिक्षा के सकारात्मक और रुचिकर प्रभाव पैदा करने के लिए गुडमन दो बातें सुझाता है एक तो हम स्कूल के वर्तमान पर्यावरण में आमूल परिवर्तन लाएँ और पूरे समाज का स्वरूप ऐसा रच दें कि पूरा समाज ही बच्चे को पाठशाला लगे; उसकी शिक्षा और उसके संस्कार की ऐसी जगह लगे जहाँ उसे उसकी प्रवृत्ति और रुचि के अनुसार ज्ञान और कौशल मिल सकें चाहे फिर वह संगीत हो, नृत्य हो, या कोई कारीगरी का काम । दूसरे यह कि पूरी शिक्षण–व्यवस्था से ग्रेड–प्रणाली को समाप्त करें, जिसके भय ने बालक को पाठयक्रमों की जड़ता का गुलाम बना दिया है । इस कारण शिक्षक का सर्वश्रेष्ठ धर्म यह है कि वह पाठ्यक्रमों के प्रति गुलामी की सीमा तक वफादारी न निभाये । इन दो सुझावों पर ही गुडमन "फ्रीडम एण्ड लर्निंग" और "मिनि स्कूल" की अवधारणा विकसित करता है ।

इन दो विकल्पों को भी गुडमन दो हिस्सों में बाँटता है । पहले हिस्से में वह उन बच्चों को रखता है, जो केवल बारह वर्ष की उम्र तक के हैं, जिन्हें वह उन्मुक्त शिक्षण में प्रवेश कराना चाहता है । इसका कारण यह है कि उन्मुक्त शिक्षण से बच्चों को ही नहीं, बल्कि बच्चे को उसके बुरे पालकों और बुरे घरेलू वातावरण से भी मुक्त किया जा सकेगा और इस स्वतंत्र शिक्षण प्रक्रिया में भी स्कूल तो होगा, मगर वह एक प्रकार का "मिनि स्कूल" होगा ।

गुडमन का "मिनि स्कूल" भी अजीब तरह का है । उसके मिनि स्कूल की विशेषता उसकी अलग प्रकार की संरचना है । मिनि स्कूल छोटा होता है, अर्थात् उसमें लगभग 28 बच्चे हों और जिसे चार प्रकार के प्रौढ़ चलाते हों एक तो प्रशिक्षित शिक्षक, दूसरा एक गृहणी या गृहस्थ जो भोजन बना सके, एक महाविद्यालयीन शिक्षक और चौथा वह युवा जो स्कूल त्याग चुका है । इन चारों लोगों की उपलब्धि भी गुडमन स्वेच्छा से आत्मप्रेरित होकर सेवा–भाव के साथ आने–वाले लोग होगें । इस प्रकार मिनि स्कूल का स्टाफ होगा एक पढ़ी लिखी, काम करने को तत्पर, बुद्धिमान महिला; एक समाज के ऐसे लोग,जो शिक्षा का काम भी एक बड़ा काम मानते हैं और बच्चे के विकास में उनकी रुचि उसी प्रकार है, जिस प्रकार समाज या देश के विकास में । इस प्रकार मिनि स्कूल के बच्चे ऐसे लोगों के हाथों में होंगे जो समर्पित और प्रतिबद्ध लोग हैं न कि मात्र प्रशिक्षित व्यवसायी ।

गुडमन भौतिक परिवेश को उतना महत्व नहीं देता और खासकर विक्टोरियन युग की भव्य इमारतों वाले स्कूल गुडमन के मिनि स्कूल की शीशे जड़ी इमारत नहीं है क्योंकि वह सीखने की अधिकांश क्रियाएँ ऐसी रचता है, जो किसी भी भवन के बाहर की जा सकती हैं । कुछ कामों के लिए स्कूल के नाम पर एक दो कमरे रखे जा सकते हैं । मगर बाकी समस्त शिक्षा एक समूचे वास्तविक और यथार्थ के वातावरण में आवश्यक है । इस प्रकार गुडमन अनेक औपचारिकताएँ तोड़ता है: भवन की औपचारिकता, पाठ्यक्रम की औपचारिकता, प्रशिक्षित व्यवसायी शिक्षा की औपचारिकता । वह स्कूल को अर्थ एक ऐसा घर मानता है जहाँ से भागकर बच्चा अपने असली घर जा सके और असली घर से भागे तो अन्यथा कहीं न जाकर "स्कूल– घर" में आ सके । यह मिनि स्कूल केवल बारह बर्ष की उम्र तक के बच्चों के लिए ही है । यह स्कूल किसी प्रशासकीय तंत्र से नहीं बल्कि पालकों और इसमें काम करने वालों द्वारा संचालित होगा। "अनिवार्य अपशिक्षा" में गुडमन का कहना है कि प्राथमिक या प्रारंभिक शिक्षा तो एक प्रकार का "बेबी सिटिंग" (शिशु देखभाल) जैसा कार्य है। इसलिए इसका सबसे बड़ा मिशन है– अधिक से अधिक लोकतंत्रीकरण और सामाजिक समानता । यहाँ आकर सब खुश हों, यहाँ के काम में रुचि लें और जो किसी भी प्रकार नुकसानदेह न हो । जहाँ भी मिनि स्कूल हो, वह इतना प्रभावशाली हो कि पड़ोसी स्कूल को भी प्रभावित करे ।

अध्याय–5

समरहिल में स्कूल का लोकतंत्र :ए.एस.नील

बच्चों में अनंत जिम्मेदारियों का अहसास अपने आप पैदा होना चाहिये मगर इसके साथ ही एक प्रतितर्क यह है कि बच्चे को किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी का सामना करने की अनुमति इसलिए नहीं दी जा सकती कि एक तो वह ऐसे काम के लिए तैयार नहीं रहता और दूसरे उसमें कम उम्र में निर्णय लेने की समझ नहीं होती ।

नील : असफलता से सफलता का रास्ता

ए.एस.नील स्काटलेंड के फारफार गांव में 1883 में पैदा हुआ था । नील रूसो के क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित तो था, लेकिन रूसोवादी न होकर रूसो–विरोधी था । नील के पिता जार्ज नील एक स्कूल मास्टर थे । उनमें दो प्रकार की कट्टरताएं थीं एक तो पारंपरिक अनुशासनबद्ध शिक्षक की, और दूसरी केलविनिस्ट प्यूरिटन ईसाईपन की । ए.एस.नील ने पहले तो अपने गांव में अपने पिता के स्कूल में शिक्षा ली लेकिन सिर्फ चौदह साल की उम्र में उसे एडिनबरा में क्लार्क के रूप में भेज दिया गया । यहां आकर नील खुश नहीं हुआ और 1899 में पुनः छात्र–अध्यापक के रूप में अपने पिता के स्कूल में ही काम करने लगा । नील यहां आकर असफल हो गया । सरकारी निरीक्षक ने जब उसका निरीक्षण किया तो नील को एक ऐसा अध्यापक बताया, जो हर प्रकार से कमजोर था । कुछ दिन स्कूल में काटने के बाद नील ने अपने विषय कृषि को छोड़ कर एडिनबरा में अंग्रेजी साहित्य में विश्वविद्यालय में अध्ययन प्रारंभ किया । यहां आकर उसमें एक लेखक बनने की तमन्ना तो जागी मगर 1921 में पुनः उसने अध्यापक का काम ही अपना लिया और ड्रेसन में एक अन्तर्राष्ट्रीय स्कूल कायम किया । यही वास्तव में नील के स्कूल का उद्भव था जो आगे चलकर इंग्लेंड में **'समरहिल'** के रूप में विख्यात हुआ । यह स्कूल पहले पहल लाइम रिगिस में और इसके बाद लीस्टन क्षेत्र के सफाक में खोला गया । वे **समर–हिल** के नाम से विख्यात् थे । स्कूल–शिक्षा में नवाचार और प्रयोग के ऐसे स्कूल बने, जिनकी ओर सारी दुनिया के शिक्षाविदों का ध्यान गया ।

नील इलिच और रैमर, नील पोस्टमन या पॉल गुडमेन की तरह का क्रांतिवादी नहीं है। वह रूसो के प्रकृतिवाद का विरोधी अवश्य है । वह मानता है कि रूसो कम से कम ऐसा विचारक था, जिसने अपने विचार का व्यावहारिक उपयोग भी किया जबकि रैमर, इलिच आदि तो मात्र विचार तक ही सीमित रहे। रूसो अपनी शिक्षण प्रणाली में असफल था । रैमर

ने शिक्षा के लिए अनेक काम किये तो जरूर, मगर पढ़ाया कभी नहीं । इलिच एक धर्मगुरू और विद्वान पंडित एवं उच्चकोटि का विचारक है लेकिन वह व्यावहारिक शिक्षा–प्रणाली का प्रयोक्ता नहीं । नील पोस्टमन और वैनगार्टनर की दुनिया शिक्षक–प्रशिक्षण से जुड़ी हुई है। इन समस्त विचारकों में से नील ही ऐसा विचारक है जिनके पास विचार भी है, व्यवहार भी और जो प्रथम और अंतिम रूप से केवल स्कूल–अध्यापक ही है । ए.एस.नील के स्कूल को देख कर उसमें आने वाले और स्कूल का अवलोकन करने वाले अतिथियों के स्कूल–नोटबुक में लिखे विचार देख कर और उसके बच्चों के साथ कई चित्र देखकर लगता है कि नील को अपने बच्चों से बेहद प्यार था। उनके बीच रहना उसका सबसे बड़ा आनंद था । वैसे तो सभी लोग कहते हैं कि उनको बच्चों से प्यार है मगर नील का प्यार सच्चा था और उसकी गर्मी, उसका लगाव महसूस किया जा सकता था। लगभग इसी प्रकार का प्यार और लगाव हमें गिजुभाई में भी दिखाई देता है।

ए.एस. नील इस प्रकार न तो इलिच की तरह अस्कूलवादी था और न ही रैमर की तरह स्कूल की मृत्यु का उद्घोषक । वह एक ऐसा शिक्षक था, जिराने असफलता से प्रारंभ करके सफलता का उच्चतम मानदंड स्थापित किया था । एक शिक्षक और बालक किस प्रकार अपने रिश्तों में एकाकार होते हैं ? भावनाओं से बँधा हुआ शिक्षक किस प्रकार बच्चों के बीच नई–नई दुनियाओं का अन्वेषण करता है ? एक व्यवस्था को भी कितना उदार, उन्मुक्त और स्वचालित बना सकता है ? यह आज के उन तमाम शिक्षकों के लिए प्रेरणादायक है, जो स्कूल व्यवस्था के हिस्से हैं और जो असफलता से सफलता का रास्ता तो तलाशना चाहते हैं मगर जिन्हें सही पथ–प्रदर्शक उपलब्ध नहीं है ।

नील का समरहिल स्कूल और उसकी शैली

नील अपने सिद्धान्त और विचार को लेकर बहुत हद तक अतिवादी है । वह कई बार ऐसे सरलीकरण और आधारहीन निष्कर्ष देने लगता है कि नील के प्रयोगों को लेकर कुछ संदेह पैदा होने लगते हैं । शायद नील का इसके पीछे उद्देश्य यह हो कि उसके सिद्धान्तों से लोग चौंकें ! शायद रूसो ने भी चौंकाने वाले सिद्धान्त को अपनाया था और जब इलिच, रैमर, गुडमन आदि अपने विचार रखते हैं, तो लगता यही है कि जितना क्रांतिकारी उनका विचार है नहीं, उतना वे बताने की कोशिश करते हैं । नील कभी–कभी तो कुछ अतिशयोक्ति ही कर डालते हैं। जब वे पारंपरिक स्कूली अनुशासन की आज्ञाकारिता पर चोट करते हैं तो कहने लगते हैं कि "मैंने टेम्पलहाफ बर्लिन के उन सैकड़ों कुत्तों को देखा है जो 1935 में हिटलर के आदेश के पालन में पूंछ हिलाने लगते थे।" यहां नील ने दरअसल देखा जाए तो यंत्रवत अनुशासन और आज्ञाकारिता पर प्रहार किया है, और शिक्षक के अंदर से उसकी हिटलरी प्रवृत्ति समाप्त कर बच्चों को अधिक स्वतंत्र और मुक्त रखने का तर्क रचा है । बच्चे को स्कूल में तो क्या घर में भी मारना–पीटना नील उस क्रूर बर्बरता से कम नहीं मानता, जो हिटलर ने यहूदियों के लिए करती थी । एस प्रकार से नील गिजुभाई के उस बालदर्शन के काफी करीब है, जो बालक को आनंद और उत्सव की तरह देखते थे और उनमें बालदेवता की स्थापना करते थे ।

नील के **समरहिल** की एक विशेषता यह है कि वह हर सीखने वाले के अन्दर सबसे पहले व्यक्तिगत आधार पर जानने, खोजने और तर्कबद्ध ढंग से सोचने की प्रणाली विकसित

करना चाहता है । फिर उन्हीं खोजों को विस्तार देकर वह उन्हें सामान्य और सर्वमान्य सिद्धान्त का रूप देता है । नील यहां एक छोटी सी कहानी रचता है । नील का कहना है कि किसी चीज को सीख लेना अपने आप में उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसके आधार पर अपने व्यक्तित्व और चरित्र का निर्माण करना । उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि एक लड़की है, जिसका नाम गीता है। गीता पढ़ लिख कर एक प्रतिष्ठान में नौकरी करने लगी है। वहां अपने मैनेजर से कहती है कि उसमें जो आत्मविश्वास है, वह स्कूल की देन है। इस बात के उत्तर में उसका मैनेजर भी यही कहता है कि उसके साथ भी ठीक वैसा ही है। गीता कहती है कि ऐसा वह इसलिए नहीं कह रही है कि वहां किताबों से जो उसने सीखा वह अब काम आ रहा है। वास्तव में तो वह किताबी–ज्ञान प्रणाली के ही विरुद्ध है । इस कारण वह विश्विद्यालय के इम्तहान में फैल भी हो जाती है। यहां उसका तर्क यह है कि उसने किसी अच्छे निबंधकार का निबंध नहीं पढ़ा। इसका कारण यह नहीं कि उसे भाषा ही न आती हो बल्कि भाषा निबंध न पढ़ पाने के कारण कहीं बाधक नहीं बनी । आज गीता एक सफल इंजीनियर है, और उसे अपने व्यवसाय से संबंधित जो भी दस्तावेज पढ़ने पड़ते हैं, उन्हें वह पढ़कर समझ सकती है। उनका विश्लेषण या व्याख्या कर सकती है।

नील के इस उदाहरण को लेकर कुछ शिक्षाविदों ने यह आपत्ति की है कि एक उदाहरण देकर हम उसे सैकड़ों सीखने वालों पर लागू नहीं कर सकते । नील के सिद्धान्त पर अगर हर उदाहरण के आधार पर इस तरह के सामान्यीकरण होते रहे, तो ऐसे सामान्यीकरण जड़ता की ओर ले जा सकते हैं । फिर हर सीखने वाला गीता का उदाहरण, किताब न पढ़ने से जोड़ कर फैल होता रहेगा । यहाँ नील और नील–विरोधी दोनों ही तर्कद्वन्द्व के शिकार हैं । कोई भी उदाहरण देकर हम यह नहीं कह सकते कि वह एक सर्वसम्मत या एकमात्र तरीका है । गीता का किताबी ज्ञान से ऐतराज का अर्थ यह नहीं कि किताब से बँध कर ही सब कुछ पाया जाता है । यहां किताब का सीमित अर्थ है: पाठ्यक्रम की किताब । गीता ज्ञान पर पाठ्य–पुस्तक द्वारा आरोपित प्रतिबंध के विरुद्ध है, न कि पुस्तक प्रणाली के । अंततः ग्रंथालय या अन्य लोगों के अनुभव भी तो किसी न किसी ज्ञान पर आधारित हैं । उनमें पुस्तकों का बहुत बड़ा योगदान है। इसलिए नील पुस्तक में बँधकर पुस्तक से अलग न जाकर सीखने की प्रक्रिया को एक प्रकार की ज़ड़ता या गतिहीनता मानता है । इसिलए ज्ञान के स्रोतों की खोज सीखने वाला स्वयं करे तो इसमें हर्ज ही क्या है ?

नील के **समरहिल** स्कूल में बालिकाओं को लेकर उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी बालकों को लेकर । इसका मुख्य कारण नील के अनुसार यह है कि **समरहिल** में लड़कियां देर से आती हैं, नहीं भी आतीं और उतना खुल कर भाग नहीं लेतीं, क्योंकि इस मामले में उनके माता–पिता स्वयं ही उनकी अधिक स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं हैं । इस समस्या के पीछे नील दो तर्क देता है । उसका कहना है कि अगर माता–पिता उदार होते, तो लड़कियों की स्वतंत्रता संबंधी समस्या पैदा नहीं होती । लेकिन यहां हमें स्वतंत्रता के दो मतलब निकालने होंगे । वह फ्रीडम अर्थात् मुक्ति की "लिबर्टी" अर्थात् "स्वतंत्रता" से तुलना करते हुए कहता है कि "मुक्ति" का अर्थ एक प्रकार की औचित्यपूर्ण या नियंत्रित अर्थात् लायसंसयुक्त स्वतंत्रता है । अधिकांश

माता–पिता इस स्वतंत्रता का रिश्ता अनुचित स्वतंत्रता से जोड़ लेते हैं । लिबर्टी और लायसंस इन दो विभेदों को दूर करने की कोशिश में, नील यह तर्क अवश्य देता है कि स्वतंत्रता किसी भी कीमत पर बाधित नहीं होना चाहिये और बच्चों में अनंत जिम्मेदारियों का अहसास अपने आप पैदा होना चाहिये । लेकिन इसके साथ ही एक प्रतितर्क यह भी दिया जाता है कि बच्चे को किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी का सामना करने की अनुमति इसलिए नहीं दी जा सकती कि एक तो वह ऐसे काम के लिए तैयार नहीं रहता है और दूसरे उसमें इस उम्र में निर्णय लेने की समझ नहीं होती है । नील एक प्रकार से इस मुकाम पर आकर दुनियादारी से समझौता कर लेता है क्योंकि वह जानता है कि कई मामलों में दुनिया की जड़ता तोड़ पाना बहुत कठिन है । कारण कि जहां एक बार कोई सिद्धान्त चल पड़ा, फिर उसे हटाना या मिटाना बहुत ही मुश्किल है । इसी प्रकार नील एक विवाद और पैदा करता है जब वह कहता है कि बुरी आदतें तो चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति हैं । नील के इस कथन को मनोवैज्ञानिकों ने चुनौती दी तो अवश्य है मगर नील के कतिपय उदाहरण जो यौनक्रियाओं की विकृति से जुड़े हैं उन्हें नील के आलोचकों ने भी स्वीकार किया है ।

नील को अनेक शिक्षाविदों ने अकादमिक, बौद्धिक और दार्शनिक माना तो जरूर है लेकिन यह माना है कि उसका 'समरहिल' प्रयोग कई प्रकार की विसंगतियों से भरा हुआ है । उसके 'समरहिल' में पिछड़े, कमजोर और वंचित वर्ग के लिए कोई विकल्प नजर नहीं आता। उसका 'समर हिल' लड़कियों की उदार स्वतंत्रता की स्थापना नहीं कर पाता । यदि नी का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया जाय तो उसे पिछड़े और संसाधनहीन क्षेत्रों में फैलाया जा सकता है । यहां पिछड़े और संसाधनहीन होने से तात्पर्य है ऐसे क्षेत्र से, जो शैक्षिक प्रौद्योगिकी और उनका इस्तेमाल कर पाने वाले लोगों से वंचित हो । इसका साफ मतलब तो यह भी है कि नील विरोधी नील के समरहिल स्कूल का मूल्यांकन तकनालाजी के आधार पर कर रहे हैं जिसने 'स्कूल' शब्द को पूरी आधुनिक सभ्यता में अनावश्यक ही करार दे दिया है । नील का 'समरहिल' भले ही इलिच या रैमर की तरह किसी विकल्प की रचना न करता हो मगर वह एक ऐसी व्यवस्था अवश्य है जहां बच्चा अपने आप सीखता है । जहां वह अपनी स्वतंत्रता का अर्थ अपने आप खोजता है और जहां अराजक–स्वच्छंदता और नियंत्रित–स्वतंत्रता में भेद करने की नागरिक दृष्टि विकसित की जाती हो । इस मामले में हम रूसो की तरह या इलिच और रैमर की तरह नील को मूर्तिभंजक विचारक की जगह भले ही न रखें, मगर व्यवस्था के भीतर व्यवस्था का विकल्प तो नील का 'समरहिल' प्रस्तुत करता ही है ।

नील: स्कूल का विकल्प और विरोध

- नील स्कूल का विकल्प और विलोम दोनों ही प्रस्तुत करता है, लेकिन अस्कूलीकरण को कोई मान्यता नहीं देता ।
- नील जब स्वनियमित या स्वचालित व्यवस्था की बात करता है तो यह तो जरूर मानता है कि बच्चा किसी भी स्व–नियम प्रक्रिया से बँधा हुआ नहीं रह सकता । फिर भी नील का प्रयोग बच्चे की स्व–नियम और स्व–संचालन प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है ।

- नील जब बच्चे की मुक्ति या स्वतंत्रता की बात करता है, तो उसमें एक परंपराग्रस्त जड़ता है, जो बच्चे को, पाप की उत्पत्ति मानती रही है । संभवतया इस सैद्धान्तिक जड़ता को तोड़ना ही नील का मुख्य उद्देश्य अपने प्रयोग में रहा है क्योंकि उसने बच्चे की पापमयी छवि के बजाय उसकी निरीह छवि "टेबुला रेसा" की मान्यता से जोड़कर रचने की कोशिश की है । "टेबुला रेसा" का अर्थ है कि बच्चा एक स्वच्छ स्लेट की तरह होता है। वह निर्मल और पवित्र होता है। लेकिन पहले तो 'टेबुला रेसा' स्वयं विवादास्पद है और स्वयं नील भी बुरी आदत को स्वाभाविक प्रवृत्ति कह कर इस मान्यता को तोड़ देता है । नील की विशेषता यह है कि वह अपने आप से ही तर्क करता जाता है और जो बात एक जगह स्वीकार करता है उसे ही अन्यत्र अपने तर्क से अस्वीकार कर देता है। इसलिए शिक्षा में नील कोई विचारगत या व्यवस्थागत विकल्प नहीं देता बल्कि प्रक्रियाग्रस्त विकल्प अवश्य देता है ।

वह एक तर्कप्रणाली विकसित करने पर जोर देता है जिसमें शब्दों के नये–नये विलोम और विरोध पैदा हों और तर्क, संवाद के साथ उनके नियमन और संचालन की प्रक्रिया में बालक सीखने–समझने का काम करे ।

स्कूल का लोकतंत्र अर्थात् आत्मनियमन :

ए.एस. नील यद्यपि इवान इलिच की तरह न तो स्कूल के अस्कूलीकरण की मांग करता है, न रैमर की तरह स्कूल की मृत्यु घोषित करता है, और न ही पाल गुडमन की तरह शिक्षा को "अनिवार्य कुशिक्षा" कहता है । वह उस तरह का नवक्रांतिवादी नहीं है जिस तरह का पोस्टमन, पाउलो फ्रेरे शेट्सकी और लूनाचार्स्की हैं । नील का 'समर–हिल' स्कूल अपने आप में एक पूरा स्कूल है। ठीक वैसा ही जैसी कोई एक संस्था होती है । कोई अपने पूरे औपचारिक स्वरूप में बच्चों को शिक्षित करने वाला स्कूल होता है । फिर पूछा यह जा सकता है कि आखिर नील में ऐसा क्या है, जो अन्य स्कूलों में नहीं है या नील का समर–हिल शिक्षा की किस प्रणाली का प्रवक्ता है?

नील का समरहिल स्कूल बारबा नील के उस वाशिंगटन स्कूल की ही एक छवि है जहां **"स्कूली गणतंत्र या स्कूली लोकतंत्र"** का अभ्यास कराया जाता है । समरहिल स्कूल "सेल्फ रेग्यूलेशन" या आत्म–नियमन के सिद्धान्त पर चलता है । इसका मतलब है कि यहां स्कूल प्रशासन अथवा अध्यापक की सत्ता से कुछ भी नहीं चलता, बल्कि एक ऐसी आत्म–अनुशासित, आत्मसंचालित प्रक्रिया का यहां प्रयोग किया जाता है, जो बच्चों में बचपन से ही भावी नागरिक होने और उसके उत्तरदायित्व समझने के अवसर देता है । नील यह मानता है कि आत्म–नियमन का वास्तविक उद्देश्य यह है कि बच्चा किसी भी मुकाम पर या किसी भी स्तर पर बाहरी नियमों के आधीन न हो और जन्म से ही बच्चे को एक ऐसा पर्यावरण या माहौल दिया जाय, जिसमें बच्चे को लगातार यह लगे कि वह अन्य लोगों की ही तरह स्वतंत्र है, मुक्त है, उसे अपने फैसले करने का सहज स्वभाविक अधिकार है ।

नील ने आत्म–नियमन का कोई सिद्धान्त तो नहीं रचा । आत्म–नियमन उसके लिए सिद्धान्त न होकर एक प्रक्रिया है, एक कार्यशैली है, एक सहज मानसिकता और दृष्टिमूलक

सोच है । नील सिद्धान्त रचने में विश्वास नहीं करता, लेकिन रॉबिन बैरो जैसे आदमी को नील के असिद्धान्तीकरण पर थोड़ा शक है । बैरो मानता है कि नील ने सैद्धांतिक कर्म के विरुद्ध घोषणा जरूर की थी, मगर वह एक अजीब ही बात थी। नील वह आदमी है जिसने आधी जिन्दगी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त एकत्रित करने में खर्च कर दी और आधी सामान्य शिक्षा पर पुस्तकें लिखने में । इसलिए "नील का सिद्धान्त" जैसा जब कोई प्रश्न उठता है तो उसकी व्याख्या जरूरी है । नील के "सिद्धान्त" से जो सबसे उपयुक्त अर्थ निकाला जाता है, वह है– "बातचीत या संभाषण" । बातचीत में सचाई हो सकती है । बातचीत बड़ी तीखी और सिलसिलेवार हो सकती है लेकिन बातचीत कोई "काम" तो नहीं है । बातचीतों से कुछ सिद्ध नहीं होता और अधिकांश बातचीतें तो हवा में होती हैं । नील के लिए "सिद्धान्त" एक प्रकार की गाली या निरर्थक शब्द है, जिसे "पिजोरेटिव" कहा गया है । वह सिद्धान्त को एक प्रकार से पड़े–पड़े स्वप्न देखने जैसा मानता है अर्थात् नील का सिद्धान्त ऊपरी तौर पर बिल्कुल निराकार है । इसमें अगर आकार कहीं है तो वह स्वप्न में आने वाले आकारों के समान है । नील वास्तव में उस सत्य, यथार्थ या वास्तविकता के विरुद्ध है जिसे लोग सिद्धान्त मानते आये हैं और कहते हैं कि "सत्य या वास्तविकता सिद्धान्त न होकर तथ्य है।" उदाहरण के लिए जब नील कहता है कि मैं कोई सिद्धान्तीकरण नहीं कर रहा हूं तो इसका मतलब यह है कि मैं उस बात को जानता हूं । जब नील यह कहता है कि सिद्धान्त बच्चों को बोझिल करता है तो यहां सिद्धान्त का मतलब है, उस तरल, भाववाचक या शून्य से, जिसका उल्टा "ठोस" और "व्यावहारिक" है । वह यह भी कहता है कि उसने अपने चालीस बरस की जिन्दगी बच्चों के लिए सिद्धान्त गढ़ने में खर्च नहीं की है बल्कि उसने बच्चों को करीब से देखा–परखा है । उनके बीच में रह कर पाया है कि सिद्धान्त एक **अन्दाजमार काल्पनिकता** है, न कि **वैज्ञानिक खोज–पद्धति** ।

यहां बैरो इस पर टिप्पणी करता है और कहता है कि "सिद्धान्त" का मतलब निरर्थक, आधारहीन और संरचनाहीन व्याख्यान से नहीं है । उदाहरण के लिए "वैज्ञानिक सिद्धान्त" अत्यंत उच्च स्तर का व्यवस्थित और सुनियोजित व्याख्यान ही है । वैसे सिद्धान्त और व्यवहार में भेद करना जरूरी है लेकिन वे एक दूसरे के विरूद्ध नहीं है, न उनमें कोई द्वन्द्व है । उदाहरण के लिए एक पुल के निर्माण और मेडिकल प्रेक्टिस के पीछे जो सिद्धान्त निहित हैं, उनकी उस काम की क्रियाओं से संगति बैठाने की हम अपेक्षा करते हैं । जहां तक शैक्षिक सिद्धान्त का सवाल है, वह अनुशासित विचारों का परिणाम है । उसमें शैक्षिक व्यवहार या अभ्यास के लिए अन्वेषण या खोज प्रक्रिया शामिल है । शैक्षिक सिद्धान्त सूचनाओं का समुच्चय है, संग्रह है, शोध है, संकल्पना है, विचार है, जो समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और अन्य अनुसंधानों के निष्कर्षों पर आधारित हैं ; जिनमें कुछ अर्थों के प्रति दार्शनिक दृष्टि का समावेश रहता है; और जिनके पीछे किसी भी अवधारणा को लेकर तर्क मौजूद होता है; विचार मौजूद होता है, एक सम्पूर्ण बहस मौजूद होती है । सिद्धान्त का वास्तव मे अच्छा या बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसके लिए जिन सूचनाओं, सांख्यिकी आंकड़ों, आदि को आजमाया गया है उनका स्तर और उनकी विश्वसनीयता कितनी है ? उनका संश्लेषण करके निष्कर्ष निकालने में उपयोग करने का प्रयत्न कैसा है ? सिद्धान्त एक प्रकार से व्यवहार का अभिन्न अंग हैं यद्यपि वह उसके व्यवहारकर्ता द्वारा स्वयं जानबूझ कर जोर देकर नहीं बताया जाता । दरअसल

देखा जाए तो कुछ काम ऐसे हैं, जो हम कुछ कारणों से करते हैं । कुछ अध्यापक वही काम करते हैं जो उनसे कहा जाता है। वहीं दूसरे ऐसे भी शिक्षक होते हैं, जो इतने विकसित हो चुके हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये इसकी कल्पना वे स्वयं कर लेते हैं । मोटे तौर पर हम यह तो जानते हैं कि बदली हुई परिस्थितियां, बदले हुए व्यवहार या प्रयोग की मांग करती हैं। हम सिद्धान्तों पर लगातार कायम रह कर कुछ उद्देश्यों को उपलब्ध करने के लिए परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालने की कोशिश भी करते हैं, ताकि हमारा स्वयं अपने प्रति विश्वास बना रहे और हम अपने द्वारा किये जा रहे काम में भी विश्वास रख सकें । इसका सार यही है कि हमारे अन्दर ऐसी प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हम यह मानते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं, उसका युक्तियुक्त, उद्देश्यपूर्ण और क्रियात्मक होना तभी सार्थक है, जब उसमें कोई न कोई सिद्धान्त निहित होता है । हम जो कुछ भी करते हैं, वह यह समझ कर करते हैं कि उन परिस्थितियों में वैसा करना ही सर्वश्रेष्ठ है । इसी बात को तर्क द्वारा निष्कर्षों तक ले जाना और उसके लिए प्रमाणों को प्राप्त करना एक प्रकार से "शैक्षिक सिद्धान्त" के निर्माण में लगना है ।

यद्यपि रॉबिन बैरो का मानना है कि वे ऐसे तर्कों में खुले तौर पर नहीं उलझते, फिर भी जो कुछ भी कार्य-प्रणाली हम अपने लिए तय करते हैं, वह अंतरंग रूप से यह प्रकट करती है कि हम किसी विचार में विश्वास करते हैं । साथ ही किसी अन्य विचार में विश्वास नहीं भी करते । यह सच है कि सिद्धान्तों की कमजोरी का अर्थ जरूरी नहीं कि व्यावहारिक कमजोरी भी हो । कोई भी आदमी इस विचार पर कायम रह सकता है । जैसे रूसो का सैद्धान्तिक लेखन मूल रूप से विरोधाभासों और विसंगतियों से भरा है, फिर भी वह जो कुछ करना चाहता है वही उस काम को करने की अत्यंत ही उत्कृष्ट प्रणाली है । इसका मतलब तो यह हुआ कि हो सकता है कि कोई बात अपने आप में तो सच हो, मगर उसके पक्ष में दिया जाने वाला कोई तर्क उतना वजनदार न हो । ऐसा निश्चित रूप से होता है । हम केवल इतना जान सकते हैं कि किसी विशेष प्रकरण में हम कोई तर्क दे सकते हैं, जो एक प्रकार से सिद्धान्त का ही दूसरा रूप होगा। वह यह भी साबित करेगा कि हमारी चर्चा का जो मुद्दा या सवाल था, वह सही था ।

नील के लिए सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण है । इसलिए वह सिद्धान्तों में अन्य किसी भी सिद्धांतवादी की तरह ही उलझता है । यही वजह है कि नील की पुस्तक में भी वे ही निराकार, अमूर्त या ऐसे काल्पनिक तर्क और विचार हैं जो यह कहते हैं कि बच्चे यह करें, ऐसा करें, वैसा करें, क्योंकि बच्चों को ऐसा करने के तमाम सिद्धान्त मनोविज्ञान में पूरी तरह डूब-डूबकर निकाले गए हैं । नील का शैक्षिक सिद्धान्तवाद उचित है या नहीं, यह मुद्दा यहां बहस के लिए नहीं है लेकिन यह निर्विवाद है कि नील सिद्धांतीकरण की कोशिश लगातार करता है । शिक्षा में क्रांति के नाम से नील भले ही रैमर या इलिच की तरह किसी भी संस्थावाद को नहीं स्वीकारत; और न ही उसका सिद्धान्त, जो है, उसे निरस्त करने का रहता है । फिर भी इसका मतलब यह नहीं है कि हम नील की यह थीसिस स्वीकार कर लें कि शिक्षा में सिद्धान्तीकरण आवश्यक है। ऐसी किसी भी स्थिति को सहन करना एक प्रकार से सिद्धान्तीकरण की आलोचना और उसमें निहित खोज की संभावनाओं को नकारना है । मात्र यह कह देना कि सिद्धान्त में क्या रखा है: एक प्रकार का बहाना ही नहीं बल्कि शिक्षा के तथाकथित अकादमिशियनों का शून्य में भटकाव है ।

हमें एक और भी सवाल में भेद करना होगा और जानना होगा कि क्या सिद्धान्त और व्यवहार का एक दूसरे से संबंध होना अलग सवाल है? क्या कोई विशिष्ट सैद्धान्तिक उड़ानें तर्कसंगत और व्यावहारिक हैं? यहां हमें व्यावहारिकता के मुद्दे को खासकर ध्यान में रखना होगा और ऐसी गलत मान्यता बनाने से बचाना होगा कि कोई कितना व्यावहारिक है, ताकि किसी न किसी तरह यह साबित हो जाय कि शिक्षा का हर काम, हर अभ्यास मात्र सिद्धान्तों और विचारों के परीक्षण की ही जन्मभूमि है । किसी भी शिक्षा-सिद्धान्त के बारे में हम केवल इस आधार पर निर्णय नहीं दे सकते कि वह कितना व्यावहारिक है । हम केवल सिद्धान्त के प्रत्यक्ष या व्यावहारिक पक्ष को देख कर ही सिद्धान्त का औचित्य नहीं ठहरा सकते बल्कि हमें तो उन तर्कों को भी देखना होगा जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते और जो लम्बे समय बाद उस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप बच्चों में दिखाई देने लग जाते हैं अथवा शिक्षा के जिन हजारों उद्देश्यों की कल्पना की जाती है, उनकी प्राप्ति में उन सिद्धान्तों के मतलब निकालने, उनसे सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश में भी दिखाई देने लगते हैं और हम यह मानने लगते हैं कि किसी मान्य सिद्धान्त को ही सचमुच व्यवहार की जमीन पर उतारा गया है । नीलवादियों के इस विचार में रॉबिन बैरो को थोड़ा अतिवाद ही लगता है । सिद्धान्त के बारे में ऐसे सोच का मतलब तो यह हुआ कि यह मान लिया जाय कि एक 'स्कूल व्यवहार में अच्छा चल रहा है या नहीं या इसके पीछे कोई ऐसी धारणा होना जरूरी है कि जिसकी पृष्ठभूमि में कोई सिद्धान्त निहित है या नहीं । इसका आगे बढ़कर यह अर्थ भी निकाला जाएगा कि सिद्धान्तों का अनुपस्थित होना, निर्णयों का गलत होना है; और किसी भी स्कूल के अच्छे या बुरे चलने का निर्णय सिद्धान्तों के बिना किया जाना एक प्रकार से गलत निर्णय किया जाना होगा । इस बात को नील के सिद्धान्त-व्यवहार द्वंद्व के साथ रख कर रॉबिन बैरो आगे बढ़ाता है । वह एक दूसरा तर्क और खड़ा करता है । हम जब अंतिम रूप से किसी सिद्धान्त या विचार की व्याख्या या परीक्षा करें तो हमें यह तो भेद करना ही होगा कि कोई विचार वास्तविकता से जुड़ा है या नहीं या वह केवल इसीलिए सही है कि व्यावहारिक है। इसका मतलब तो यह हुआ कि किसी विचार या दावे को सही या प्रामाणिक इस आधार पर मान लिया जाय कि उसको हम क्रियान्वित होते देखकर यह कहें कि हम स्वयं वास्तव में किसी सिद्धान्त के अन्दर मौजूद उस शक्ति का परिणाम हैं जिससे उसे क्रियान्वित किया जा सका। रॉबिन बैरो का यहां तक कहना है कि यह सच है कि नील का समरहिल स्कूल वास्तव में व्यावहारिक आधार पर चलता है लेकिन इससे इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती कि वह किसी सिद्धान्त विशेष के कारण ही चल रहा है तथा इसी कारण वह एक अच्छा स्कूल बन गया । उसका अच्छा स्कूल कहलाना इस बात पर निर्भर करता है कि वह यह साबित करे कि उसने जो कुछ तय किया था, उसे सफलतापूर्वक उपलब्ध किया है जो यह तथ्य प्रकट करता है कि -

(क) यदि वह अच्छा स्कूल है तो हम उसके उद्देश्यों और आकांक्षाओं के साथ उन विकल्पों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करें जो उन्हें उपलब्ध करने के साधन बने हैं,

(ब) और इस प्रकार हम यह भी सोचें कि समरहिल-स्कूल जैसी कोई सैद्धान्तिक खोज आवश्यक है या नहीं ? वह हमें किसी निष्कर्ष की ओर जाने की इजाजत देती है या नहीं?

रॉबिन बैरो नील की थीसिस में विशेष उत्तेजना नहीं देखता । वह मानता है कि अपने विचारों के अनुकूल किसी स्कूल की स्थापना का काम कर दिखाना कोई बहुत बड़ी अक्लमंदी नहीं है न ही यह हमारे विचारों को सही साबित करने का तरीका है । ज्यादा से ज्यादा वह इतना ही कर सकता है कि वह यह पुष्टि कर दे कि हमने अपने सिद्धान्त के अनुरूप जो घटित होने का सोचा था, वह घटित हुआ है । इस कारण कुछ हद तक यह भी पता चल जाए कि हमारा सिद्धान्तवाद का सिद्धान्त बड़ी ही मजबूत नींव पर खड़ा है ।

नील और रूसो: खुशी की खोज –

रुसो इस दुनिया से नाराज है और नील भी दुनिया को पसंद नहीं करता है। रूसो की ही तरह नील यह मानता है कि हमारी यह तथाकथित सम्माननीय दुनिया यानी **शर्म और निन्दा** से भरपूर है । मनुष्य की आत्मा और उसकी अपनी प्रकृति के बीच जो द्वन्द्व है, उसे तोड़ना जरूरी है । यहां आत्मा का मतलब रूसो, मूल्यों का सामाजिक एवं कृत्रिम ढंग से व्यवहार मानता है जो सीखने की पूरी कल्पना के ही खिलाफ है । मूल्यों की बात नील भी अपने ढंग से उठाता है। नील न केवल ओछेपन, ढोंग और बनावटीपन के विरुद्ध है बल्कि वह तो इनसे नफरत की भी माँग करता है। वह मानता है कि जीवन की हर तरह की मुश्किल इन मूल्यों में निहित है या यों कहें कि ये अनेक प्रकार की विकृतियों से जुड़े हुए हैं। नील को यह भी विश्वास नहीं कि राजनैतिक साधनों से दुनिया का उद्धार हो जाएगा, क्योंकि राजनीति में जो थोड़ा बहुत अच्छा भी है, वह भी तो नफरत की ही बुनियाद पर खड़ा है। कई लोग सोशलिस्ट इसलिए हैं कि वे सिर्फ धनवानों से नफरत करते हैं न कि गरीबों से उन्हें प्यार है ।

नील रूसो की तरह समाज सुधार का भी हिमायती नहीं है । इसका मतलब यह नहीं कि वह सुधारों को महत्वहीन मानता है। लेकिन उसे लगता है कि वह काम उसके योग्य नहीं है । वह मानता है कि **हमारा समाज इतना दुःखमय और जड़ इसलिए है कि यहां हमारे ही बच्चों की स्वतंत्रता का अभाव है** । बच्चों की इस स्वतंत्रता के अभाव ने उन्हें अमानवीकरण की तरफ धकेला है । वे पढ़–लिखकर भी इस तरह प्रशिक्षित होते हैं कि उनमें इस कदर नकारात्मकता पैदा हो जाती है कि वे हर काम, हर चीज के प्रति "नहीं" कहने लगते हैं। पढ़–लिखकर उनमें खुशी बजाय नाराजगी और नफरत पैदा होती है । अतः अभी उस तरह की शिक्षा की खोज जरूरी है, जिससे असली खुशी हासिल होती हो । नील मानता है कि यह दुनिया इसी तरह चलती रहेगी। **स्कूल का काम या शिक्षा का काम फूहड़ समाज सुधार का कार्यक्रम न होकर बच्चों की खुशी लौटाना है** । इसलिए नील का समरहिल स्कूल समाज की उपस्थिति का इस तरह पोषक नहीं कि हर जगह उसे समाज ही समाज दिखाई दे । वह समझता है कि बच्चों के प्रति दृष्टिकोण बदलेगा, उससे खुशी का सही सूत्रपात होगा और यह दुनिया जैसी भी है, बच्चा यहां खुशी और आनंद के साथ जीना सीखेगा । नील खुशी का कोई खास अर्थ तो नहीं देता मगर रूसो की तरह खुशी को एक प्रकार का संतोष ही मानता है । यदि खुशी का वास्तव में कोई आंतरिक अर्थ है तो वह है–कुशलतापूर्वक रहना, संतुलन होना ,और जीवन में संतुष्ट अनुभव करना । नील का यह दावा है कि दुनिया के तमाम अपराध, संसार की सभी नफरतें अंततः दुःख–सुख में बदलती हैं । नील इस बात को भी नहीं मानता कि खुशी किसी त्याग या बलिदान की माँग करती है । नील तो बच्चों की उस

खुशी का हिमायती है जो आज उन्हें अपने वर्तमान में हासिल हो ताकि भविष्य की खुशी का रास्ता वे अपने आप तलाश लें ।

रूसो और नील में एक बुनियादी फर्क है । रूसो के मन में मनुष्य की एक निश्चित छवि है । उसके आधार पर वह एक ऐसी शिक्षा प्रणाली चाहता है जो उस छवि का निर्माण कर सके । रूसो की "एमिली" सतत् रूप से शिक्षक से नियंत्रित है । नील जो कहता है वह करना चाहता है । जब वह मानता है कि बच्चों को जब किसी एक परिवेश में रख दिया जाता है, तो फिर उन्हें वहाँ अकेला छोड़ दिया जाना चाहिये, ताकि वे अपना मनपसंद काम कर सकें । यदि बच्चे स्वतंत्र और अकेले रहें तो वे तुरंत आनंदित भी होंगे और अपनी सामाजिकता स्वयं तय करके सामाजिक प्राणी भी बनेंगे । इसके विपरीत रूसो अपनी एमिली को इतिहास पढ़ायेगा, भौतिक शास्त्र पढ़ायेगा और वह भी तब जब वे बड़ी और परिपक्व होगीं । रूसो बच्चों को राजनीति तब पढ़ायेगा जब वे बड़े होकर विदेश यात्रा करेंगे, राज्यों का काम देखेगें। रूसो बच्चों को प्रारंभ से पढ़ने से रोकेगा। यहां तक कि "राबिन्सन क्रूसों" भी देर से पढ़ायेगा। "राबिन्सन क्रूसो" एक अकेले आदमी की रोमांचक कथा है, जिसे आज भी हर उम्र का आदमी पढ़ना चाहता है । नील रूसो की तरह ऐसा कुछ भी नहीं करेगा । रूसो और नील दोनों बच्चों को कक्षा से बाहर रखना चाहते हैं । दोनों ही बच्चों को खेल के मैदान में ले जाना चाहते हैं लेकिन नील बच्चों को उनकी मर्जी से खेलने देना चाहता है । वह "करो और खेलो" के सिद्धान्त की बजाय "खेलो और खुश हो जाओ" के आनंद की ओर बच्चों को छोड़ना चाहता है। नील का दावा है कि उसका "समरहिल स्कूल" बच्चों को स्वतंत्रता देता है जिसका वह दावा करता है । उसके स्कूल में बच्चे सच्ची खुशी पाते हैं।नील यह भी मानता है कि पारंपरिक पाठ्यक्रम में आनंद का कोई प्रावधान नहीं है । ग्रीक, गणित और इतिहास जैसे विषय पढ़कर भी बच्चा न घर में प्यार सीख पाता है और न घर के बाहर बच्चे इन्हें पढ़कर बेझिझक बनते और न उनके पालक ही तनाव रहित हो पाते हैं इसका मतलब यह है कि स्कूलों में पारंपरिक ढंग से पढ़ाये जाने वाले विषय बच्चों और उनके पालकों की चिंता का विषय हैं, बच्चों की स्वतंत्रता को बाँधने के विषय हैं ।

नील और उसका समरहिल स्कूल:

नील का स्कूल 'सेल्फ रेग्युलेशन' यानी आत्म–नियमन के सिद्धान्त का पोषण करता है। इसका मतलब यह हुआ कि स्कूल द्वारा थोपे गए किसी नियम का नियंत्रण बच्चों पर नहीं होता बल्कि बच्चे अपने नियम, और अपने सिद्धान्त को स्वयं ही तय करते हैं । नील का यह मानना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चा किसी भी मुकाम या स्तर पर बाहरी नियमों के आधीन न हो और जन्म से उस पर्यावरण में रहे, जैसा नील चाहता है । शायद नील का यह सोच भी एक प्रकार का अतिवाद है । नील का समरहिल स्कूल वह स्कूल है, जहां फीस ली जाती है और जहां सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के बच्चे आते हैं । ये बच्चे नील द्वारा तैयार किये गये पर्यावरण या माहौल में फिट हो नहीं पाये, जिसका कारण यह था कि ये बच्चे एक विशेष वातावरण की पैदायश थे । नील ने पाया कि इन बच्चों को एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक देख–रेख की जरूरत थी । इसका मतलब यह हुआ कि बच्चा स्कूल में रचे गए किसी भी वातावरण में आए । इसका मतलब यह नहीं कि वह अपने पीछे की सारी दुनिया भूल कर आए ।

बच्चों के लिए स्कूल एक ऐसी जगह है जहां वे जब आते हैं तो पहले से ही वहां कुछ निर्णय ले लिये जाते हैं जैसे–शिक्षक नियुक्त हो जाते हैं, खाने–पीने रहने की व्यवस्था हो जाती है । नील का कहना है कि उसके स्कूल में अधिकांश निर्णय पहले से ही नहीं लिये जाते। नील मानता है कि बच्चा स्वयं ही वास्तिकतावादी होता है । यदि उसे प्रौढ़ों के सुझाव के बिना अपनी ही अक्ल पर छोड़ दिया जाय, तो उसमें इतनी क्षमता और योग्यता है कि वह अपने विकास का तरीका खुद तय कर ले । इसलिए समरहिल में बच्चों पर प्रौढ़ सुझाव लादे नहीं जाते, या प्रौढ़ों के हस्तक्षेप नहीं होते । यहां नील शास्त्रीय संगीत का उदाहरण देता है, वह कहता है कि उसके यहां ऐसा कुछ भी नहीं किया जाता कि जिससे बच्चे ऊँची रुचियों की तरफ जबरन ले जाये जाएं । ऐसी तथाकथित ऊँची रुचि को संभ्रात समाज कितना भी स्वीकारता हो, उसका तब तक कोई मतलब नहीं होता, जब तक वह बच्चे के प्रथम आनंद की स्वीकृति नहीं बनता । इसी तरह समरहिल में बच्चे को किसी पूर्व निर्धारित उद्देश्य की तरह जबरन ले जाने की भी कोशिश नहीं की जाती । यहां तक कि खुशी जैसी चीज भी अपने आप घटित होती है, उसके लिए अलग से कोशिश नहीं की जाती । रूसो की तरह नील भी हिडन करीक्यूलम (प्रच्छन्न पाठ्यक्रम) यानी किसी छिपे हुए अप्रत्यक्ष पाठ्यक्रम की बात मानता है और ऐसा समझता है कि हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था ही झूठ से भरी पड़ी है । इन तरह तरह के झूठों का संचालन हमारे स्कूल यह कह कर करते हैं कि उद्यम, परिश्रम और अनुशासन ही चरित्र के गुण हैं और इतिहास या ग्रंथ शिक्षा है । वास्तव में ये बातें झूठ हैं । इस तथ्य को हम थोड़ी देर के लिए अलग रख दें, तो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण मुद्दा यह दिखाई पड़ता है कि कुछ विशेष प्रकार के स्कूल शब्दों की जगह कर्म के द्वारा संदेश ग्रहण करने के प्रवचन देते हैं । समरहिल ऐसा कोई संदेश या प्रवचन नहीं देता । उसका तो केवल एक ही मंत्र है–"लोगों को अपनी जिन्दगी खुद जीने दो।" शायद भारतीय चिंतक जे. कृष्णमूर्ति भी जब हर प्रकार के सिद्धान्तवाद को नकारने की बात करते हैं, तो वे भी यही बताते हैं कि हमारे अन्दर स्वयं की ताकत है जिसकी खोज करके हम अपना सोचना तथा जीना सब कुछ तय कर सकते हैं । हम बच्चों के लिये धैर्य या सहनशीलता के मूल्यों की शिक्षा की बात करते हैं, जबकि इसके विपरीत स्वयं हमारे अन्दर न तो धैर्य होता है, और न सहनशीलता । कई स्कूल ऐसे हैं जो बच्चों में उस वक्त डर और नफरत पैदा कर देते है जब उन्हें कुछ बाहरी मूल्य अपनाने में स्कूल बाधक बन कर खड़े हो जाते हैं, और स्कूल उन पर अपने कुछ अन्दरूनी तरीकों और दवाबों का इस्तेमाल करते हैं । ऐसे स्कूलों में मनुष्य की सुरक्षा पहली चिंता बन जाती है समरहिल में ऐसा नहीं होता। यहां बहुत खुलापन है । यहां तो कल की चिंता के बारे में सोचा ही नहीं जाता । शायद इस मानी में समरहिल एक प्रकार से रूसो के सोच की ही प्रतिध्वनि है ।

समहरहिल स्कूल में आजादी के कई विरोधाभास भी हैं । वहां एक ही लिंग के बच्चे एक साथ रहते हैं । वहां भी परम्परागत विषयों की पढ़ाई होती है । आजादी है तो यह कि बच्चे जब उनकी इच्छा करें, तब उन्हें पढ़ सकते हैं। और ऐसा, बच्चे स्कूल में कुछ समय बिताने के बाद करते हैं । यहां पढ़ाने की कोई नवीन पद्धति भी नहीं है क्योंकि इससे बहुत ज्यादा फायदा नजर नहीं आता । इस बात के पीछे यह तर्क है कि बच्चे वही सीखते हैं जिसमें उनकी रुचि होती है । वे अपनी रुचि के विरूद्ध कुछ भी सीखना पसंद नहीं करते । रुचि और आनंद के मुताबिक सीखना यहां की पहली प्राथमिकता है। इसलिए यहां कठिन या सरल कुछ नहीं होता ।

यहां बच्चों की कई गतिविधियां हैं, जैसे–बागवानी, चरवाहे बनने का खेल, बढ़ईगिरी, सायकल चलाना, फुटबाल खेलना आदि । यहां आमतौर पर जोखिम भरे और असुरक्षित कामों पर ही पाबंदी है लेकिन ऐसा भी नहीं कि उन्हें बढ़ई का काम करने वक्त रंदा या करवत न चलाने दी जाती हो । इस स्कूल की एक खासियत यह भी है कि यहां बच्चों को प्रायवेट शिक्षण का मौका भी दिया जाता है। नील खुद भी प्रायवेट शिक्षण करता है । इसके लिए बच्चे नील के पास अकेले या समूहों में आते हैं ।

नील बच्चों के बीच आपसी संवाद को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है । छोटे–छोटे समूहों में बच्चे आते हैं और "हीन भावना" जैसे विषय पर खुल कर बातचीत करते हैं । नील का मानना है कि बच्चों के लिए कोई विषय कठिन नहीं होता । अगर सोचने और बोलने का अवसर दिया जाय तो बच्चे हर विषय पर अपनी बात रख सकते हैं । इसलिए समरहिल स्कूल के बच्चे जिन विषयों पर बात कर लेते हैं वे हैं–चोरी की मानसिकता, मजाक करने की आदत, गैंगस्टर बनने की मानसिकता, किसी आदमी का नैतिकतावादी होना, हस्तमैथुन और भीड़तंत्र आदि। जो बच्चे ऐसे संवादों से प्राप्त अनुभवों को लेकर निकलते हैं, उनके पास अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक विस्तृत ज्ञान और अधिक स्पष्ट और उदार विचार होता है । इस प्रकार बच्चों में अपने आसपास के विषयों की अच्छी जानकारी हो जाती है और उनका पाठ्यक्रम ऐसी क्रियाओं से बनता है, जो रात–दिन वे अपने घरों से करते हैं या देखते हैं । यहां तक कि वे जो नाटक आदि करते हैं, वे भी उनके घरेलू जीवन से जुड़े होते हैं । इससे उनके अन्दर सोच और व्यवहार का परिष्कार अपने आप आने लगता है ।

इसके अतिरिक्त समरहिल में एक प्रकार की लोकतांत्रिक व्यवस्था है और वहां वोटों के अधिकार के आधार पर हर बात बहुमत से तय होती है । यहां बच्चे ही अपने जागने, सोने, पढ़ने, खेलने और भांति–भांति के काम करने के नियम और कार्यक्रम बनाते हैं और उनका संचालन करते हैं । यहां हर बात का इलाज प्रेम है । अपने आप के प्रति ईमानदार और सच्चा बना रहना ही यहां की स्वतंत्रता का हिस्सा है । समरहिल और सच्चा बना रहना ही यहां की स्वतंत्रता का हिस्सा है । समरहिल में एक बच्चे को अपनी जिन्दगी जीने का अधिकार है । उसे यहां जो स्वतंत्रता है, वह ऐसी है जिससे वह व्यक्तिगत रूप से एक अच्छा इंसान बन सके । अपने अन्दर की बुराईयों के प्रति जागरूक बना रहकर उन पर काबू पा सके और समाज के लिए एक उपयोगी और आवश्यक सदस्य साबित हो सके । समरहिल की शिक्षा से नील का तात्पर्य यह है कि शिक्षा एक बच्चे को सद्गुणी बनाये, सचरित्र बनाये, सद्भावयुक्त बनाये । यह बच्चा जब समाज में पहुँचे तो दूसरों के सम्बन्ध में सोचना और उनके लिए काम करने की भावना से प्रेरित हो । इस प्रकार शिक्षा बच्चे के किताबी ज्ञान या अंकों में परीक्षण का माध्यम न होकर एक बालक के संस्कार की रचना का माध्यम है और वही एक बालक का मनुष्य होना और मनुष्य के रूप में व्यवहार करना निश्चित करती है ।

समरहिल में आत्मनियमन और दंड :

नील के लिए समरहिल एक प्रकार से समस्याग्रस्त बालकों के लिए उपयोगी है क्योंकि यहां शिक्षा का मतलब केवल अक्षर ज्ञान कराना है, किताब पढ़वाना या कोई कौशल विकसित करवाना नहीं । नील भी इन्हें बहुत आवश्यक नहीं मानता । यहां शिक्षक की भूमिका

भी एक मनोचिकित्सक की भूमिका है । शिक्षा यहां लगातार व्यवहार और विचार दोनों के परिष्कार का प्रयास करती है । इसलिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यहां ऐसी शिक्षा है जो बालक में निहित बुराईयों को अपने आप बाहर ले आये और बालक को उनके प्रति चेतनावान बनाकर स्वयं सुधरने का अवसर दे । रूसो की तरह ही नील यह मानता है कि स्कूल को कुछ खास विषयों में बच्चों को धकेलने वाली जगह नहीं बनना चाहिये । ऐसे विषयों का ज्ञान बच्चों के लिए बिल्कुल निरर्थक हो सकता है । मान लीजिये एक बच्चा ऐसा है, जिसकी रुचि अपने गांव में लौट कर खेती करने की है अथवा वह अपना पारंपरिक काम लोहारी या बढ़ईगिरी करना चाहता है तो उसे हम बीजगणित के सूत्र क्यों रटवायें ? स्कूल –व्यवस्था की सबसे बड़ी त्रासदी ही यह है कि वह बच्चे को वह सिखलाती है, जो उसके जीवन से कहीं नहीं जुड़ता । उसकी रुचि से भी नहीं जुड़ता और न उस ज्ञान को लेकर वह जीवन में कुछ कर ही सकता है। कितने छात्र ऐसे होते हैं जो मिल्टन, शैक्सपीयर या बर्नार्डशा को पढ़ते होंगे ? कितने बच्चे ऐसे हैं जिन्हें बिथोवन या वॉख संगीत का शौक है? कितने बच्चे ऐसे हैं जिन्हें स्कूल अपनी समस्याओं पर, अपनी यौन इच्छाओं और अपनी आकांक्षाओं पर संवाद करने का अवसर देता है? स्कूल से निकलते ही उनका बीजगणित के सूत्रों और महान साहित्यकारों के साहित्य से सम्पर्क ही टूट जाता है । जीवन उनके लिए अलग चुनौतियों के साथ खड़ा मिलता है, जिनका स्कूल की शिक्षा से कोई रिश्ता नहीं रहता ।

रूसो अपनी एमिली को अलग–थलग रखना चाहता है। वह नहीं चाहता कि समाज के दूषित और विकृत पर्यावरण का प्रभाव उस पर पड़े । नील का भी लगभग वैसा ही मानना है। फिर भी नील बच्चे के संपूर्ण एकांत की बात नहीं मानता । इतना अवश्य है कि स्कूल और जीवन के बीच सम्बद्धता या प्रासंगिकता की बात पर नील का जोर है । नील के आलोचक यह भी कहते हैं कि क्यों यह जरूरी है कि जो कुछ सीखा गया हो, वह हमेशा या तुरंत जीवन से सम्बद्ध हो? प्राप्त किया हुआ ज्ञान कभी भी, कहीं भी काम आ सकता है । नील यह जरूर मानता है कि बच्चे पर अपने वातावरण का प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह अन्य बच्चों के साथ वातावरण में ही तो अन्तर्क्रिया करता है । इसलिये बच्चे के अकेलेपन का अर्थ उस समूह के साथ अकेला होना है, जिस समूह का वह हिस्सा है और जिससे वह संवेदित होता है या जिसके साथ अन्तर्क्रिया करता है । मगर यह सब होना चाहिये बच्चे में स्वयं की प्रेरणा से और बच्चे को लगना चाहिये कि वह जो कर रहा है वह उसी के द्वारा संचालित है । वही उन सब कामों का निर्धारक और संचालक है । नील की स्वतंत्रता और आत्मनियमन की बात पर कुछ शिक्षाविदि् आपत्ति करते हैं । नील समाज के अन्य बच्चों से जब समरहिल के बच्चों को अलग रखने की बात करता है, तो अपनी बात की काट स्वयं ही कर देता है । वह कहता है कि बच्चों पर बाहरी प्रभावों और वातावरण का असर होता है । कम आयु में तो ये प्रभाव बच्चे पर बहुत जल्दी हावी हो जाते हैं । इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि समरहिल की प्रक्रिया ही अविश्वसनीय हैं ? यदि नील वातावरण के प्रभाव को मानता है तो वातावरण और परिस्थितियों से पृथक रखकर बच्चों में किन बातों का विकास करेगा? इसलिए नील के इस विचार में कुछ विरोधाभास है और किसी बालक को अपने पर्यावरण से पृथक रख कर किसी भी प्रकार के सामूहिक एकांत की बात करना वास्तविकता से ही कट जाना है ।

नील का यह भी कहना है कि पुरस्कार या दड बच्चे में सीखने की रुचि पैदा कर देंगे, यह जरूरी नहीं है । नील कहता है कि ये दोनों ही बातें उसे सीखने को न बाध्य करती है और न ही सीखने की गारंटी देती हैं । एक वयस्क में तो पुरस्कार और दंड रुचि पैदा कर सकते हैं मगर बालक के लिए यह आवश्यक नहीं है । कोई भी ऐसा काम न तो बच्चे को बाध्य कर सकता है और न ही उसमें सीखने की रुचि का निर्माण कर सकता है। यद्यपि नील इसके स्पष्ट कारण नहीं देता फिर भी उसका मानना यह है कि सीखना या बच्चे में सीखने की रुचि जाग्रत करना नित्य नवीनता को चाहना है । इसी प्रकार दंड बिल्कुल ही अनावश्यक है । किसी भी बच्चे को लगातार शक की नजर से देखना, उस पर जुर्माना करना या उसे जल्दी छुट्टी न देना–इनसे बच्चे को कुछ नहीं मिलेगा । रूसो की तरह शायद नील यह मानता है कि दंड का अर्थ बच्चे को किसी भी अनैतिकता के विरुद्ध आगाह करना है । शिक्षाविद् रूसो और नील दोनों की इस धारणा का विरोध करते हैं । यदि दंड में हमेशा नैतिकता का ही बोध बना रहा तो बात–बात पर दंड दिया जाने लगेगा । नील का एक तर्क यह भी है कि नैतिकता के लिए दंड देना शायद बच्चे में डर या आंतक पैदा कर सकता है मगर गलती के लिए दंड–शायद ही उसमें सुधार पैदा करे या सुधार की इच्छा पैदा करे । यहां नील रूसो की नैतिकतावादी दंड प्रक्रिया से असहमत होकर यह चाहता है कि दंड देने का अर्थ यह नहीं है कि बच्चे से असहयोग किया जाए; उसको काम करने से रोका जाए, उसकी निंदा की जाए; बल्कि उसमें अपने आप ही ऐसा बोध उत्पन्न हो जाय कि उसने जो किया है, वह गलत है । यह अहसास ही उसके लिए दंड है । इस तरह बच्चा अपनी गल्ती को मानने का जो सबक सीखेगा, वह जीवनोपयोगी होगा ।

नील की मनोवैज्ञानिक निजी शिक्षण प्रणाली

नील अपनी अवधारणा का आधार मनोवैज्ञानिक परिक्षेत्र से चुनता है । एक तो वह बाल–मनोविज्ञान द्वारा स्थापित और घोषित कुछ प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में पूरे शिक्षण को देखता है । दूसरे, वह मानता है कि निजी शिक्षण या प्रायवेट शिक्षण में बच्चे के साथ एक प्रकार का मनोचिकित्सक बनना पड़ता है । इसलिए कुछ मानवीय गुणों और व्यवहारों के अन्तर्गत ही सीखने–सिखाने की प्रक्रिया निर्धारित करना जरूरी है । नील का कहना है कि हर आदमी दिल से अच्छा होता है । हर अपराध एक प्रकार की बीमारी है । इन कथनों की मनोवैज्ञानिकता की खोज के बिना इन्हें स्वीकारना ठीक नहीं । इसलिए वह मनोविज्ञान को अवलोकन के माध्यम से अभिप्राय निकालने का तरीका भी मानता है । नील मनोविज्ञान को एक प्रकार की व्यवस्थित प्रणाली तो मानता है लेकिन कई बार वह स्वयं ही इस व्यवस्था के विरोध में चला जाता है । वह मानता है कि मनुष्य की कोई भी अतृप्त इच्छा या वासना उसके अवचेतन में हमेशा मौजूद रहती है । जहां वह इस कथन को मानने इंकार करता है वहीं फ्रायड और रीश में एक प्रकार के पागलपन की हद तक वह विश्वास करता है; और फ्रायड की इस बात को भी मंजूर करता है कि हर प्रकार का मानसिक विकास यौन कुंठा के दबाने का परिणाम है ।

नील के मनोवैज्ञानिक आधारों में अनेक विरोधाभास हैं । वैसे तो हर अध्यापक के पास कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक आधार होता हैं मगर जब हम किसी सिद्धान्त रचना का काम करते हैं तो हमारी मान्यताओं में स्वयं ही कुछ टकराव पैदा हो जाते हैं । वह मानता है कि बुरे लक्षण

मानसिक विकार के परिणाम हैं । इसलिए कोई भी समस्या--बालक नील के स्कूल में आकर सामान्य बालक बन सकता है । इस बात से इंकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि एक बालक को स्कूल का परिवेश, व्यवहार और सिखाने की प्रणाली मोहित कर ले, तो उसमें परिवर्तन आकर ही रहेगा । इसलिए कभी हम समस्या–बालक, कभी प्रसन्न बालक और कभी सामान्य बालक की बात करते हैं । ये शब्द मनोविज्ञान से आते तो जरूर हैं मगर यदि नील के विचार पर गहराई से सोचें तो क्या ऐसा नहीं लगता कि स्कूल, सामान्य के अंदर ही समस्या और प्रसन्नता की खोज करता है । जिसे हम समस्या–बालक कहते हैं, उसकी मनोदशा भी स्कूल में उसी हद तक स्वीकार्य है, जिस हद तक स्कूल उस समस्या के निदान और निराकरण की खोज कर सकता है । इसका एक अर्थ यह भी है कि स्कूल भले ही मनोचिकित्सक की भूमिका अदा करे मगर गंभीर मानसिक असंतुलनों के इलाज का अस्पताल नहीं बन सकता।

नील जब बालक के सद्गुण, नैतिक चरित्र और मानसिक विकास की बात करता है तो समरहिल के सिद्धान्त के अनुसार वह उसकी स्वतंत्रता और रुचि की भी बात करता है । उसका कहना है कि स्व–नियमन से आत्मविकास अपने आप आता है । बालक अपने नियम रचता है और अपने आप उनके पालक की प्रणाली विकसित करता है । उसकी रची गई प्रणाली में उसका विश्वास उसकी आस्था और उसका सम्मान होता है । जहां तक बालक को दी जाने वाली स्वतंत्रता है, वह सीखने और खेलकर काम करने की स्वतंत्रता है । यदि बालक सोफे पर कूदता है, मारपीट करता है, दूसरे की आजादी में दखल देता है या ऐसी उच्छृंखलता करता है कि हाथ पैर टूट जाएं या चोट आ जाए, तो उस स्वतंत्रता का नियमन स्वयं बालक के अन्दर ही पैदा करना जरूरी है। ऐसा उसे अपने व्यवहार की जिम्मेदारी सौंप कर किया जा सकता है । मगर नील का यह भी कहना है कि ऐसा सब कुछ बालक की प्रसन्नता और उसके आनंद की कीमत पर नहीं होना चाहिये। ऐसा करने के लिए उसमें सकारात्मक रुचि पैदा करना होगी ।

रुचि को लेकर भी नील मानता है कि रुचि बच्चे पर जबरन लादी नहीं जा सकती । हम बच्चे पर ध्यान देने या उसका ध्यान केंद्रित करने का दबाव तो पैदा कर सकते हैं, मगर रुचि विकसित करने का दबाव नहीं रच सकते । रुचि को लेकर भी नील दो बातें पेश करता है– एक तो यह कि रुचि का केन्द्र एक जैसा नहीं हो सकता, क्योंकि रुचि स्वाभाविक रूप से हर व्यक्ति में अलग–अलग प्रकार की होती है। और दूसरे यह कि रुचि पैदा करने को बाध्य करने का मतलब होगा बच्चे में और ज्यादा असमंजस पैदा करना । रुचि रची जा सकती है, यह एक प्रकार का भ्रम है । यदि रुचि रचने के लिए बाध्य किया गया तो बच्चे में वही मेनफ्रेड सिन्ड्रोम पैदा हो जाएगा। नील की यह बात कुछ सिद्धान्तविद् नहीं मानते । वे कहते हैं कि यह कहना कि कोई बच्चा शास्त्रीय संगीत सीखना पसंद नहीं करता, फिर भी उसे सीखने के लिए बाध्य किया जाए, तो रुचि पैदा हो जाएगी । यह गलत है– मगर यह उतना ही सही भी है कि स्कूल में रुचि पैदा भी की जा सकती है और नष्ट भी की जा सकती है । रुचि उम्र के आधार पर

भी निश्चित होती है । एक छोटी उम्र के बच्चे से हम यह उम्मीद नहीं कर सकते कि वह बढ़ईगिरी में रुचि ले और न एक बड़ी उम्र के बच्चे से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह कंचे खेलकर गिनती सीखे या तीन पहिये की सायकिल पर बैठ कर गाना गाये । स्कूल तो बच्चे के सामने उनका अनदेखा, असोचा संसार रचता है! बच्चा जब उन्हें अपने आश्चर्यों के साथ देखता है, तो स्वयं ही यह चुन लेता है कि उसके अनुकूल क्या है ? स्कूल को बच्चे के इस चुनाव पर ध्यान देना है ।

नील का समरहिल स्कूल एक प्रकार से बाल–स्वतंत्रता और आत्म नियंत्रित लोकतंत्र की जगह है । नील इलिच, रैमर, पोस्टमन या पाल गुडमन की तरह रेडिकल नहीं है न ही वह स्कूल की अनिवार्यता को निरर्थक मानता है । वह इतना अवश्य चाहता है कि स्कूल का अर्थ हो। बच्चे के आनंद की जगह, उसकी रुचि की जगह, उसकी आजादी की जगह । यहां रह कर वह अपनी रूचि स्वयं रचे, अपना चरित्र स्वयं रचे और अपने सीखने का तरीका भी स्वयं ही खोजे। नील वैसे रूसो की तरह नैतिकतावादी भी है, और बच्चों के सामूहिक एकांत में विश्वास करता है। नील जानता है कि समाज के परिवेश का पर्याय स्कूल नहीं हो सकता। स्कूल को समाज से भिन्न एक परिवेश रचना होगा क्योंकि बच्चा जब समाज में लौटेगा तो उसे लगना चाहिये कि जिस समाज से वह स्कूल गया था, उस समाज को और अधिक बेहतर बनाने का तरीका उसे स्कूल ने ही दिया है । इसलिए **स्कूल एक प्रकार का बेहतर समाज है** और नील का अभिप्राय भी यही है कि बेहतर सामाजिकता ही बेहतर नागरिकता और मनुष्यता है । आत्मनियमन और आत्मसंचालन की प्रक्रिया ही तो अंततः लोकतंत्र के मूल्य रचती है। फिर स्कूल क्यों न इनके पूर्वाभ्यास की जगह बने ताकि लोकतंत्र और स्कूल एक दूसरे के पूरक बन सकें ।

अध्याय - 6

शिक्षा में निष्ठाहीनता का संकट : नील पोस्टमन और वैन गार्टनर

बालक को छिद्रान्वेषी होना चाहिये । ऐसा व्यक्ति जिसका विकास छिद्रान्वेषक के रूप में बौद्धिक संसाधन की तरह हुआ है और जिसमें इस तरह की क्षमता है, वही परिवर्तन को पहचानता है; उन विभिन्न समस्याओं के प्रति संवेदनशील होता है, जो परिवर्तन का माहौल बनाती हैं ।

शिक्षा : एक निष्ठाहीन बिगाड़ की गतिविधि ?

नील पोस्टमन और चार्ल्स वैन गार्टनर ने संयुक्त रूप से शिक्षा पर एक किताब लिखी है, जिसका नाम है- **"शिक्षा एक निष्ठाहीन एवं बिगाड़ की गतिविधि"** । वे वर्तमान स्कूल प्रणाली को परखते हुये शिक्षा के नाम पर होने वाले काम के प्रति घोर घृणा व्यक्त करते हैं। वे मानते हैं कि हमारे आज के समाज के सामने कई समस्याएँ हैं । अगर उन समस्याओं का हल निकाला नहीं गया तो यह समूचे समाज के अस्तित्व के लिये भयानक खतरा होगा । पोस्टमन और वैन गार्टनर का मुख्य स्वर ही यह है कि "अगर हम इन समस्याओं के हल के लिये कुछ करना चाहते हैं तो आखिर क्या करें ? उनकी बात का एक ही सार है कि ऐसी स्थिति का हल शिक्षा के द्वारा सही सामंजस्य स्थापन है । वे शिक्षा को समस्या-हल का साधन मानते हैं, न कि प्रणाली को । ये दोनों लेखक यह मानते हैं कि स्कूल केवल झूठ बोलना सिखाते हैं और वे शायद ही कोई भला करते हों । यद्यपि ये दोनों लेखक इलिच-रैमर की तरह तो नहीं सोचते, फिर भी वे शिक्षा के जरिये समाज के अस्तित्व को बचाने की बात जरूर सोचते हैं । वे चाहते हैं कि स्कूल इस बात को पहचाने कि जिस दुनिया में हम रह रहे हैं जी रहे हैं, वहां लगातार परिवर्तन हो रहे हैं, इसमें गति है, सार्वभौमिकता है । इसलिए ऐसे स्कूलों का विकास करें, जो परिवर्तन के लिये अच्छी तरह से निपट सकें, और युवा पीढ़ी को ऐसी आवश्यक बातें बतानें में मदद कर सकें, जो इस बदलती दुनिया में जीने के लिये जानना जरूरी है । परिवर्तनों को पहचान कर उनके साथ-साथ चलने का एक परिणाम यह होगा कि युवा-पीढ़ी कठिन परिस्थितियों का सही ढंग से मुकाबला करना सीख जायेगी । स्कूल-प्रणाली को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे युवा वर्ग में उन क्षमताओं के इस्तेमाल की समझ आ जाए, जो इस दुनिया में जिन्दगी के सामने आने वाली अनचीती कठिनाइयों, अनिश्चितताओं और अवसरों में कारगर साबित हों । पोस्टमन और वैन गार्टर इसके लिए हमें कुछ व्यूह रचनाएँ भी बताते हैं।

नील पोस्टमन और वैन गार्टनर के तर्क की मुख्य बात यह है कि बालक को "छिद्रान्वेषी" होना चाहिए, क्योंकि विवेकवान या युक्तियुक्त होने का सबसे बड़ा गुण ही छिद्रान्वेषण है ।

के पक्ष में उनके कई तर्क हैं छिद्रान्वेषण का पहला तो यह कि इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है । दूसरे, वे ऐसे तमाम विचारों को अलग हटा देते हैं, जो "विवेकराम्मतता या रेशनेलिटी के विकल्प के रूप में विशेषकर जुड़े रहते हैं । यह बड़ी ही मुश्किल बात है कि हम कोई ऐसी बात सोच लें, जिसे हम पारंपरिक ढंग से युक्तियुक्त कहते हैं और उसके लिए कुछ उदाहरण भी गढ़ लेते हैं। लेकिन जब हम इसके अन्दर की बुराइयों को छाँटने लगते हैं, तो सबसे पहले, हमें स्वयं अपनी पूर्वमान्यताओं और अनुमानों को चुनौती देना होगी । इतना ही नहीं, उन उदाहरणों को भी चुनौती देनी होगी जिन्हें हम तार्किकता या युक्तियुक्तता के पक्ष में रूढ़िवादी तरीके से देते रहे हैं । तीसरा तर्क यह है कि "छिद्रान्वेषण" बिल्कुल ही अंटसंट और अस्पष्ट तरीका है, इसलिये उसमें काफी हद तक लचीलापन है ।

ऐसा व्यक्ति जिसका विकास "छिद्रावेषक" के रूप में बौद्धिक संसाधन की तरह हुआ है और जिसमें इस तरह की क्षमता है, वही परिवर्तन को पहचानता है उन विभिन्न समस्याओं के प्रति संवेदनशील होता है, जो परिवर्तन का माहौल बनाती हैं । उसी व्यक्ति में सर्वाधिक प्रभावशाली वह बौद्धिक औजार होता है, जिससे वह व्यवस्था को उलट पुलट कर सके या जिसे मानवशास्त्री-आयाम कहा जाता है । इस कथन का अथ नील पोस्टमन और वैनगार्टनर के लिए यह नहीं है कि उस व्यक्ति ने किसी मानवशास्त्र का अध्ययन किया हो इतना जरूर है कि वह व्यक्ति इस दुनिया में पाये जाने वाले अनगिनत रीति-रिवाजों और गलत फहमियों से परिचित है न वह व्यक्ति अपने दृष्टिकोण में संकुचित होता है; और न यह मानकर चलता है कि जिन बातों को वह जानता है, वही उन चीजों को देखने का सबसे अच्छा तरीका है । वह तो पूर्वग्रहों से युक्त रहता है । वैसे तो हममें से कोई भी पूर्वग्रह-मुक्त नहीं है। न ऐसा है कि हम परिचित चीजों से प्रभावित होते हों। फिर भी हममें से हर एक के अन्दर एक अन्दरूनी छिन्द्रावेषक रहता है, जो एक सामान्य गुण से ज्यादा है । लेकिन जो सक्षम छिद्रान्वेषक है, उसकी खासियत या लक्षण यह है कि वह समाज की ऐसी एकतरफा कल्पनाओं से पूरी तरह जकड़ा नहीं रहता जिसके बीच रहकर ही उसे बड़ा होना पड़ा है । यदि हम ज्ञान की सापेक्षता को नकारने की प्रवृत्ति से ग्रस्त रहे, (जो प्रायः कई लोगों में मूर्खता की हद तक देखी जा सकती है) तो हम काफी युक्तियुक्त हैं। इससे एक व्यक्ति कई चीजों के बीचों-बीच भी व्यक्तिगत रूप से एक छिद्रावेषक के रूप में अपना विकास कर लेता है और इस तरह वह व्यक्ति किसी विशिष्ट विचारधारा, धर्म या अपने समाज के किसी सामान्य दृष्टिकोण के प्रति बिना सोचे समझे समर्पित हो जाने वाली भावना से बच जाता है । पोस्टमन और वैन गार्टनर जिस उलट-फेर की बात करते हैं, वह उसी सोच -समझरहित यथास्थिति के उलट-फेर की है, जिसे वे आगे बढ़ाना चाहते हैं अर्थात् ये दोनों लोग एक सोच-विचार कर किये जाने वाले उलट-फेर को शिक्षा की जरूरत मानकर प्रोत्साहित करते हैं । उलट-फेर की इस संभावना के मौजूद होने पर सच्चा छिद्रान्वेषक उसे पहले भांप लेता है । वह किसी चीज को पहले से अपने आप ही छिद्रयुक्त नहीं मानता । फलस्वरूप अगर कोई किन्हीं सांस्कृतिक मानदण्डों को खारिज कर उन्हें बकवास मानता है तो इससे साबित यह नहीं होता कि वह व्यक्ति सही माने में एक सक्षम छिद्रान्वेषी है।इसलिए छिद्रान्वेषी को छेद पैदा करने वालों के साथ रखने का भ्रम नहीं पालना चाहिए ।

हमारे युग की दो प्रमुख एवं केन्द्रीय विशेषताएँ है –(1) संस्थागत नौकरशाही का प्रभुत्व और (2) प्रौद्योगिकी, खासकर न्यूनतम संचार माध्यम। इन दोनों को आधार मानकर अब यह तर्क दिया जा रहा है कि शिक्षा, व्यक्ति के अन्दर छिद्रान्वेषी तत्व का विकास इन दो विशेष तत्वों के सन्दर्भ में करे । हमें बच्चों का पालन–पोषण इस तरह से करना चाहिए कि वे ऐसी चीजों के बारे में सवाल कर सकें । यह पूछ सकें कि उनसे क्या लाभ हैं, न कि उनके प्रभुत्व के आगे आत्मसमर्पण कर दें। ऐसा करने से वे ऐसी चीजों को उलट सकेंगे जो अराजकता और उपयोगहीनता पैदा करती है । इस कारण एलविन टॉफलर की भाषा में उस तत्व के शिकार न हों, जिसे टॉफलर "भविष्य का सदमा" कहता है । टॉफलर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "फ्यूचर शॉक" में कहता है कि "भविष्य का सदमा वह है जिसका आप अनुभव करते हैं उस समय, जब आपको यह मालूम होता है कि जिस दुनिया के प्रति आस्था रखने के लिये आपको शिक्षा दी गई है, ऐसी किसी दुनिया का अस्तित्व ही नहीं है" ।

इस प्रकार एक ऐसा विरोधाभास इन बातों से निकल कर आता है, जो शिक्षा के आदर्श और कथित रूप से शिक्षा के व्यवहार के बीच मौजूद है । यदि मार्शल के फलूहन के सिद्धांत "माध्यम ही संदेश है" के सन्दर्भ में देखें तो पोस्टमन और वैन गार्टनर ऐसे सिद्धान्त को बिना झिझक और पूरे उत्साह से निगल जाते हैं और पचा जाते हैं । यह भी अत्यंत विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि मैकलूहन का सिद्धांत एक बढ़ा–चढ़ा कर बयान देने की परंपरा का ही सामान्य उदाहरण है, जो अभी तो ध्यान आकर्षित कर लेता है, थोड़े चिन्तन की मांग करता है, लेकिन जब हम उसके शब्दशः अर्थ को पकड़ते हैं तो पूरा झूठ नजर आता है । जब उसके अन्दर का बड़बोलापन थोड़ा कम किया जाता है, तो एक सतही तौर पर कही जाने वाली हकीकत ही तरह भी लगता है । इस प्रकार यह कहना भी गलत है कि जिस तरह एक व्यक्ति संदेश को प्रस्तुत करता है, उसी तरह वह व्यक्ति हमेशा संदेश देना चाहता है ।शायद यह सुझाना भी गलत है कि कोई व्यक्ति जो सम्प्रेषित करता है, वह उसके कहने के ढंग में ही निहित होता है । इसके विपरीत बात यह है कि कई बार स्पष्ट रूप से यह प्रकट हुआ है कि व्यक्ति जो भी कहना चाहता है, वह न जाने कहां लुप्त हो जाता है । उसके अलावा पर्यावरण स्वयं ही प्रस्तुति के तरीके से उस नाजुक और महत्वपूर्ण संदेश को देता है। उन लोगों की समझ और मनोवृत्ति को पूरी तरह नियंत्रण में रखते हुए, जो संदेश देने व लेने में हिस्सेदार हैं । वास्तव में यह अप्रत्यक्ष पाठ्यक्रम सिद्धान्त है, जिसे हिडन करीक्यूलम का आधुनिक नाम दिया गया है। इसमें कुछ संशोधन या इसकी कुछ मंजाई की गई है । यह भी सुझाया गया है कि जो कुछ ऊपर से दिखाई देने वाली विषय–वस्तु है, वह भी महत्वपूर्ण है । इस प्रकार पद्धति और विषयवस्तु को त्यागा नहीं जा सकता है । पोस्टमन व वैन गार्टनर के अनुसार किसी भी सीखने के अनुभव की जो नाजुक विषयवस्तु है, वह पद्धति न होकर प्रक्रिया है जो सीखने के दौरान घटित होती है ।

नील पोस्टमन और वैन गार्टनर दोनों को ही वर्तमान स्कूली शिक्षण–प्रणाली पर आपत्ति है । यह प्रणाली केवल स्मृति पर जोर देती है, न कि स्वयं पहल करने पर स्थापित मान्यता को चुनौती देने और उन पर स्वयं सोच–विचार एवं चिन्तन करने को । स्कूली प्रकिया में बच्चों को अवलोकन, परिभाषा–निर्माण, प्रश्न करने, समस्या का निर्धारण कर उसका हल खोजने आदि बातों का अवसर ही नहीं मिलता । ऐसे माहौल में उन पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यह

कि वे ऐसी मानसिकता बना लेते हैं और सोचने लगते हैं कि उनका काम प्रश्न करना, तर्ककरना, अवलोकन या खोज करना नहीं है बल्कि ज्ञान का सारा सत्य केवल शिक्षकों में या कुछ तथाकथित शिक्षित उपदेशक लोगों में ही निहित है । इसका एक परिणाम यह होता है कि बाल्यकाल में स्कूल के प्रति जो धारणा उनमें बनती है, वह इतनी गलत होती है कि जब किशोर या युवा उम्र में वे स्कूल के बारे में सोचते हैं तो उनकी स्वप्न की सारी मान्यताएँ ध्वस्त हो जाती हैं वे सोचने लगते हैं कि स्कूल से जो उन्होंने सीखा है वही सही है। इस प्रकार उन्हें स्वयं अपने ज्ञान पर संदेह या भ्रम पैदा होने लगता है । स्कूल में प्रदत्त ज्ञान की इस प्रक्रिया को लेकर पोस्टमन और वैन गार्टनर साधन, ज्ञान आदि पर अलग–अलग बहस करते हैं ।

साधन का अर्थ :

पोस्टमन और वैन गार्टनर वर्तमान स्कूल प्रणाली को वास्तविकता की ऐसी छाया मात्र मानते हैं, जिसे वास्तविकता मान कर गलत समझा गया है । ये तो कहते हैं कक्षा में बच्चे, शिक्षक जो कुछ चाहते हैं, उसका अंदाज लगाकर जवाब देते हैं । शायद शिक्षक द्वारा चाहे गए उत्तर देकर वे उसे खुश भले ही कर दें पर शिक्षक सच पूछा जाए तो बच्चों के मन की वास्तविकता को समझ ही नहीं पाता है । वास्तव में सही उत्तर जैसी कोई चीज है ही नहीं । हमेशा या तो प्रशंसा योग्य तर्क–संगत उत्तर हो सकते हैं, या मूर्खतापूर्ण, भ्रामक और बेहूदा । अगर हम स्वयं ही यह पूछे कि भारत की मुख्य नदी कौन सी है ,तो बालक फौरन यह पता लगा लेता है कि शिक्षक इस प्रश्न का क्या उत्तर चाहता है । फिर तर्कसंगत ढंग से वह उत्तर दे देता है । यहीं आकर "शिक्षित होने" और "ज्ञानवान" होने का द्वंद पैदा होता है । अधिकांश लोग "शिक्षित" और "ज्ञानी" होने में और जानकारी एवं सिद्धांतवादी होने में कोई फर्क नहीं करते । इससे बालक अज्ञान की स्वीकृति की भावना से ग्रस्त होता है । यदि ऐसा प्रश्न हो कि बालक प्रश्न के अन्दर के तथ्य की खोज करे और किसी काम को करने के पूर्व यह सोचे कि आखिर मैं ऐसा क्यों कर रहा हूं, तो पारंपरिक कक्षा की छवि से शिक्षक और बालक दोनों मुक्त हो सकते हैं । इसलिए इन दोनों विचारकों का कहना है कि स्कूल को चाहिए कि वह खोज का माहौल पैदा करे। सीखना अपने आप में कुछ घटित होना है । इससे अधिक साहसपूर्ण, भिन्न और क्षमतावान बौद्धिकता का विकास होना है । प्रश्न, तर्क और खोज की दृष्टि से ही ऐसी बौद्धिक प्रणाली शिक्षण में संभव है । इसलिए सीखने का मुख्य साधन समस्या का निर्धारण और इसके हल की खोज है। पोस्टमन और वैन गार्टनर खोज प्रणाली की उस तर्क–संगतता को भी पूर्णरूपेण नहीं स्वीकारते, जो बालक को सीखने या खोजकर सीखने की ओर ले जाती है । हम किसी को बुद्धि सम्पन्न बनाने के लिये यह नहीं कह सकते हैं कोई किसी वैज्ञानिक से यह प्रश्न करे कि वह वैज्ञानिक क्यों है और इस उत्तर की खोज में वह विज्ञान–प्रणाली, प्रयोगशाला और उसके वैज्ञानिक कार्य बताकर उसका औचित्य सिद्ध करने लगे । इसलिए जिज्ञासा, प्रश्न या तर्क ही सब कुछ सीखने के माध्यम नहीं है । **'सामर्थ्यवान बुद्धि','सीखना अर्थात् घटित होना', और 'प्रभावशाली सीखने वाला'** इससे सीखने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन भले ही मिल जाए, मगर ये सब समस्या खड़ी करने, उत्तर खोजने तक ही सीमित करते हैं । यह तो एक प्रकार से पारंपरिक स्कूल प्रणाली में ही छिद्रान्वेषण की प्रक्रिया है ।

यह बात नहीं कि "खोज प्रणाली" शिक्षण का उचित माध्यम नहीं है, या शिक्षा के लिये यह प्रणाली जरूरी नहीं है। सवाल यह है कि हम किसी विषय के पीछे जितना अधिक पड़ते हैं, उतना ही वह अपर्याप्त सा लगता है । अच्छे छात्र का मतलब छिद्रान्वेषी भले ही मान लिया जाए, लेकिन इसी प्रणाली में उसकी अपर्याप्तता निहित है जो सुकराती प्रश्नों में है अर्थात् एक अच्छा खोजी भी पूरी सामर्थ्य व बुद्धि के बावजूद सुकराती प्रश्नों के समक्ष बौना सिद्ध हो सकता है । इसलिए बौद्धिक जीवन के लिये आत्मविश्वास, लचीलापन, तथ्यों की खोज के प्रति सम्मान व अन्य कई बातें आवश्यक हैं । पोस्टमन और वैन गार्टनर छात्र की स्वायत्तता की बात भी जोर देकर कहते हैं, परन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से यह भी एक प्रकार की कल्पना ही है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि किसी के अन्दर स्वेच्छा या स्वायत्तता के विकास के लिए हम उसे आत्मनिर्देशन के भरोसे छोड़ दें । अच्छा और स्वैच्छिक सीखने वाले का यह मतलब तो नहीं है कि शुरू से हम ऐसा व्यवहार करें कि वह यह सोचने लगे कि जीने के लिये क्या उपयुक्त है और क्या नहीं? पोस्टमन और वैन गार्टनर ने कुछ अनुमान अपने आप लगाकर समस्याएँ भी पैदा की है । उन्होंने स्वयं ही आगे चलकर यह महसूस किया है कि यह कोई नहीं कह सकता है कि अंततः बालक ही खोज प्रणाली के श्रेष्ठतम और युक्तियुक्त होने के सर्वोत्तम स्रोत हैं, और केवल उनके ही द्वारा उपलब्धि या गुणवत्ता की जाँच की जा सकती है । खोज प्रणाली का शिक्षक बालकों में किसी भी चीज की गुणवत्ता को जाँचने के मानदंड के रूप में तथ्यात्मकता और प्रासंगिकता पैदा करता है, जिससे उसके अंदर से "मैनफ्रेड सिंड्रोम" को कम किया जा सके। शिक्षक की भूमिका उस पंच की तरह होती है जो यह कहता है कि क्या स्वीकारने योग्य है और कौन सी बात बालक के उत्तर से पृथक की जा सकती है, क्योंकि यह सुसंगत या स्वीकार करने योग्य नहीं है । ऐसी प्रणाली भी कोई अच्छा विद्यार्थी नहीं रचेगी ।इससे तो फिर छिद्रावेषण प्रक्रिया ही क्या बुरी है? यह तो अच्छा सिक्खाड़ या बेहतर सिक्खाड़ को भी एक प्रकार से मैनफ्रेड सिंड्रोम में डुबो देने के समान है । बालक में शिक्षक पर जो निर्भरता है और शिक्षक की हर बात स्वीकारने की प्रवृत्ति है, वही मेनफ्रेड सिंड्रोम है ।

अच्छे शिक्षक के लिए पढ़ाया कैसे जाए? इस समस्या पर ज्यादा सिर खपाना ठीक नहीं । हमें यह मान लेना चाहिए कि कोई बात सिखाना तब तक मूर्खतापूर्ण है, जब तक उसे सीखने की जरूरत छात्र स्वयं महसूस न करे और वह भी किसी निश्चित उद्देश्य के साथ । लेकिन यह भी समस्या के सोच की शुरूआत है, उसका हल नहीं । प्रश्न तो यह है कि आखिर बालक के लिए कौन से उद्देश्य या लक्ष्य महत्वपूर्ण हैं ? यह सही है कि सीखना जीवन- संबद्ध हो, मगर जीवन-संबद्ध किस प्रकार हो ? इसका उत्तर हम यह कह कर दे देते हैं कि ऐसी क्रियाएँ की जाएँ, जिनसे ज्ञान पैदा हो। उदाहरण के लिए-परिभाषा देना, प्रश्न करना, अवलोकन करना, वर्गीकरण करना, सरलीकरण करना, पुष्टि करना, प्रयोग करना आदि । लेकिन ये सब बातें सामान्य रूप से पढ़ाई कैसे जाएँ ? किसी चीज की आप जब पुष्टि करना चाहते हैं, तो क्या आपको यह पता नहीं रहता कि आप किस बात की पुष्टि की कोशिश कर रहे हैं ? यही बात अवलोकन की प्रकिया को लेकर भी कही जा सकती है । इसलिए पोस्टमन और वैन गार्टनर का क्रांतिदर्शी चिंतन भी कुछ हद तक भ्रामक लगता है, जब वे यह कहते हैं कि सीखना अर्थात् अपने पर्यावरण और उसकी वास्तविकता को जानना है ।

नील पोस्टमन और वैन गार्टनर ने पारंपरिक स्कूल में प्रचलित पाखंडपूर्ण गुप्तताओं पर भी आक्रमण किया है।रॉबिन बैरो इन दोनों के क्रांतिदर्शी चिंतन के विरूद्ध है । रॉबिन बैरो का कहना है कि पाठ्यक्रम, पाठ्यविधि और वातावरण को लेकर स्कूल प्रक्रिया के विरुद्ध अपने काम सिद्ध करने के लिए इन दो विचारकों ने स्कूल को अपर्याप्त, असंतोषप्रद और अनावश्यक भले ही कह दिया हो, मगर उन्होंने जिन तर्कों के साथ स्कूली प्रक्रिया और कुछ हद तक खोज प्रक्रिया को भी अमान्य किया है, वे स्वीकारने योग्य नहीं लगते । पहली बात तो यह है कि उन्होंने जिस प्रकार एक प्रचलित पाठ्यक्रम को अप्रांसगिक कहने के लिए अप्रचलित किस्म का पाठ्यक्रम सुझाया और पाठ्यक्रम की जो रूपरेखा और विषयवस्तु दी, वह स्वयं ही भ्रामक एवं अव्यवहारिक है । उन्होंने यह कहा है कि छात्र के उपलब्ध ज्ञान को जाँचने की जो प्रकिया रही है, वह अनुपयुक्त है, मगर परीक्षा से जुड़े सवाल अलग हैं । ये दोनो विचारक उपलब्धि को जाँचने, और पाठ्यक्रम के साथ उसका संबंध कैसा है इस विषय में बहुत स्पष्ट नहीं है । शायद ये दोनों यह भूल गए हैं कि परीक्षा को लेकर उन्होंने खामियां बताई हैं, मगर जांच के लिए परीक्षा के अतिरिक्त और विकल्प क्या हो, कैसा हो, इस पर दोनों अपनी प्रतिक्रिया नहीं देते हैं । उनका यह कहना तो सही है कि शिक्षा का अर्थ मात्र सूचना देना नहीं है। उससे शिक्षण को प्रोत्साहन मिलना चाहिए और सीखने के प्रति रुचि पैदा होना चाहिए। ऐसा करने के लिए छात्र में आवश्यक कुशलताएँ विकसित करनी चाहिए। यहां भी उनकी बात अधिक स्पष्ट नहीं लगती, क्योंकि सीखना तो पूरी जीवनगत प्रक्रिया है । रुचि एक अलग ही प्रवृत्ति है और उसका विस्तार कितना भी हो सकता है। सीखने के लिये प्रोत्साहन तो जीवन भर मिलता नहीं है । स्कूल तो जीवन को सीखने की प्रक्रिया में ला देता है और वह प्रक्रिया बालक जब ठीक से अपना लेता है, तो जीवन भर वह उसका इस्तेमाल अपने ढंग से करना सीख जाता है। इन दोनों विचारकों की राय यह भी है कि छात्र का अध्ययन मूल्यवान और महत्वपूर्ण बने। यह तर्क भी इसलिए कोई अलग बात नहीं बताता क्योंकि सीखना एक मूल्यवान उपलब्धि है । जब सीखे हुए ज्ञान का उपयोग किया जाता है तो वह ज्ञान महत्वपूर्ण अपने आप हो जाता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सीखने का माध्यम ही सीखने का संदेश है । माध्यम से सीखने का स्पष्ट आशय है-तकनालाजी में प्रवेश । जब पोस्टमन और वैन गार्टनर यह कहते हैं कि सीखने की प्रकिया में विशेष विषयवस्तु, कौशल या ज्ञान का सन्दर्भ क्यों हो ? तो उनका आशय यह है कि इससे छात्र में विचारक बनने, छिद्रान्वेषी बनने, प्रश्नकर्ता बनने और फिर शिक्षार्थी बनने की क्षमता पैदा नहीं होती। शिक्षण से बालक का विचारवान या विचारक बनना आवश्यक नहीं है, लेकिन क्रांतिमूलक शिक्षण के विरोधी यह कहते हैं कि कोई खाली-माली विचारक नहीं बन सकता । सोचने के लिए भी कुछ न कुछ सामने चाहिए ही । अच्छा सोचना अलग-अलग जगह अलग-अलग होगा। उसमें बहुत सारा पूर्व ज्ञान भी सम्मिलित होगा । इसलिए हम कुछ सामान्य तकनीकों एवं दृष्टिकोणों की बात करें, इसकी बजाय उन तकनीकों को सीधे सिखायें और तकनीकों को सिखाएँ भी इस प्रकार कि उनका विशेष संदर्भ में उपयोग हो सके । इन दोनों में अच्छे चिंतन पर भी आपत्ति उठाई गई है । 'अच्छे चिंतन' का भी अर्थ अच्छा तभी है, जबकि वह उपयोगी हो । हां यह अवश्य है कि इन दोनों की एक बात में दम है और वह यह कि किसी भी बालक को अनुशासित, क्रियात्मक और अपने अध्ययन में संलग्न बनाये

रखने का तब तक कोई मतलब नहीं है, जब तक वह स्वयं उसे समझाकर ग्रहण करने योग्य नहीं मानता । उनका यह कहना सही है कि कोई भी छात्र किसी समस्या के प्रति तब तक न तो सक्रिय होगा और न ही उसमें उलझेगा, जब तक कि उसे यह न लगे कि वैसा करना उपयोगी है इन दोनों विचारकों का यह कहना गलत है कि छात्र को किसी समस्या के निश्चित हल को लेकर तब तक लगाया ही नही जा सकता, जब तक शिक्षक उसके सामने समस्या नहीं रखता और उसका सीखने योग्य होना छात्र को नहीं बताता । अनुशासित रहकर भी सीखा जा सकता है । छात्र जो कुछ है, वह तो है। मगर इसके लिए यह जरूरी नहीं कि इसके लिए उसके सामने हर बार समस्या हो, उसकी उपयोगिता हो, उसको सीखने में रुचि हो आदि आदि । इस प्रकार समस्या देकर खोज कराने, उसकी उपयोगिता जाँचने और उसमें रुचि लेने की बातें ठीक हैं, लेकिन इनका इस प्रकार का अतिवाद बेकार है, जो बिना इस प्रक्रिया के भी संभव है । छात्र को सीखने के अवसर शिक्षक दे या वह स्वयं प्राप्त करे, वह सीखेगा तो तभी, जब उसको सीखना चाहेगा ।

यह सही है कि कुछ शिक्षक संवाद के जरिए या दूसरों की सहभागिता के जरिए काम करना पसंद न करें, ताकि संवाद के दौरान वे स्वयं पीछे बैठे रहें और प्रश्नों से प्रश्न निकलते चले जाएँ । ऐसा भी नहीं कि इस प्रकार का संवाद रुचिकर, फलदायी या तर्कसंगत नहीं होगा । जहां प्रश्नों से सहभागीगण मुठभेड़ करेंगे, वहां अच्छा संवाद निश्चित पैदा होगा ।संवाद स्कूल में संभव भी है । लेकिन ऐसे अनियंत्रित या मुक्त संवाद का क्या मलतब ? इसमें केवल अत्यंत बुद्धिमान, होशियार या समझदार छात्र ही भागीदारी कर सकेंगे। लेकिन यह तरीका अगर अपनाये जाने योग्य है, तो फिर उसे बिल्कुल प्रारंभ से अपनाना होगा । पोस्टमन, वैन गार्टनर यह साबित नहीं कर पाते कि संवाद के जरिये जो शिक्षण का प्रतिफल प्राप्त कर सकते हैं, वह किंडरगार्टन से शुरू होकर आगे तक जा सकता है । ये दोनों विचारक इस क्रिया में शिक्षक की वस्तुस्थिति का भी स्पष्ट चित्र पेश नहीं करते । वे मेनफ्रेड सिंड्रोम की बात करते हैं, और चाहते है कि किसी भी विषय या विचार की शुरूआत शिक्षक न करे। कई बार तो वे यह भी चाहते हैं कि शिक्षक की कोई भूमिका ही न हो। यह ठीक है कि शिक्षक को मात्र सूचना देने वाले का काम नहीं करना चाहिए। वास्तव में तो प्रश्न करना और उत्तर खोजना एक ही प्रक्रिया है। वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं । उत्तर की इस खोज में छात्र ग्रंथालय और प्रयोगशाला तक में जा सकते हैं। यहां तक गली, मोहल्ले में जा सकते हैं, मगर शिक्षक के पास जाने की मनाही है। यह क्या बात हुई ? इस प्रकार का नियंत्रण या संपूर्ण नियम बनाना उचित नहीं लगता । शिक्षक को हम इतना अछूत क्यों समझें ? किताब को हम शिक्षक से अधिक बड़ा ज्ञान-प्राप्ति का साधन बताकर क्या चाहते हैं ? उत्तर की खोज में शिक्षक सहभागी क्यों नहीं हो सकता ? उसके हस्तक्षेप को ये दोनों विचारक क्यों पसंद नहीं करते ?

यह बात ठीक है कि ये दोनों विचारक ऐसे अनेक प्रश्न उठवाना चाहते हैं, जिनके उत्तर खोजना आवश्यक और उपयोगी है ।इसके पहले कि प्रश्नों के उत्तर की प्रक्रिया प्रारंभ हो, हम यह मान लें कि शिक्षक की सहभागिता से शिक्षक का प्रभाव कम होने लगेगा। यह तर्क गलत है। शिक्षक एक अधिक महत्वपूर्ण बात यह कर सकता है कि जो प्रश्न उठाये जा रहें हैं, वे छात्रों से पूछने लायक हैं भी या नहीं । इस बात पर भी वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करे । यह हो सकता है कि सारे प्रश्नों के निर्माता स्वयं शिक्षक न हों, मगर इस काम में उनकी मुख्य भूमिका तो होगी ही ।

पोस्टमन और वैन गार्टनर प्रश्नों के माध्यम से चाहते हैं कि छात्र प्रत्यय, अवधारणा या विचार स्वयं विकसित करना सीखें । इससे वे स्वयं इस तेजी से बदलते संसार में अपने आप को ठीक से बचाकर रखने लायक बन सकेंगे । रॉबिन बैरो को यह विचार भी नहीं जँचता है । वह इन दोनों से पूछता है कि प्रश्नों के संसार में अपने को बचाने और जिंदा रखने के तत्व कहाँ से आए हैं ? इसके लिए यह आवश्यक है कि हम बजाय प्रश्न और जीवन दर्शन की बातें करने के प्रश्नों के औचित्य और उपयोगिता के आधार पर उनका निर्धारण करें । कुछ प्रश्नों को हम अलग-अलग ढंग से रख सकते हैं जैसे -(1) ऐसे प्रश्न जो बालक में सीखने की इच्छा पैदा करें और उसकी क्षमता को बढ़ाएँ, (2) ऐसे प्रश्न जो छात्र को सीखने में आनंद दें (3) ऐसे प्रश्न जो छात्र के अन्दर उसकी योग्यता के प्रति आत्मविश्वास पैदा करें, (4) ऐसे प्रश्न जो छात्र को उत्तरों के अनेक विकल्प सोचने और खोजने की प्रेरणा दें (6) ऐसे प्रश्न जो उत्तर खोजने की प्रक्रिया में छात्र को ऐसा महसूस करा दें कि उसने जो उत्तर खोजे हैं, वे निराले हैं, अदभुत हैं और उसके अपने हैं, (7) अगर उत्तर अलग-अलग हैं तो उन अलग-अलग उत्तरों का सही उत्तर समझ सकें, एवं (8) ऐसे प्रश्न जो छात्र को अपने मान्वीय संबंधों में और समाज में संवेदनशील बना सकें और प्रश्नों के उत्तरों की खोज के दौरान छात्र लोगों के करीब से करीब आ सकें ।

इन प्रश्नों का मूल्य और महत्व इस बात पर भी निर्भर करेगा कि वे वास्तव में छात्र की किस हद तक सहायता करते हैं ? ये दोनों विचारक प्रश्न कितने भी और कैसे भी दें । मूल बात तो यह है कि प्रश्न बच्चों के लिए आकर्षक हों । वे भ्रमपूर्ण, असंमजसपूर्ण या व्यर्थ उलझाने वाले न होकर, बिल्कुल स्पष्ट हों। छात्र के लिए उनके उत्तर दे पाना संभव हो । यद्यपि यह सही है कि प्रश्नों से हम बालकों को बाँध नहीं सकते, मगर ये दोनों विचारक स्वयं ही मुक्त संवाद की बात करते-करते प्रश्नों के जरिए कुछ नियंत्रण लगाते हैं । हमारे लिए तो यही अच्छा है कि हम छात्रों से वे उत्तर निकाल सकें, जो उनके मन में संग्रहीत हैं । फिर उन उत्तरों को अलग से क्रमबद्ध करके उनकी जांच, पुष्टि और औचित्य आदि का पता लगा सकते हैं । अगर हम प्रश्न रखें कि "अच्छाई या बुराई में फर्क कैसे किया जाए? या अच्छा या बुरा क्या हैं ? तो प्रश्न के उत्तर हर उम्र के लिए अलग होंगे । इसमें युवक और प्रौढ़ के उत्तर अलग होंगे और पढ़े लिखे या अनपढ़ के अलग होंगे । फिर अंत में हम अच्छाई, बुराई के आधार पर परिवर्तन का प्रश्न रखें और पूछें कि इससे समाज में क्या परिवर्तन आएगा ? जीवन जीने के लिए किन आवश्यक परिस्थितियों की जरूरत है ? तो ऐसे प्रश्न तभी युक्ति-युक्त लगेंगे जब इनसे आपने समाज को एकदम उद्वेलित कर देने की कोई प्रणाली निकाल ली हो। मगर ऐसा वास्तव में होगा, इसका कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे भी प्रमाण नहीं है कि प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य साधनों से समुचित सूचना प्राप्ति के कौशल, ज्ञान प्राप्ति के कौशल और तर्क प्रणाली विकसित नहीं हो सकती । पोस्टमन और नील "थ्राइव" यानी बढ़ना और "सरवाइव" यानी जीवित रहो जैसे शब्दों का इस्तेमाल प्रश्नों के आधार पर करते हैं । इनका कहना है कि समाज में रहने का मतलब अपने आप फलना-फूलना या विकसित होना नहीं है । समाज में रहने के लिए जीना पड़ता है, फलना-फूलना या बढ़ना भी अपने आप कहाँ होता है? उसके लिए भी तो लोगों से अच्छा संवाद, अच्छे संबंध काम करने की प्रवृत्ति और ज्ञान प्राप्त करने और उसे कैसे प्राप्त करना, इसकी स्वतंत्रता आवश्यक है । इसलिए प्रश्न और खोज प्रणाली को माध्यम के रूप में आंशिक

रूप से हम स्वीकार कर सकते हैं।स्वयं ये दोनों विचारक यह नहीं कहते कि प्रश्न करने पर आधारित पाठ्यक्रम संभव है और क्या उससे आवश्यक उद्देश्य पूर्ण हो भी सकेंगे ?

ज्ञान और ज्ञान-प्राप्त करने वाला :

पोस्टमन और वैन गार्टनर विश्व में जो भी कुछ व्याप्त है, उसको समझने के लिए कुछ ज्ञान-ग्राही अर्थ आरोपित करते हैं । उनके इस तर्क का मतलब यह दिखाना है कि आप किसी भी सीमा तक चले जाइए, मगर पाठ्यक्रम और शिक्षक जो पाठ्यक्रम निर्देशित करता है उसी पर शिक्षा प्रणाली भरोसा करती है; उन्हीं के जरिए स्वीकारने योग्य सत्य या अस्वीकार योग्य तथ्य क्या है, इसका निर्णय होता है। मगर ये दोनों जिस अर्थ को बाहरी ज्ञान को समझने वाला आरोपित करते हैं, उसे स्पष्ट नहीं करते । अतः यह आवश्यक है कि यह बताया जाए कि इनके समझने में कोई खास गुणवत्तामूलक फर्क नहीं है । इस बात से भी कोई इंकार नहीं कर सकता कि वस्तुओं को जिस रूप में हम देखते हैं, वह भिन्न है और जिस रूप मे समझते हैं, वह भी समझ का विषय है । दुनिया में जहां तक समझ का सवाल है, हर प्रकार की समझ अपने आप में अच्छी होती है । हमारा बोध दूसरे के बोध के समान नहीं हो सकता । मगर बोध अलग-अलग होकर भी बेहतर हो सकते हैं । कई बोध होते हैं, जिन्हें हम संभाल कर रखना चाहते हैं, चाहे फिर हमारी समझ या बोध के पीछे कितनी भी ईमानदारी, मूर्खता, गलत दिशा, भ्रम या यहां तक कि त्रुटि ही क्यों न हो।

इन दोनों विचारकों की एक बात और भी गौर करने लायक है । उनका कहना है कि हम अपने मन में या बोध या समझ में जो वास्तविकता तैयार करते हैं उसे ही रचते हैं, न कि उसे किसी अन्य से ग्रहण करते हैं या किसी अन्य की वास्तविकता पर अपना विचार रखते हैं । यदि हमें एक विशाल सुन्दर इमारत दिखाई जाए, तो उस इमारत के बारे में अलग-अलग विचार अलग वास्तविकता पैदा करेंगे । कुछ के लिए वह वर्तमान राजनीति, न्याय या संस्कृति का केन्द्र है। कुछ के लिए महज एक भव्य इमारत जिसकी सफाई करना भी मुश्किल काम है । कुछ के लिए वह स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना होगा । पोस्टमन और वैन गार्टनर यह बात मानते हैं कि अगर बाहर कोई चीज व्याप्त है, जिसमें ज्ञान का अर्थ निहित है, तो यह नहीं कहा जा सकता है कि जो बाहर है, वह रूप किसी विभाग के अन्दर भी होगा ही । ये दोनों विचारक वास्तविकता को लेकर भी एक अच्छा मुहावरा देते हैं । उनके अनुसार "वास्तविकता वह है जो आंखों के पीछे छुपी रहती है।" इसका अर्थ तो यह निकला कि कोई वस्तुनिष्ठ वास्तविकता है ही नहीं । इसका एक सामान्य अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि वास्तविकता भी बाहर मौजूद है। उदाहरण के लिए "भव्य इमारत" की वास्तविकता। उसके विभिन्न पहलू हैं । मगर यह बाहरी वास्तविकता बहुत सीमित है । वैसे वास्तविकता का सामान्य अर्थ यही है कि जो दृष्टि के पीछे स्थित माना जाएगा ।वैसे ही अनेक भ्रम भी वास्तविकता को लेकर पैदा हो जाएंगे।

एक और उदाहरण पर ध्यान दें । यदि हम कोई बात भाषा में बढ़ा-चढ़ाकर करें। फिर उसके वास्तविक अर्थ की खोज करें । तब अर्थ की खोज आप अपने ज्ञान की सीमा के अन्दर ही कर पाएंगे जो अवधारणा या विचार के रूप में भाषा में मौजूद हैं । "अर्थ रचना" का रूप इन दोनों के अनुसार ज्यादा गतिशील है । इसे ही हम उस जड़ रूपक से ज्यादा बेहतर मानते

हैं जो विभाग से जुड़े रूप हैं और जो स्कूल के अंदर क्रियाशील होते हैं । इनकी बात से दो तर्क पैदा होते हैं एक तो यह कि वे "अर्थ रचना" पर जोर देते हैं, क्योंकि "अर्थ रचना" उस ज्ञान का परिणाम एवं प्रतीक है, जो वस्तु के अन्दर से हमने प्राप्त किया है । इसलिए यह अनुपयुक्त होगा कि हम कोई एक रूपक बच्चे के लिए रखें और उसका मतलब बच्चों के लिए भिन्न हो। दूसरे उनका कहना यह है कि रूपक देते समय ही फर्क पड़ेगा, क्योंकि वह बालक में नये अर्थ खोजने की एक अलग दृष्टि पैदा कर देगा । यदि इन दोनों की कल्पना के अनुरूप बच्चे "अर्थ के रचनाकार" बन गए और शिक्षक ने इस रूपक का कक्षा में ठीक प्रयोग कर लिया तो स्कूली प्रक्रिया ही बदल जायेगी ।

जॉन डिवी इस के बाहर और भीतर के द्वंद को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट करता है । उसने क्रियाशील या उपयोग में लाए जाने वाले मनोविज्ञान की बात की है । जॉन डिवी का कहना है कि मनुष्य क्या है? और अपने पर्यावरण में जाकर क्या बन जाते हैं ?यह एक जटिल प्रक्रिया है, जो सतत एक दूसरे के आदान प्रदान पर निर्भर करती है, जो अंदर और बाहर के बीच चलती है । यह बात कुछ हद तक काफी अच्छी लगती है । इसलिए हमें यह सचाई से विचारने में कोई हिचक नहीं होना चाहिए कि आप उसी वस्तु को बोधगम्य या समझने योग्य बना लेते हैं, जिसे आप सीखना चाहते हैं और ऐसा करने के पीछे आपका बीता हुआ अनुभव भी आपके काम आता है। यहां यह भी स्पष्ट है कि सीखने की योग्यता आवश्यक है। अर्थात् यह योग्यता भी होना जरूरी है कि जो अनुपयोगी है, उसे न सीखा जाए या समझा जाए । इसीलिए योग्यता के प्रश्न को स्वीकार या अस्वीकार करने के संदर्भ में ये दोनों विचारक भी मानने लगे हैं कि यदि **"अनुपयुक्त बोध"** नाम की कोई चीज है तो **"उपयुक्त बोध"** भी होगा ही । इसका मतलब यह हुआ कि ऐसी समझ जो काम आए, सही है, और वह सचाई की ओर ले जाती है ।

पोस्टमन और वैन गार्टनर उपयुक्त, अनुपयुक्त की बात करके एक ही गलती करते हैं । वे जब शिक्षक एवं सीखने की अन्य किसी भी प्रक्रिया को आंतरिक या बाह्य के नाम पर नकारते हैं, तो एक प्रकार के **"न्यूनीकरण"** की भावना से ग्रस्त दिखाई देते हैं । इस **न्यूनीकरण** में सत्य, ज्ञान और सीखना सब कुछ आ जाता है और वह भाग "बोध" या संज्ञान के सिद्धांत का ही दास बनकर रह जाता है, जबकि संज्ञान की स्थितियां परिवर्तन मूलक हैं । संज्ञान के अंतर्गत विभिन्न व्यक्ति विभिन्न क्रियाएं करते हैं । बरसते पानी में भी भीगते हुए चलते हैं । इसका अर्थ यह तो नहीं कि बरसात की उन्हें समझ नहीं । बरसात एक वास्तविकता है । लेकिन मनस्थिति अलग-अलग है । इसलिए व्यक्तिगत संज्ञान पर ही पूरा जोर देना उचित प्रतीत नहीं होता । यह सही है कि हम जो देखते हैं, उसे उसी रूप में न लेकर उसकी अपनी व्याख्या या अपना अर्थ तैयार करते हैं । वह कोई फोटोग्राफ नहीं है । इसलिए खोज प्रणाली में दरअसल अर्थ की खोज होती है और इस अनिश्चितता का अंत हो जाता है कि कोई चीज है या नहीं है । जैसे ही स्कूल में बच्चा यह मान लेता है कि उसके द्वारा सीखे जाने वाले पाठों का कोई मतलब है, वैसे ही उसके

लिए स्कूल का एक अलग मनोवैज्ञानिक अर्थ खड़ा हो जाता है । इसलिए शिक्षा प्रारंभ से लेकर अंत तक अर्थ से परिचालित होना आवश्यक है । इन दोनों की ये बातें हैं तो ठीक मगर इस विचार के कारण सत्य, ज्ञान और निश्चितता को लेकर कुछ भ्रम पैदा अवश्य हो जाते हैं। यह भी सही है कि कोई भी व्यक्ति संपूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सकता है । इसलिए जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वास्तव में वह अस्थायी या अल्पकालिक होता है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्य या ज्ञान है ही नहीं । यह भी सही है कि शब्द का कुछ भावनात्मक अर्थ भी होता है। वास्तविकता का कई बार रूप नहीं होता जैसे–मूर्खता या प्रेम हैं, मगर उनका कोई भौतिक रूप नहीं है ।

पोस्टमन और वैन गार्टनर का मतलब स्कूल को एक नई भूमिका में देखने का है वे स्कूल का अर्थ समझ, सत्य, आंतरिक और बाहय ज्ञान से जोड़ते हैं । वे बच्चे के भाषायीकरण की जिस प्रक्रिया में दो विचार बताते हैं, वह किसी ग्रामर की वास्तविकता से नहीं उपजती, बल्कि बच्चे की समझ व उपयोगी–अनुपयोगी की मानसिकता से उपजती है । शिक्षक किसी भी विषय का हो, वह सर्वप्रथम एक भाषा–शिक्षक है, क्योंकि उसके ज्ञान देने का माध्यम तो भाषा ही है। इन दोनों का कहना है कि शिक्षक का ही तो यह काम है कि वह बालक को इतिहास, राजनीति, विज्ञान, गणित सभी की भाषा में ठीक से प्रवेश कराये यहां शिक्षक द्वारा सिखाई जा रही भाषा की वास्तविकता के साथ प्रासंगिकता भी देखी जाती है । इसी से उसकी समझ के स्तर का परीक्षण होगा । एक बात और भी महत्वपूर्ण है कि बालक सीखने–समझने में कितना भी स्वतंत्र हो, किसी वस्तु के प्रासंगिक–अप्रासंगिक, सही या वास्तविक आदि का अंतिम निर्णायक वह स्वयं नहीं होता। इसीलिए हमें अनेक ऐसे नियम या सत्य बताये जाते हैं, जिनके बारे में हमारी चेतना का विकास आवश्यक है । और जिनमें से अनेक नियम पारंपरिक तर्कशास्त्र के हैं, जिनसे हम अभिधा, लक्षणा, गहरा और व्यापक आदि के अलग–अलग अर्थ ग्रहण करते हैं ।

जितने भी क्रांतिमूलक विचारक हैं, उनका अवधारणा पर बड़ा जोर है और इसलिए शिक्षण को वे एक प्रकार की घटिया क्रिया मानते हैं । आज की शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है– एक नए मनुष्य का विकास। वह भी ऐसा मनुष्य जिसने अपनी अवधारणाओं की श्रंखला को अन्तस्थ कर लिया हो और संक्रिया रूप से खोज में लगा हो, लचीला हो, सर्जनात्मक हो, नवाचारी हो, सहिष्णु हो, उदार हो और जो अनिश्चित, और असमंजस को भी बिना ज्ञान–विमुख होकर स्वीकार सके और जो परिवर्तन के लिए नए–नए और व्यावहारिक अर्थों का स्वयं निर्माण कर सकें ।

इसका मतलब यह भी हुआ कि बालक "क्रेप–डिटेक्टिंग" और **"मीनिंग मेकिंग"** यानी छिद्रान्वेषी और अर्थ निर्माता बने । लेकिन इसका एक खतरा यह भी होगा कि हर चीज में अर्थ खोजने की प्रक्रिया में कहीं बालक हर चीज में अनिश्चितता देखने का आदी न हो जाए।

इसलिए पोस्टमन और वैन गार्टनर "अवधारणा निर्माण" को लेकर अपनी जगह भ्रामक दिखाई देते हैं । अंत में हम यह जरूर कह सकते हैं कि इन दोनों की दृष्टि में स्कूल आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहन देने का स्थान नहीं बना है, और यह अवसर देना आवश्यक है, कि बजाए वे प्रश्न रहित बने रहकर हर बात को स्वीकारते चले जाएं बच्चे को समस्या का हल चाहिए, न कि नई समस्या की खोज। वे जो हल खोजेंगे वह कम से कम खोखला रहेगा । यदि अस्कूलवादी सोचने को लेकर यह कहते हैं कि वर्तमान शिक्षा से छात्र यथास्थितिवादी होते हैं, तो फिर हमें कुछ कदम उठाने होंगे, ताकि वे होकर कुछ चिंतन पैदा करें । यदि छद्म या प्रच्छन्न पाठ्यक्रम को हम निरस्त करना चाहते हैं तो हमें बच्चों में वह क्षमता विकसित करना होगी कि वे स्वयं भी उसका परीक्षण कर सकें ।

अध्याय–7

बच्चे का सीखना और असफल होना: जॉन होल्ट

जब हमें बेहतर तरीकों की समझ हो जाती है और हम यह जान लेते हैं कि बच्चे किन परिस्थितियों, भावनाओं और तरीकों से सर्वश्रेष्ठ ढंग से सीखते हैं और हम यह भी जान लेते हैं कि बच्चे अपनी सहज और स्वाभाविक शैली में स्कूल को सीखने की बेहतर जगह के रूप में कैसे अपनायें, तब जाकर हम स्कूल की विफलता को बहुत कुछ हद तक रोक सकते हैं ।

जॉन होल्ट : स्कूल–रहित विकास अर्थात गृह–स्कूल

जॉन होल्ट अमेरिका के न्यूयार्क नगर में 1923 में पैदा हुए थे । वे युद्ध के दौरान अमरीकी नेवी में रहे । उन्होंने युद्ध के बाद अनेक सरकारी और गैर सरकारी अभियानों में काम किया है। एक बार तो वे संयुक्त विश्व महासंघ के कार्यकारी–निदेशक भी रहे हैं । उनकी मुख्य रुचि शिक्षा में रही है । इसलिए उन्होंने कोलोरेडो और मेसाचुसेट्स के अनेक स्कूलों में पढ़ाया और पढ़ाने के साथ इतने नवाचार और नये–नये खेलकूदों और मनोरंजनों का मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया कि आगे चल कर वे एक सुविख्यात शिक्षक के रूप में हारवर्ड ग्रेज्यूएट स्कूल आफ एज्यूकेशन और केलीफोर्निया विश्वविद्यालय के अंतर्गत बर्क्ले शिक्षा–संस्थान में विजिटिंग प्राध्यापक हो गए । जान होल्ट ने ही 'गृह–स्कूल' आन्दोलन चलाया था और उसका नेतृत्व करते हुए कहा था कि घर ही सर्वश्रेष्ठ स्कूल है, जिसमें ज्ञान–प्राप्त करने और सीखने की अपार क्षमताएँ विद्यमान हैं । अपने **गृह–स्कूल** विचार का उन्होंने कई स्तर पर कई चरण में प्रयोग किया । उन्होंने इस विषय को अमरीकी संसद तक के सामने उठाया । उन्होंने एक अत्यंत ही प्रसिद्ध पत्रिका निकाली जिसका नाम था "ग्रोइंग विदाउट स्कूलिंग" अर्थात् बिना स्कूल के ज्ञान प्राप्त करते हुए बढ़ना । यह पत्रिका ऐसे अभिभावकों के लिए थी जो अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाते थे । होल्ट एक प्रकार से अपने कमरे में बैठ कर सदैव बच्चों के लिए काम करने में इतना समर्पित रहा करता था कि उसे "सेलिस्ट" या प्रकोष्ठ में बंद व्यक्ति कहा जाता था । होल्ट ने कई पुस्तकें लिखीं है । "हाउ चिल्ड्रन फैल" नामक उनकी पुस्तक सर्वाधिक चर्चित हुई । 'फ्रीडम एंड बियांड' (स्वतंत्रता और उसके पार), 'इस्केप फ्राम चाइल्डहुड', (बचपन से पलायन), ' दी अंडरअचिविंग स्कूल' (कमतर उपलब्धि वाला स्कूल) 'नेव्हर टू लेट' (बहुत विलंब कतई नहीं) और 'हाउ चिल्ड्रन फैल' एवं 'हाउ चिल्ड्रन लर्न' आदि । इनके अलावा संगीत सीखना और एक प्रौढ़ के रूप में वाद्य यंत्र कैसे बजाना पर भी होल्ट ने लिखा है । "टीच योर

ओन" अर्थात् "स्वयं को सिखाएँ" भी उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है । होल्ट ने शिक्षा, संगीत आदि पर जो लेख लिखे वे अमेरिका एवं विश्व की अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं । इलिच की तरह होल्ट ने भी स्कूल के माध्यम से ज्ञान या मस्तिष्क विकास के स्थूल को शिक्षायीकरण में नकार दिया था । ज्ञान मां बाप की गोद से लेकर अनंत आकार तक व्याप्त है । बच्चे में सामर्थ्य है तो वह स्वयं उस ज्ञान की खोज करे ।स्कूल या व्यवस्था उस खोज में बाधक बनती है । बालक ज्ञान का वही अर्थ बताता है, जो वह स्वयं देती है । जॉन होल्ट ने सीखने की पूरी प्रक्रिया को ही स्वतंत्र या मुक्त रूप में देखा है । इसलिए स्कूल में भी वह स्कूल–मुक्त है, और अस्कूलीकृत शिक्षण या गृह–स्कूल की अवधारणा का पोषक है ।

होल्ट शिक्षा को नित्य नवाचारात्मक मानते हैं । इस कारण वे पुराने कमिनियस जैसे शिक्षाविदों की तरह सिद्धान्तों का कोई मायाजाल नहीं रचते और न ही किसी हारबर्ट या जान डिवी की तरह कोई निश्चित शिक्षण प्रणाली निर्धारित करते हैं । वे तो सीधे बच्चों के बीच खड़े होकर उनकी दुनिया को निहारते हैं । उसमें शरीक होते हैं और सोलह महीने की एक छोटी सी लड़की से लेकर प्राथमिक शाला में जाने वाले एक बालक तक की हर क्रिया का अवलोकन इस तरह से करते हैं मानों वे स्वयं उन क्रियाओं का हिस्सा हों । होल्ट अमेरिका के शिक्षित और कथित रुप से उन्नत समाज के बीच से ही बच्चों की शिक्षा और उसके साथ जुड़ी सफलता–असफलता की खोज करते हैं । होल्ट बच्चे के संसार में प्रौढ़ निरंकुशता का हस्तक्षेप पसंद नहीं करते । वे बच्चे को उसके बचपन और उसकी स्वाभाविक सहज क्रियाओं से वंचित करके किसी भी प्रकार का शिक्षण देना ठीक नहीं समझते हैं । "हाउ चिल्ड्रन लर्न" में होल्ट यही बताने की कोशिश करते हैं कि किस प्रकार हमारी स्कूली शिक्षा पूरी तरह बाल–विरोधी या बचपन विरोधी है । इस कारण वह बच्चे के सीखने की प्रक्रिया में बहुत बाधक है ।

हाउ चिल्ड्रन लर्न :

"बच्चे सीखते किस प्रकार है" यानी **'हाउ चिल्ड्रन लर्न'** इस पुस्तक में होल्ट ने अनेक रोचक क्रियाओं, उदाहरणों और खेलों के माध्यम से बच्चे का भ्रम, उसका असमंजस, उसकी जिज्ञासा और इन सब के साथ उसके डर, ऊब या खीझ का टकराव होना बताता है । यह टकराव होता है उन प्रौढ़ों के साथ जो बच्चे के स्वाभाविक संसार में दखल देते हैं और उन्हें सोचने या अपनी सर्जनात्मक क्षमता का उपयोग करने से रोकते हैं । होल्ट यह भी बताता है कि स्कूल किस प्रकार दिन पर दिन बेमतलब होते जा रहे हैं और समय एवं धन की बर्बादी के अड्डे बनते जा रहे हैं। स्कूल का अर्थ है बच्चे पर शिक्षक के भय का दबाव । शिक्षक के भय के दबाव को बच्चा फिर भी झेल लेता है । मगर यह भय और अधिक विस्तृत होता जाता है जब पाठ्यक्रम और परीक्षा जैसे तत्व भी बच्चे में वैसा ही भय पैदा करते हैं । होल्ट तो यह चुनौती तक देते हैं कि क्या कोई शिक्षक यह दावा कर सकता है कि वह बच्चे पर भय का दबाव बनाये बिना उसे सिखाने में सक्षम है। होल्ट किताबी विषयों, परीक्षाओं और अनुशासनों के पार, बच्चे की प्रवृत्तियों और क्रियाओं में स्वयं शामिल हो जाते हैं । वे भी इलिच की तरह स्कूल को धीरे धीरे नकारते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि स्कूल एक सीमित, कठोर, हस्तक्षेप और असफलताओं से भरपूर संस्था है । वह बच्चे की गतिशीलता और स्वच्छंदता को बाँध कर रखती है । समाज का स्कूल–बोध भी बहुत कमजोर है क्योंकि समाज ने उद्योग–प्रणाली से उत्पन्न स्कूल को ही ज्ञान

का या सीखने का एकमात्र विकल्प मान लिया है । वे शिक्षक को चेतावनी देते हैं कि बच्चे को डरा-धमकाकर कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता। सीखने में बच्चे की असफलता सचमुच एक शिक्षक और स्कूल की ही असफलता है । होल्ट के अनुसार स्कूल एक ऐसी संस्था है जो बच्चे को समझे बिना ही चल रही है, और समाज भी उसे समझे बिना चला रहा है । 'हाऊ चिल्ड्रन लर्न' छोटे-छोटे अनुभवों और क्रियाओं की ऐसी पुस्तक है जो होल्ट की पहली पुस्तक "हाउ चिल्ड्रन फैल" का ही विस्तार है । यदि इसी क्रम में देखा जाए तो जेरोमी ब्रूनर की पुस्तक "द प्रोसेस आफ एज्यूकेशन"भी वैचारिक जड़ता पर प्रहार करती है और वह बच्चों की दुनिया को शिक्षा के कटघरों की दुनिया मानने की बजाय बच्चों के रोमांचों की दुनिया मानती है । यदि कोई संस्था या स्कूल, कोई शिक्षक या कोई प्रणाली बच्चे में निहित उसका रोमांच समाप्त करती है तो फिर बच्चा जो सीखता है वह सीखने के बजाय सीखने की कोई दवाई खाने के समान है ।

होल्ट ने बच्चों के अपने आप खेले जाने वाले खेलों को देखा है और उन खेलों को हूबहू वैसे ही लिख दिया है । बच्चे बोलते या बातचीत कैसे करते हैं? पढ़ने के संसार में प्रवेश कैसे करते हैं, अपनी पसंद की **किताब** का चुनाव कैसे करते हैं ? खेलते कैसे हैं और नये-नये खेलों को खोजते कैसे हैं ? इन सब क्रियाओं को देखते हुए होल्ट ने यह भी अवलोकन किया है कि इन क्रियाओं को किस प्रकार कला, गणित, भाषा और मानसिक सोच के साथ बच्चे अपने से जोड़ते हैं । बच्चे हर विषय को किसी न किसी खेल के रूप में ढाल सकते हैं । वैसे तो गिजुभाई ने स्थापित और प्रचलित स्कूली व्यवस्था में ही बाल -केन्द्रित क्रियाओं का नवाचार किया था । होल्ट के बच्चे स्कूली बच्चों से भी छोटी उम्र के हैं । स्कूली उम्र तक पहुंच कर तो होल्ट के बच्चे एक प्रकार से अन्वेषक बच्चों का रूप धारण कर लेते हैं । होल्ट बच्चों का विचित्र, मनोरम और विस्मयकारी संसार खड़ा करके यह बताते हैं कि बच्चा किस तरह सीखता है और वे जो स्कूल में, शिक्षक के रूप में सिखाने का व्यवसाय कर रहे हैं, उनका बच्चों की दुनिया में स्थान कहाँ हैं? होल्ट, स्कूल और शिक्षक सबसे सवाल करता है कि तुम क्या हो? बच्चे की सफलताओं के पोषक या मात्र असफलताओं के उद्घोषक? तुम बच्चों के डर, आतंक, असमंजस और ऊब के निर्माता हो या इन सबसे उसकी मुक्ति के नायक हो? तुम उसे अनुशासन -चक्र में उलझाने वाले शिकारी हो या उसकी मुक्ति और उसके ज्ञान के आलोक-पुरुष? तुम्हारे लिए एक बच्चा क्या है? तुम स्वयं एक बच्चे के लिए क्या हो? बच्चे के लिए स्कूल क्या है और स्कूल के लिए बच्चा क्या है? तुम बच्चे के जिस काम को क्रूरता, मूर्खता या उद्दण्डता कहते हो क्या उस काम को किसी सार्थक और मनोरंजक खेल या क्रिया में बदल कर बच्चे की क्षमताओं का सही इस्तेमाल नहीं कर सकते ? क्या तुम जानते हो कि बच्चे की जरूरत क्या है उसकी रुचि क्या है? उसका कौतूहल क्या है? और उसका आनंद क्या है? अगर तुम यह सब नहीं जानते हो तो तुम्हें स्कूल कहलाने या शिक्षक कहलाने का क्या हक है?

होल्ट ने 'हाउ चिल्ड्रन लर्न' 1968 में लिखी थी । इस पुस्तक को पढ़ कर लगता है कि यही तो वह दुनिया है जो न्यारे बच्चों के बचपन की दुनिया कहलाती है । इसी बचपन को बचाने का काम ही तो मांटेसरी, फ्रोबेल और गिजुभाई भी करते रहे हैं । होल्ट बच्चे में एक पूरा ब्रह्मांड देखता है । होल्ट मानता है कि कोई बच्चा कोरा नहीं होता । बच्चा कभी खाली नहीं बैठ सकता। बच्चे में ऊर्जा के असंख्य झरने बहते हैं । वह इन झरनों को अपने बस में नहीं रख सकता।

इसलिए हर बच्चा चाहता है अपनी तरफ से हंसना, अपनी तरफ से खेलना, अपनी तरफ से बोलना, पढ़ना और अपनी ही खड़ी की गई समस्या से उलझ कर अपने आप उसके हल की खोज करना। क्या बच्चा जो जवाब खोज रहा है, वे ही जवाब हमारे हो सकते हैं?

होल्ट "हाउ चिल्ड्रन लर्न" में ऐसी क्रियाएं प्रस्तुत करता है जो अपने आप सीखने के लिए उकसाती हैं । इससे शिक्षा की संस्थायी अनिवार्यता का स्वरूप भी बालक, शिक्षक और अभिभावक सभी के मन से टूट सकता है । होल्ट ने अपनी पहली पुस्तक "हाउ चिल्ड्रन फैल" में यह बताया है कि बच्चे अपने दिमाग का इस्तेमाल किस तरह करते हैं या उन्हें एक स्कूल नामक संस्था में आकर दिमाग का इस्तेमाल किस तरह से करना सिखाया जाता है जिसके कारण वे असफल हो जाते हैं । बच्चे का स्कूल में फैल होना दिमाग के गलत इस्तेमाल का परिणाम है। "हाउ चिल्ड्रन लर्न" में कुछ बच्चों और कुछ प्रौढ़ों का जिक्र किया गया है । ये लोग न केवल सीखने के लिए दिमाग का सही इस्तेमाल करते हैं, बल्कि बड़े साहस और प्रभावशाली ढंग से करते हैं । इस पुस्तक में वर्णित कुछ स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो अभी स्कूल जाने लायक हुए ही नहीं है । आम तौर पर बच्चे तो स्कूल में भरती होने के पहले ही अपने लिए आवश्यक श्रेष्ठतम ज्ञान अर्जित कर लेते हैं । कई विशेषज्ञ यह भी मानते हैं कि बच्चा स्कूल जाने के पहले बहुत कुछ सीख लेता है क्योंकि जीवन के लिए वैसा सीखना उसकी पहली जरूरत है । होल्ट बताना यह चाहते है कि जब हमारा दिमाग श्रेष्ठतम और निश्चित तरीके से काम करता है तो स्थितियां कैसी भी हों, वह उन्हें अपने अनुकूल बना लेता है । यह भी सही है कि छोटे बच्चों का बड़ों की अपेक्षा सीखने के प्रति ज्यादा रुझान रहता है । बच्चे ऐसा करते-करते ही तो बड़े होते हैं । वे सीखते-सीखते ही बढते हैं, न कि बढ़ते-बढ़ते सीखते हैं । यही तो वह समय है जब वे अपने दिमाग का इस्तेमाल सबसे अच्छे ढंग से कर सकते हैं । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बच्चों के सीखने की एक शैली होती है, और इस शैली को वे बड़ी स्वाभाविकता और कुशलता से इस्तेमाल करते हैं । जब तक हम उन्हें उनकी शैली से बाहर निकाल कर किसी अन्य शैली में नहीं ले जाते वे सतत अपनी ही शैली का विस्तार करने में लगे रहते हैं । होल्ट के कहने का मतलब यह है कि हम अपने बच्चों को स्कूलों में "सोचना" सिखाने के लिए भेजते हैं । मगर हम या तो उन्हें सोचना सिखाते ही नहीं या फिर बुरे ढंग से सोचना सिखाते हैं । यह काम भी हम किसी न किसी ऐसी शिक्षण पद्धति के नाम पर करते हैं, जिसका इस्तेमाल भी हम कभी कभी ही करते हैं । इससे बच्चों में सीखने की जो अत्यंत स्वाभाविक और सहज प्रक्रिया है वह अपने आप समाप्त हो जाती है । बच्चे पर शिक्षा के नाम पर प्रशिक्षणों के माध्यम से जो कुछ होता है वह एक प्रकार से मेथड या प्रविधि की जोर आजमाई है ।

इस तरह के शिक्षण के परिणाम क्या हुए हैं? इतने ढेर सारे बच्चों में से कुछ ही बच्चे ऐसे निकल पाते हैं, जिन्हें हम जो कुछ प्रविधि के माध्यम से सिखाना चाहते हैं, वह सीख पाते हैं । उनमें से अधिकांश तो डरे-डरे अपमानित और हतोत्साहित रहते हैं । वे अपना दिमाग किसी चीज को न सीखने की तरफ लगा देते हैं । हम जो काम उनसे कराना चाहते हैं, उसके चंगुल से बच कर हम जो सिखाना चाहते हैं, वह नहीं सीखते । थोड़े समय के लिए तो ये प्रविधि-आधारित रणनीतियाँ काम कर जाती हैं लेकिन इन रणनीतियों से अधिकांश बच्चों के लिए यह संभव नहीं हो पाता कि वे स्कूल में जो कुछ सिखाया जाता है, वह सबका सब सीख

लें । वे तो बहुत थोड़ा सा ही सीख पाते हैं । दीर्घकाल में आगे चल कर ये रणनीतियां, आत्म-सीमित या आत्म-पराजित रणनीतियाँ बन कर रह जाती हैं । और हम यह सोचने लगते हैं कि हम इन रणनीतियों का सफलतापूर्वक इस्तेमाल करने में फैल हो गये हैं । इस प्रकार ये सीमित और हार मानकर बिठा देने वाली रणनीतियाँ चरित्र और बुद्धि का भी हनन करती हैं। इस प्रकार के शिक्षण से बच्चे में एक बड़े मनुष्य बनने के गुण विकसित नहीं होते और वह अपने सीमित तरीकों और ओछेपन से मुक्त नहीं हो पाता जो आगे चल कर उसके विकास में बाधक हो जाती हैं । अगर बालक इन रणनीतियों या विधियों से बँध कर न रहे तो हो सकता है कि वह स्वयं अपनी क्षमता और सीखने की तमाम अवधारणाओं से ऊपर जा सकता है। मगर वह ऐसा नहीं कर पाता । यही वह वास्तविक विफलता है जो स्कूलों में घटित होती है और जिससे शायद ही कोई बच्चा बच पाता हो ।

जब हमें बेहतर तरीकों की समझ हो जाती है और हम यह मान लेते हैं कि बच्चे किन परिस्थितियों, भावनाओं और तरीकों से सर्वश्रेष्ठ ढंग से सीखते हैं और हम यह भी जान लेते हैं कि बच्चे अपनी सहज और स्वाभाविक शैली में स्कूल को सीखने की बेहतर जगह की तरफ कैसे अपनायें तब जाकर हम स्कूल की विफलता को बहुत कुछ हद तक रोक सकते हैं । ऐसी स्थिति में स्कूल ऐसे स्थान बदल सकते हैं जहाँ सभी बालकों का विकास होता है और यह विकास केवल आकार अथवा ज्ञान की गति या प्रगति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि जिज्ञासा, साहस, आत्मविश्वास, आत्मावलंबन, संसाधन, कौशल, लोच, धैर्य, क्षमता और समझ का भी विकास होता है । किसी भी काम को श्रेष्ठतम ढंग से कैसे किया जाए, यह समझने में भी देरी नहीं लगती। स्कूल, अध्यापन और सीखना आदि के संबंध में जब यह विचार बनता है कि स्कूल इन कामों के लिए अपर्याप्त है या जब हम यह सोचते हैं कि स्कूल ही पर्याप्त है, जब तक इस सोच-विचार में हम पड़े रहते हैं तब तक 100-50 बरस बीत जाते हैं और तब जाकर हमें समझ में आता है कि स्कूल का, स्कूल में शिक्षा का , या स्कूल के बाहर ज्ञान के लिए क्या विकल्प है? यदि अभी भी हम स्कूल के जरिये ही आगे जा सकते हैं हम बच्चों को सही ढंग से और बेहतर तरीके से समझना प्रारंभ कर दें और जो आज तक हम जो नुकसान पहुंचाते आये हैं, उसे महसूस करके नुकसानकारी प्रविधियों और जड़ रणनीतियों का साथ छोड़ दें।

'हाउ चिल्ड्रन लर्न' में प्रभावशाली शिक्षण कैसे हो सकता है, यह क्रियात्मक ढंग से बताने की कोशिश की गई है । होल्ट ने यहां अच्छे शिक्षक का कोई सिद्धान्त या किसी सिद्धान्त की व्याख्या नहीं बताई है । जब हम सोचते हैं और सोचते-सोचते सीखते हैं तो अधिकांश लोग कई बार यह बताने लग जाते हैं कि इस प्रक्रिया में हमारा दिमाग किस प्रकार रासायनिक या विद्युत-प्रवाहगत या ऐसी ही गतिशील क्रिया करने लग जाता है । इस प्रकार की शोधें महत्वपूर्ण और उपयोगी तो हो सकती हैं, मगर होल्ट ने शोधों के भी निष्कर्ष न बता कर केवल क्रियाओं तक ही अपने को सीमित रखा है । स्कूलों से बेहतर बनाने के लिए शरीर के एक हिस्से के रूप में दिमाग के संबंध में जानकारी हासिल करना तो शिक्षा का काम नहीं है । इसलिए दिमाग का मनोवैज्ञानिक या रासायनिक विश्लेषण बताकर हम आखिर क्या जानना चाहते हैं? आज जो लोग ऐसे हैं जो दिमाग और उसकी क्रियाओं के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, उन्हें जाने बिना भी तो दिमाग का बेहतर इस्तेमाल हो सकता है । यह बड़ी दिलचस्प बात है कि लोग इस

अत्यंत जटिल किसी फाइल में लगे कार्ड की तरह मोलीक्यूल के आकार के होते हैं । इन तकनीकी बातों को सीखने की बजाय एक शिक्षक और शिक्षार्थी को वह सीखना चाहिये जो हम सबने कुछ न कुछ समय तक बच्चा रहकर सीखा है । पहले-पहल ऐसे विविध, प्रभावशाली, मनोरंजक, आनंददायी, वे अनुभव जिन्हें याद रखना अत्यंत आसान हो, और दूसरे यह कि हमारी स्मरण शक्ति का सर्वश्रेष्ठ इस्तेमाल तभी होता है जब उस पर कोई अनचाहा वजन नहीं लादा जाता। स्मृति कोई खच्चर तो है नहीं जिसे मार-मार कर आगे धकेला जाए । वुल्फगांग कोहलर का सिद्धान्त भी बड़ा दिलचस्प है, जो यह कहता है कि दिमाग में कुछ विद्युत प्रवाही परिक्षेत्र स्थापित होते हैं जिनके कारण हम किसी चीज को समझते हैं, ग्रहण करते हैं, अनुभव करते हैं और सोचने लगते हैं । इसका तो यही मतलब निकलेगा कि हम जब डरे हुए या चिंतित होते हैं तो बुरे ढंग से सोचते हैं, बुरे ढंग से समझते या ग्रहण करने लगते हैं या कुछ भी नहीं कर पाते। हम तथ्य को तथ्य या सच को सच मानने के लिए कोई व्याख्या नहीं चाहते। हम तो सिर्फ यही बताना चाहते हैं कि जब बच्चा डरा हुआ रहता है तो उसके दिमागी रास्तों में सीखने की क्रिया मुर्दा हो जाती है ।

'हाउ चिल्ड्रन लर्न' का संबंध मनोविज्ञान की बनिस्बत बालकों से अधिक है । इस पुस्तक को पढ़कर यह लगता है कि एक बालक के अन्दर झाँककर देखना कितना मोहक और कितना हृदयग्राहय है । हमें लगेगा कि हमने बालक के अन्दर ऐसी कई बातें देखी हैं, जिन्हें उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था । यह देख कर स्वयं हमारे अन्दर भी अनेक विचार सोचने के लिए पैदा होंगे। होल्ट इस पुस्तक के माध्यम से जिज्ञासा का ऐसा धुँआ छोड़ना चाहता है, जिससे बच्चों की दृष्टि और अधिक तेज, बारीक और धुएं की पर्त चीरकर देखने की बने, जिससे उनकी समझ का विस्तार हो और पुरानी कुरीतियों या रूढ़ियों के प्रति उनमें सन्देह पैदा हो । यहां तक कि बच्चों को कुछ नया सोचने और करने का मौका मिले ।

होल्ट मानता है कि मनुष्य का दिमाग एक महारहस्य है और पूरी दुनिया के लिए हमेशा रहस्यमय ही बना रहेगा । यहाँ तक कि दुनिया के सर्वाधिक मेधावी, होशियार, विचारवान और सतत् अन्वेषण करने वाले व्यक्ति को भी एक छोटी से छोटी बात दिमाग में बिठाने में कई बार बरसों लग जाते हैं । इसलिए हम यह कह ही कैसे सकते हैं कि किसके दिमाग में क्या चल रहा है? फिर भी कुछ लोग ऐसी बात करने से अघाते नहीं और इस तरह बात करते हैं जैसे वे बड़ी आसानी से किसी के दिमाग का नाप-तौल करके उसमें क्या-क्या भरा है, इसकी एक सही सूची बना देंगे । उन्हें लगता है कि जैसे दिमाग कोई सूटकेस हो जिसमें रखी हर चीज के बारे में आप बता सकते हैं । इसका यह मतलब कतई नहीं कि एक दूसरे के दिमाग और विचारों को समझने की कोशिश ही नहीं करना चाहिये बल्कि हमें चाहिये कि जब ऐसा कुछ करने लगे तो हम कोई स्थाई विचार बनाने की बजाय जो कुछ हमने खोजा है, उसके बारे में स्वयं अपना दिमाग खुला रखें और जरूरत पड़े तो अपना दिमाग बदलने को भी राजी हों । दिमाग को स्वयं अपनी या किसी के द्वारा दी गई जड़ता से मुक्त रखना या रखना सिखाना ही तो शिक्षा का काम है ।

होल्ट असहमति और वैचारिक स्वतंत्रता का उदाहरण देते हुए एक छोटी सी कहानी कहता है । दो आदमी रेलगाड़ी में सफर करते हैं । दोनों ने रेल की खिड़की से बाहर खेतों में कुछ नंगी भेड़ों को चरते हुए देखा और एक व्यक्ति बोला– लगता है कि इन भेड़ों के बाल अभी उतारे गये हैं । दूसरे ने भेड़ों को और ज्यादा गौर से देखा और बोला ऐसा लगता है कि बाल सिर्फ एक ही तरफ से उतारे गये हैं और तर्क दिया कि जिस तरफ से भेड़ दिखाई दे रही हैं, उसी तरफ से बाल उतरे दिखाई दे रहे हैं। पहले आदमी ने बात मान ली क्योंकि भेड़ों का दूसरा हिस्सा दिखाई नहीं दे रहा था । दिमाग के बारे में कोई अंतिम राय बनाने के पहले ठीक उसी तरह हमें अपनी चेतना का इस्तेमाल करना होगा ताकि खोज या जिज्ञासा हमेशा कायम रहे ।

होल्ट ने "हाउ चिल्ड्रन लर्न" में कुछ खेलों का भी तारीखवार वर्णन किया है । इनमें से कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं ताकि हम यह जान सकें कि एक बच्चे की सीखने की प्रक्रिया क्या है? कैसी है? और वह इसे अकेला या मिल जुल कर कैसे अपनाता है?

9 अगस्त 1960 का एक दिन :

मैं अपने दोस्त के मकान की छत पर बैठा हूं । मेरे पास एक सोलह महीने की छोटी–सी लड़की लिजा खड़ी है । वह बहुत तेज और निडर है । उसने एक अजीब नकली आवाज में बोलना शुरू किया है । वह तरह–तरह से बड़बड़ाती रहती है । कई ध्वनियाँ ऐसी हैं जिन्हें बार–बार निकालती है मानों उन ध्वनियों के जरिये वह कुछ कहना चाहती हो । वह चीजों को छूना और उन्हें उठाना, पटकना पसंद करती है। यह काम वह बड़ी सफाई और सावधानी से करती है । यहाँ तक कि वह छोटे–छोटे छेदों में स्क्रू तक फिट कर देती है । क्या इससे यह साबित नहीं होता कि बच्चे किसी भी काम को करना उतना जटिल नहीं समझते, जितना हम उनके बारे में उस काम को जटिल मानते हैं ।

लिजा का दूसरा प्रिय खेल है– मेरी जेब से मेरा बाल पेन निकालना । उस पेन की टोपी खोलना, फिर उसे लगाना । इसमें थोड़ी तो कुशलता है ही, लेकिन इस खेल को खेलते वह कभी नहीं थकती । जैसे ही वह मेरी जेब में पेन देखती है, वह फौरन उसे लेने को लपकती है। यह खेल खेलने से पहले जब वह और भी छोटी थी । एक दिन वह मेरी गोद में आ बैठती है और मेरी जेब से पेन निकालती है । फिर पेन को उसी तरह जेब में लगाने की कोशिश करती है। एक–दो बार असफल होने के बाद जब वह पेन उसी तरह लगा देती है तो गोद से उछल कर खुशी में चीख पड़ती है । यह था उसके स्वयं सीखने का आनंद । फिर यह क्रिया वह रोज करती है, ताकि वह खुद यह जांच सके कि उसने जो सीखा है, उसे भूल तो नहीं गई या उसमें उसकी कुशलता कितनी है । इस तरह बच्चा अपनी सफलता का खुद आकलन भी करता है । इसी तरह एक दिन वह मेरे घर मेरे प्यानों के परदों पर हाथ घुमाने लगी । प्यानो की आवाज उसे बड़ी मोहक लगी । आड़े–टेढ़े हाथ घुमाने से उसे आनंद तो आ रहा था, मगर वह खोज रही थी कि इसमें वह संगीत कैसे निकलता है जो मैं बजाता हूं । एक दिन मैंने अपनी उंगलियाँ उसके सामने चलाईं । उसने गौर से देखा । उसने भी वैसा ही किया मगर फिर भी उसे संतोष नहीं था । मैंने बार–बार ऐसा किया । वह बार–बार देखती और एक दिन उसे लगा कि वह कुछ परदे क्रम में दबाने लग गई है और उनसे आनेवाली ध्वनि मेरे संगीत की तरह है । बस

फिर क्या था, कुछ ही दिनों में प्यानों के परदों को वह इस तरह जानने लगी जैसे कोई संगीतकार हो। कहाँ से मोटी और कहां से पतली आवाज निकलेगी, यह स्वयं करके दिखाने लगी । इन उदाहरणों से होल्ट बताता है कि बच्चों में निहित योग्यता का इस्तेमाल करना ही उन्हें ठीक से सीखना–सिखाना है । इसलिए होल्ट चार क्रियाएँ सुझाता है–

(1) अनेक प्रकार की अलग–अलग चीजें रखना और बच्चों से कहना कि वे उन चीजों की अलग–अलग ढेरी बनायें, बनावट एक जैसी हो ।

(2) अलग–अलग रंग की कागज की परचियाँ एक साथ रख कर बच्चों को अलग अलग रंग पहचान कर रंगवार कागज की ढेरी बनाने को कहना ।

(3) चीजों व परचियों के रंगों के नाम एक के बाद एक और समूह में बोलने को कहना।

(4) चीजों या रंगों के नाम लिखने के लिए कहना–चाहे बोर्ड पर, स्लेट पर या नोटबुक में ।

24 जुलाई 1961 का एक दिन

आज सुबह लिजा एक गुब्बारा पकड़ने लपकी । जैसे ही वह झुकी कि दरवाजे से आने वाली हवा से गुब्बारा उड़ा और दूसरी तरफ चला गया । दरवाजा खुला रहते गुब्बारा इधर–उधर उड़ता रहा । फिर दरवाजा बंद किया तो गुब्बारा एक जगह रुक गया । लिजा गुब्बारे के पास गई उसने गुब्बारा पकडने की बजाय उस पर फूंक मारी । इससे गुब्बारा उड़ कर दूर चला गया । मैं यह देख कर हैरत में था कि लिजा ने अपने आप ही पता लगा लिया कि गुब्बारा उड़ने का कारण हवा थी और हवा उसकी फूंक में भी है। इस तरह बच्चा अपना तर्कपूर्ण संबंध स्वयं कैसे खोजता है, यह उदाहरण से स्पष्ट है ।

कुछ बच्चे अकसर एक खेल खेलना पसंद करते हैं । वे अपने हाथ की मुट्ठी की पोली बनाकर उसमें आर–पार फूंक मारते हैं जिससे हवा आगे पीछे आती जाती है। जब एक बच्चा एक तरफ से और दूसरा दूसरी तरफ से फूंक मारता है तो बच्चों को बड़ा मजा आता है । वे यह खेल खेलते हुए अपनी उंगली अपने मुंह में डाल लेते हैं और फिर हवा के आने–जाने का रहस्य जानने की कोशिश करते हैं । इस संबंध को वे उस समय जोड़ते हैं जब कोई पंखे से हवा करता है। वह हवा भी फूंक की तरह ही हवा होती है। इसी तरह बच्चे गाना गाना पसंद करते हैं । लिजा गुब्बारे के साथ खेलती और गाती जाती है। हर बार कुछ न कुछ नये ढंग से गाती है । कहानी भी बच्चों में बहुत उत्सुकता और रोमांच पैदा करती है । कहने को बच्चों के कई गीत निरर्थक या बेमतलब होते हैं । मगर उनके बड़बड़ गीत ही उनका आनंद हैं । बच्चों को शब्द की बजाय ध्वनियाँ बहुत आकर्षित करती हैं । अगर बच्चे का गीत कोई अन्य गाने को कहे या दोहराने को कहे तो उसे बड़ा बुरा लगता है क्योंकि यह प्रक्रिया उसके लिए जटिल है । वह तो खुद ही कुछ जोड़ कर गाता है चाहे उसका मतलब हो या न हो शब्द और ताल मिलती हो या न मिलती हो । बच्चों से अगर हम कोई गीत जोड़कर खुद गाने को कहें तो उसके जोड़े हुए गीत में कोई मीन–मेख न निकालें। वह ध्वनियों को अपने आप जोड़ सकता है और इससे उसकी कल्पना और स्मृति को

भी विस्तार मिलता है। इसलिए बच्चा जब सीखता है तो हम ये खेल खिला सकते है–

(1) लोकगीत या कोई पंक्ति लेकर बच्चे को उसे आगे बढ़ाने को कहना

(2) कोई राष्ट्रीय–गीत, कोरस या प्रचलित गीत सामूहिक रूप से गाने को कहना ।

(3) बच्चों से बारी –बारी से कहानी सुनना और खुद कहानी बनाकर सुनाने को कहना।

इन खेलों से बच्चों में सुनने और बोलने की कुशलता और ध्यान देने की आदत का विकास होता है ।

25 जुलाई 1961 का किस्सा :

एक दिन कमरे में लिजा के रोने–चीखने की आवाज आई । लिजा अपने खिलौने छोड़कर घर की चीजों और बर्तनों से खेलना चाहती थी । उसे स्विच आन–आफ करने में बड़ा मजा आता है । प्लेट और कप, चम्मच से बजाने में उसे आनंद आता है । झाड़ू लेकर सफाई करने में मजा आता है । बर्तन, ऐश ट्रे, जूते, इधर–उधर रखने और जमाने में आनंद आता है। टूट–फूट, जोखिम या खतरे के भय से घर के लोग उसे ये काम करने नहीं देते । उस समय बच्चे का अपनी क्षमता के प्रति अहं जाग्रत होता है । वह समझता है कि ये सब काम करने की उसमें क्षमता है। घर के लोग हैं कि उसकी क्षमता पर विश्वास नहीं करते । खतरों से बचाना तो जरूरी है, मगर मां–बाप की हर काम में टोका–टाकी या जरूरत से अधिक बच्चे के नुकसान के प्रति चिंता कई बार बच्चे को दब्बू या डरपोक बना देती है ।इस कारण कई बच्चे सीखने का अर्थ वही समझते हैं जो दूसरा सिखाये और अपने आप सीखना बंद करने लगते है ।

बच्चों का अनुत्तीर्ण होना : क्यों और कैसे?

बच्चों का अनुत्तीर्ण होना, स्कूली व्यवस्था में दी जाने वाली शिक्षा में कोई आश्चर्य की बात नहीं है । स्कूल की रचना के अनेक तत्व ऐसे हैं जो सीखने वाले को अनुत्तीर्ण होना ज्यादा सिखाते हैं। जॉन होल्ट ने "हाऊ चिल्ड्रन लर्न" से लगभग 7–8 साल पहले "हाऊ चिल्ड्रन फैल" नामक पुस्तक लिख दी थी । अगर प्रत्येक सीखने और सिखाने वाला यह जान ले कि बच्चे सीखते कैसे हैं , तो बच्चों के अनुत्तीर्ण होने की समस्या का हल वे स्वयं खोज़ सकते हैं । यहाँ "हाऊ चिल्ड्रन लर्न" की चर्चा इसीलिए क्रम बदल कर पहले की गई है । होल्ट ने अनुत्तीर्ण हो जाने की उन समस्त गतिविधियों की खोज की थी जो स्कूली शिक्षण का अंग बन गई हैं और जो बच्चे के स्वाभाविक विकास में बाधक हैं । होल्ट ने जब "हाऊ चिल्ड्रन फैल" लिखी और इस पुस्तक का सारे शैक्षिक जगत में जब क्रांतिकारी प्रभाव हुआ तो कई शैक्षिक संगठनों व शिक्षाविदों ने होल्ट से प्रश्न किया कि अब वे "हाऊ टीचर्स फैल" नामक पुस्तक कब लिख रहे हैं? होल्ट ने उत्तर दिया क्या "हाऊ चिल्ड्रन फैल" का अर्थ "हाऊ टीचर्स फैल" नहीं है । यह सच है, क्योंकि बच्चे का किसी स्थापित प्रणाली में अनुत्तीर्ण, असफल या निराश होना, उस प्रणाली में निहित दोषों व गलतियों का ही परिणाम है । इसलिए जब बच्चा नहीं सीखता, तो इसका मतलब है कि सिखाने वाला असफल हुआ है । जब बच्चा नहीं सोचता तो इसका अर्थ है कि सीखने–सिखाने की प्रक्रिया सोचरहित, यांत्रिक या औपचारिक है । और जब बच्चा फैल हो

जाता है, तो इसका अर्थ है कि शिक्षक, पाठ्यक्रम, पाठ्य–सामग्री, परीक्षा–प्रणाली, संस्थायी व्यवस्था और उसके संस्थापक सभी एक साथ फैल हो गए हैं ।

जॉन होल्ट ने बच्चे के अनुत्तीर्ण होने के मुख्य रूप से चार तत्व खोजे हैं :–

(1) **व्यूह रचना या रणनीति** – सिखाने की संपूर्ण व्यूह रचना ही दोषपूर्ण है । संस्थागत या स्कूली रणनीति बच्चे को स्वतंत्र निष्कर्ष या विश्लेषण का अवसर ही नहीं देती । उत्तेजना, जिज्ञासा, उत्साह और सीखने की ललक जैसे तत्व जिस व्यूह रचना के अंग न हों, वहाँ बच्चे के लिए सीखने का कोई आनंद नहीं। इस व्यूह रचना में बच्चे हमेशा डर या भय, ऊब या खीझ और भ्रम या असमंजस में जीते हैं । इसलिए वे सीखते कम, सोचते कम, बोलते कम और सहते ज्यादा हैं । सोचने और समझने से वंचित रखकर बच्चे से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वह उत्तीर्ण एवं सिर्फ उत्तीर्ण हो; फेल तो हो ही नहीं । जब अधिकांश संसाधन, उपकरण, प्रणाली और प्रक्रिया स्वाभाविक सीखने की वृत्ति के विपरीत हों तो बच्चा फैल होगा ही । इस व्यूह रचना का उदाहरण सहित होल्ट ने विस्तार से विवरण दिया है ।

(2) **भय और असफलता** – संस्थागत व्यवस्था, बालक को भय–मुक्त नहीं रखती । परिवार की संरचना में ही जब वह प्रतिदिन तरफ–तरह के डरों में जीता है, तो स्कूल उस डर का और अधिक विस्तार ही करते हैं । यह चीज उठाना मत, टूट जाएगी, तुम गिर जाओगे, चोट लग जाएगी, इसे मत छूना, यह काम मत करना ये तमाम भय परिवार से विरासत में लेकर बच्चा स्कूल में पहुँचता है। गिजुभाई ने इसे ही बच्चे से कहलवाया है। इस तरह भय बालक के सीखने की प्रक्रिया में सर्वाधिक बाधक तत्व है ।

(3) **वास्तविक सीखना**– होल्ट यहाँ यह बताता है कि वास्तव में बच्चा कब, कैसे और क्यों सीखता है ? सीखना–सिखाने की वास्तविक स्थितियाँ क्या हैं? शिक्षक या व्यवस्था किस प्रकार स्वयं बालक–उन्मुखी होकर यह काम कर सकती हैं ? बालक पर अनावश्यक मनोवैज्ञानिक दबाव या प्रतियोगी मानसिकता के तनाव पैदा किए बिना कैसे सिखाया जा सकता है? उसे स्वयं सीखने का मौका दिया जा सकता है, इसे होल्ट ने स्पष्ट किया है । सीखना सोचने और समझने का परिणाम है; जब तक ऐसा नहीं होगा वास्तविक सीखना संभव ही नहीं है ।

(4) **स्कूल का फैल होना** – स्कूल बच्चे में भय, ऊब और प्रतिरोध पैदा करते हैं । यहाँ बच्चों का ज्ञान सूत्र के रूप में इस तरह दिया जाता है, मानों सूत्रों और सिद्धान्तों को अवेरकर रखने के लिए बच्चे का दिमाग कोई खाली संदूक हो। गणित में जोड़–बाकी, गुणा–भाग, बीजगणित के गुणनखंड या समीकरण या भाषा के नियम बच्चे को उसकी अपनी बुनियादी जिज्ञासा से भटका देते हैं। उसके मन में सीखने की क्रिया के सारे अर्थ वे हो जाते हैं, जो स्कूल में आजमाए जाते हैं । स्कूल अपनी श्रेष्ठता का आकलन इसी आधार पर करते हैं कि वे बच्चे पर नियमों का अधिकतम नियंत्रण कैसे कायम करें और उन्हें वह सिखाएँ जिन्हें सीखने में बच्चे की कोई रुचि नहीं । सोचना न सिखाना,

खेलते–खेलते सीखने की स्थितियाँ न पैदा करना और ज्ञान को बोझ की तरह मानसिक दबाव के साथ लाद देना स्कूल–प्रणाली का अपने आप में फैल होना है ।

बच्चों का पास होना भी फैल होना है :

स्कूल में फैल–पास होना तो प्रतिशतों और औसतों का गणित है । इसलिए होल्ट मानता है कि स्कूल मे ज्यादातर बच्चे फैल ही होते हैं। जो बच्चे पास होते हैं, वे भी केवल कहने को पास होते हैं। वास्तव में पास होने से वे जो उपलब्ध या अर्जित करते हैं, वह तो केवल कागज पर लिखा हुआ पास–फैल या ग्रेड नाम का शब्द है । वे स्कूल में कक्षावार पढ़ाई भी इसलिए करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि स्कूल की पढ़ाई पूरी करने का मतलब कक्षा–दर- कक्षा आगे जाना है ताकि एक दिन कक्षाओं से ठेलते–ठेलते उन्हें स्कूल से भी बाहर कर दिया जाए । कक्षा से कक्षा तक और स्कूल से बाहर निकलने तक जिस **'पास'** शब्द को बच्चा लेकर निकलता है, वह उसकी योग्यता या क्षमता का प्रतीक नहीं होता । बस स्कूली भाषा में **'पास'** भर अवश्य हो जाता है। ऐसे बच्चे पूरी स्कूली दुनिया में असंख्य है। उनकी सफलता एक और तत्व में दिखाई देती है। जिस तरह जीवन के पहले दो वर्ष की उम्र में बच्चा सीखता है, जन्म के साथ बच्चे में जो क्षमता होती है, अगर बच्चे उस क्षमता का स्कूल में सोचने, सीखने और अपने को विकसित करने में जरा भी इस्तेमाल करते हैं तो वे असफल नहीं होते। मगर अधिकांश बच्चे ऐसा नहीं कर पाते, इसलिए सही अर्थ में इक्का–दुक्का बच्चा तो पास होता है, बाकी सब फैल। इसका भी एक कारण है । इस असफलता के पीछे है उनका डर, उनकी ऊब और उनकी उलझन या भ्रांति। उनका सबसे बड़ा और लगातार डर है उनके फैल होने का। उन्हें डर है कि उनके आसपास माँ–बाप, शिक्षक आदि जो "बड़े लोग" है वे उसके फैल होने से कहीं निराश न हो जाएँ । इसलिए उन्हें दूसरों की निराशा और चिंता का डर रहता है । ये तथाकथित बड़े लोग बच्चों से इतनी आशाएँ, उम्मीदें और आकांक्षायें रखकर लेते हैं कि बच्चा स्कूल के भीतर और बाहर उनकी पूर्ति के डर में ही जीता है । बड़ों की नाखुशी के आतंक में बच्चा खुशी का आनंद ही खो बैठता है ।

"डर" के बाद दूसरा कारण है ऊब । स्कूल में जो होता है या करवाया जाता है, वह इतने हल्के या कम स्तर का होता है कि उससे बच्चे की भौतिक और मानसिक क्षमताओं एवं कुशलताओं का पूरा और सही इस्तेमाल नहीं हो पाता है । बच्चे को अनेक काम अपनी रुचि और उम्मीद के विरुद्ध करने पड़ते हैं । कुछ लोग यह कहते हैं कि स्कूल का काम बच्चे के लिए बहुत कठिन है। होल्ट कहता है कि बच्चे के लिए स्कूल में ही चुनौतियाँ नहीं है । कठिन या सरल का निर्णय करने वाले यह जानते ही नहीं कि बच्चा अपने स्वभाव में जिस साहस और जिस गति को लेकर पैदा हुआ है, स्कूल उसके अनुरूप उसे कुछ करने के मौके दे। इसलिए स्कूल में बच्चा जो भोगता है वह ऊब है । जो सीखता है, वह भी ऊब है। स्कूल उसके लिए कोई रोमांच की मनोरम और उत्तेजक जगह नहीं, जहाँ से पास होने का अर्थ है– जीवन की हर चुनौती से टकराने का साहस और समझ ।

बच्चों के सीखने में और फैल होने में तीसरा उत्तरदायी तत्व है–"उलझन, भ्रम या असमंजस"। स्कूल बच्चों के लिए निरर्थक शब्दों की दुनिया है । वहाँ शब्दों की रात–दिन जो बौछार की जाती है, उससे बच्चा गुजर कर कहीं नहीं पहुंचता है । जो बातें स्कूल बताता है, उसके कई

विरोधाभास उसे वहीं या समाज में नजर आते हैं । जो बातें सिखाई जाती हैं, उनका कोई संबंध बच्चों के दिमाग में पहले से मौजूद ज्ञान, कल्पना, सोच और समझ के साथ नहीं होता । स्कूल में पढ़ाई जानेवाली बातों का कोई सरोकार उन बातों से नहीं होता जो बच्चे दुनिया की तस्वीर में देखते हैं । स्कूल तो समाज, जीवन और दुनिया की सच्चाइयों से काटता है। वह ऐसे आदर्श सुझाता है, जिनका वह स्वयं पालन नहीं करता । वह ऐसे नियम देता है, जो स्वयं तोड़ देता है या जिनकी समाज में कोई जगह नहीं है । वह ऐसा मूल्य सिखाता है जिन्हें जीवन में अपनाकर जी नहीं सकता । कहने को तो स्कूल गुरु और ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । मगर वहाँ न गुरु ज्ञान के प्रति समर्पित हैं, न शिष्य ज्ञान के प्रति लालायित । बच्चे के मन में सदैव संदेहों, चिंताओं, असमंजसों और आतंकों का डेरा रहता है । बच्चा क्या करे, क्या नहीं? सोच रहित सीखना, सफलता–रहित उद्यम और आनंद रहित ज्ञान के नाम व पास–फैल का तमगा लेकर कहाँ जाए?

इस प्रकार बच्चे की असफलता के तीन ही मुख्य कारण हैं– डर, ऊब और उलझन, जिनके कारण बच्चे दिन पर दिन अपनी क्षमता, सीखने की ताकत और मानसिकता खोते जाते हैं। अंततः पास होकर भी फैल ही होते हैं । यह असफलता एक दो तक सीमित नहीं, बल्कि यह एक सामूहिक असफलता है जिसे स्कूल पैदा करते हैं । इस असफलता को कक्षा से जोड़कर देखें तो कई प्रश्न उठते हैं ? सच पूछा जाए तो कक्षा में होता क्या है? जो बच्चे फेल होते हैं वे करते क्या हैं? उनके दिमाग में ऐसा क्या चलता रहता है, जिसके कारण वे फैल हो जाते हैं। वे अपनी रुचियों और क्षमताओं का ज्यादा इस्तेमाल क्यों नहीं कर पाते? "हाऊ चिल्ड्रन फैल" पुस्तक ऐसे ही प्रश्न उठाती है? जॉन होल्ट कुछ बच्चों के छोटे–छोटे उदाहरणों से इन प्रश्नों के उत्तरों की खोज करता है ।

होल्ट और बच्चे :

"हाऊ चिल्ड्रन फैल" में होल्ट बच्चों के साथ अपने अनुभवों की दुनिया बाँटता है । वह कहता है कि यह पुस्तक उन सवालों के जबाव ढूँढने की कोशिश है जो शिक्षा के नाम पर अधकचरा या अधूरापन है । डरना, डरकर फैल होना और फैल होकर निराश एवं नाखुश होना, ये सब स्कूल द्वारा पैदा की गई एक कुंठा है । स्कूल इतने मामूली, इतने उदास और इतनी छोटी–छोटी बातों में उलझे रहते हैं कि वे बच्चे की बौद्धिकता का सही अंदाज ही नहीं लगा पाते। स्कूल तो केवल भाषा–परिभाषा, सूत्र–संदेश और अनेक विरोधों का भ्रम स्थल है । भ्रम भी ऐसा जो बाहर निकलने नहीं देता और अंदर डराकर रखता है । यह पुस्तक फैल होने की बात को लेकर, ऐसी न मान ली जावे कि शैक्षिक रूप से पिछड़े और कमजोर की पक्षधर है । यह तो स्कूल के उन हानिकारक प्रभावों को लेकर है जिनका प्रभाव बच्चों की बुद्धि और चरित्र पर पड़ता है। स्कूल में कार्यरत दोस्तों और साथियों पर पड़ता है । इस पुस्तक से आशय यह आरोप लगाना भी नहीं है कि फैल होने वाले बच्चों के लिए शिक्षक जिम्मेदार मान लिए जाएँ । स्कूल में जो कुछ सही या गलत होता है, उसका अपराध बोध शिक्षक ही क्यों भोगे? इसलिए अपराध बोध, दायित्व बोध जैसी बात यहाँ न उठाकर, बच्चे को सही जानने, समझने और उसके अनुसार शिक्षा को एक सार्थक, सही, रोचक सीखने की प्रकिया के रूप में आजमाने की बात उठाई गई है। जहाँ तक स्कूल के अच्छे या बुरे होने का सवाल है, जो अपने आपको सर्वश्रेष्ठ कहता है, वह भी वैसा नहीं है, क्योंकि अंततः पास–फैल के मुहावरे तो वहाँ भी रचे जाते हैं । बच्चे की पारिवारिक पृष्ठ–भूमि, आकांक्षा, उम्मीद आदि के नाम पर स्कूल का पास–फैल के निर्णयों द्वारा आजमाया

जाना एक प्रकार के बच्चों की बौद्धिकता या उनके अहम् को नष्ट करना है । बच्चे में जो निहित है, वह नष्ट न हो और जिसकी जरूरत है, उसकी खोज वह स्वयं भी करें और मिलकर करे तभी तो बच्चा सीखना सीखेगा, सोचकर, समझकर सीखना सीखेगा । होल्ट कुछ उदाहरण इस प्रकार देता है :

मैं अपने सहपाठी मित्र बिलहल को रोज शाम को स्कूल के काम के बाद अपनी टीप या अपना नोट दिया करता था । बाद में ऐसी टीप मैंने शिक्षा में रुचि लेने वाले शिक्षकों और पालकों को भेजी । "हाऊ चिल्ड्रन फैल" ऐसी टीपों से बनी एक किताब है । इस किताब में अच्छे स्कूल या खराब स्कूल, या पिछड़े हुए स्कूलों का कोई तुलनात्मक विवेचन नहीं है । जिन स्कूलों के अनुभव इस पुस्तक में हैं, वे प्रायवेट स्कूल हैं और जो उच्च स्तर के स्कूल माने जाते हैं। कुछ बच्चों को छोड़कर जिन बच्चों की चर्चा इस पुस्तक में है, वे अधिक बुद्धिमान, मेधावी तथा होशियार बच्चे हैं जो आगे चलकर अच्छे हाई स्कूलों और कालिजों में पढ़ेंगे । मेरे जिन मित्रों ने मुझसे ज्यादा स्कूल देखे हैं उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया है कि जो स्कूल मैंने नहीं देखे हैं वे अधिक बेहतर स्कूल नहीं हैं बल्कि बदतर जरूर हो सकते हैं । कई शिक्षक मेरे विचार जानकर मुझसे पूछते हैं 'स्कूल की गड़बड़ के लिए आप शिक्षक को ही दोषी मानकर उसे अपराधी जैसा महसूस क्यों करवाते हैं? यह बात सही नहीं है । अपराध-बोध तो अपने आप ही पैदा तब होता है जब अगर मेरे छात्र वह सब नहीं सीख पाते जो मैं उन्हें सिखाना चाहता हूं या मैं उन रास्तों की खोज नहीं कर पाया जिनकी खोज में मैं निकला था । इसलिए मैं अपने आपको जिम्मेदार जरूर मानता हूँ । अगर मेरे छात्र वह सब सीख नहीं पा रहे हैं जो मैं सिखाना चाहता हूँ तो मेरी जिम्मेदारी है कि मैं उस बात का पता लगाऊँ कि ऐसा क्यों है? यह पुस्तक ऐसी ही कोशिशों के उदाहरणों से बनी है ।

आजकल बहुत सी बातें होती है । लोग कहते हैं हमें शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना है और जब तक बच्चे एक कक्षा के पाठ सीख न जाएँ उन्हें अगली कक्षा में बिल्कुल नहीं भेजना चाहिए। इसका परिणाम क्या होगा? क्या बस इसी से शिक्षण के प्रति हमारी जिम्मेदारी पूरी हो जाएगी? या फिर यह एक प्रकार का पाखंड या ढोंग होगा? पास-फैल, ऊँचा-स्तर आदि को लेकर जो ढोंग स्कूलों में फैले हुए हैं, इस पुस्तक में ऐसे शैक्षिक कर्मकांडों व पाखंडों पर भी प्रहार किया गया है ।

हमारे पाखंड की एक मिसाल हमारी परीक्षा प्रणाली है। अच्छे परिणाम या पास के नाम पर बच्चों को पृथक से सघन कोचिंग दी जाएगी । इस 'स्पेशल-कोचिंग' से ऐसा लगेगा जैसे बच्चे अधिक सीख गए हैं और पास होने योग्य हो गए हों। इस प्रणाली में संपन्न, गोरे वर्ण वाले बच्चे पास हो जाएंगे मगर काले और गरीब बच्चे फैल होकर उसी कक्षा को दोहराते हैं, उनका परिणाम फिर भी बेहतर नहीं हो पाता । प्रश्न यह है कि वे बेहतर करें भी क्यों? जब एक प्रकार का शिक्षण पहली बार ही सिखाने में असफल रहा तो दूसरी बार अचानक वही तरीका सफल कैसे होगा? इस प्रकार फैल होने वाले तरीके के बार-बार वैसे ही उपयोग या प्रयोग से परिणाम भी बार-बार फैल ही आएगा ।

होल्ट आगे अपना एक और अनुभव प्रस्तुत करता है । न्यूयार्क की एक शैक्षिक संगोष्ठी में होल्ट ने भाग लिया । वहां सर्वेक्षण का एक दिलचस्प ब्यौरा सुनाया गया । डॉ. रोनाल्ड

एडमंड्स और उनके साथियों ने यह पता लगाने की कोशिश की थी कि ऐसी कौन सी वह बात है जो स्कूलों को "सफल और कारगर" बनाती है? इससे उनका तात्पर्य यह था कि ऐसा स्कूल जिसमें गरीब-अमीर दोनों प्रकार के बच्चों के उत्तीर्ण होने का अनुपात बराबर हो । अगर पाठ्य सामग्री और पढ़ाने का तरीका एक जैसा है तो एक जैसे परिणाम क्यों नहीं निकलते? इस कोशिश में पूरे उत्तर-पूर्वी अमेरिका में उन्हें कुल 55 स्कूल ऐसे मिले जिन्हें "सफल और कारगर" कहा जा सकता है । सर्वेक्षणकर्ताओं ने फिर यह पता लगाया कि वे कौन से गुण है जो इन 55 स्कूलों में समान रूप से मौजूद हैं वहाँ पाँच गुणों की चर्चा की गई जिनमें से मुझे दो गुण महत्वपूर्ण लगे जो इस प्रकार हैं:

1. उन स्कूलों के बच्चे अगर सीख नहीं पाते थे, तो इसके लिए न तो बच्चों को दोष दिया जाता था और न ही उनके परिवार, वातावरण, मोहल्ले को और न ही उनकी जन्मजात क्षमताओं/अक्षमताओं को दोषी ठहराया जाता था । कुल मिलाकर इन स्कूलों में बहाने ढूँढ़ने की कोशिश नहीं की जाती थी । बच्चों की सीख पाने या न सीख पाने की पूरी जिम्मेदारी स्कूल स्वयं लेता था अर्थात् असफलता के बहाने गढ़ने से मुक्त होकर जब शिक्षण किया जाता है; जिम्मेदारी से बचने की जब कोशिश नहीं की जाती और सफलता के नाम पर किए जाने वाले व्यर्थ के ढोंग या पाखंड नहीं अपनाये जाते तो बच्चे सीखने में सफल होते हैं और सिखानेवाला सिखाने में ।
2. इन स्कूलों में जब पढ़ाने का एक तरीका असफल हो जाता है तो दूसरे तरीकों की तलाश की जाती थी। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि वास्तव में तो पढ़ाने या सिखाने का तरीका फैल होता है, न कि कोई बच्चा या छात्र ।

होल्ट सीखने-सिखाने के कुछ तरीकों के साथ अपनी टीपों के कुछ उदाहरण तिथिवार इस पुस्तक में प्रस्तुत करता है । उनमें से कुछ यहाँ भी दिए जा रहे हैं –

13 फरवरी, 1958

मैं नेल को अपने दिमाग से अलग नहीं कर पा रहा हूं आज जब उसने मुझसे प्रेक्रशंस यानी भिन्न की बात की तो मुझे बड़ा अजीब लगा । बच्चे अक्सर समझने की कोशिश से ही इंकार कर देते हैं । यह बात मैं जानता था मगर यह भी जानता था कि किसी बात को समझते-समझते वे उसे उठाकर फेंक तो नहीं देते? मुझे लगा नेल ऐसा कर रही है । कई बार उसने मेरे शब्दों को समझने की भरसक कोशिश की और कई बार उसने समझा भी कि मैं क्या कर रहा हूं। जैसे ही मुझे लगता कि वह मेरी बात क्रमशः समझने की कोशिश में है, और अब पूरी तरह समझने वाली है वैसे ही वह कह उठती मुझे समझ में नहीं आ रहा है? मैं सोचता हूं कि आखिर यह क्या माजरा है ? क्या फैल होने में किसी बच्चे की निजी रुचि या स्वार्थ हो सकता है? क्या इसका अर्थ यह नहीं कि बच्चा मेरे सिखाने के तरीके से या तो असहमत है या उसमें बच्चे की रुचि को पकड़ने की बात ही नहीं है ।

मार्था एक और लड़की है । वह भी अंकों का खेल खेलते-खेलते कई बार ऐसा ही व्यवहार करती है । वह समझना नहीं चाहती । मैं जो कहता हूं, उसे सुनती नहीं और फिर कहती

है कि "मुझे तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा।" उसके लिए सब कुछ गडड-मड था । इन उदाहरणों से मेरे मन में एक विचार उठा और मैं फिर अपने पुराने मोह से ग्रस्त होकर कहने लगाः शायद बच्चे दो प्रकार के होते हैं एक वे जो बस सही उत्तर निकालता चाहते हैं और दूसरे वे, जो विचार करते हैं उस समस्या के बारे में जिसका उन्हें समाधान करना है ।

"सही उत्तर" की खोज वाले बच्चे एक ही छलांग में अपने लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश करते हैं और एक छलांग में उन्हें "सही उत्तर" नहीं मिला तो वे निराशा या हतोत्साहित हो जाते हैं। उन्हें समझ में नहीं आता कि "सही उत्तर" की खोज के लिए वे क्या करें? जो बच्चे समस्या को समझकर विचारपूर्वक खोज करते हैं, वे एक छलांग में हतोत्साहित नहीं होते ।

कई बच्चे जब छोटी-सी उम्र में यह कहते हैं कि अरे यार मुझमें तो अक्ल ही नहीं है, तो मुझे बड़ा अजीब लगता है । मैं सोचता था ऐसी निराशा तो बड़ी उम्र के किशोरों या युवकों में होती है । लेकिन जब मैंने छोटी उम्र के बच्चों में यह देखा तो लगा बच्चा अपनी क्षमता या बुद्धि के प्रति कितना-सतर्क है । इससे एक-एक प्रश्न हम सबके मन में उठ सकता है । अगर हम अपने बचपन और अपनी सीखने की प्रणाली के बारे में याद करें तो क्या हमें कई बार ऐसा नहीं लगा होगा कि हमारे अन्दर भी बुद्धि की कमी है और कई बार हमारा अहं जागा होगा कि हम दूसरों से बेहतर हैं । कई बार "सही उत्तर" की छलांग में असफल होने पर हम भी हतोत्साहित हुए होंगे । होल्ट हमें सोचने को मजबूर करता है कि क्या शिक्षा का अर्थ मात्र सही उत्तर की छलांगों के माध्यम से खोज या सही उत्तर तक पहुंचने की प्रक्रिया की तलाश है?

19 फरवरी, 1958

होल्ट कहता है कि "बुद्धि" एक पहेली है । अक्सर हम यह सुनते हैं कि अधिकांश लोग अपनी बौद्धिक क्षमता का दस प्रतिशत भी विकसित नहीं कर पाते, ऐसा क्यों? कुछ लोग ऐसे भी तो हैं जो अपनी क्षमता का 20 या 30 प्रतिशत तक उपयोग कर लेते हैं। ऐसा कैसे होता है?

होल्ट कहता है कि जब मैंने इस समस्या से जूझना शुरू किया तो मुझे लगा कि कुछ लोग जन्मजात दूसरों से अधिक होशियार या बुद्धिमान होते हैं और इसके बारे में कुछ किया नहीं जा सकता । कई मनोवैज्ञानिक जो आई.क्यू. सिद्धान्त तय करते हैं, वे भी ऐसा मानते हैं। अगर आपका बच्चों से सम्पर्क केवल कक्षा तक ही सीमित है, तो यह बात आपको सही लगेगी। मगर आपका सम्पर्क अगर बच्चों की बाकी जिंदगी से भी है और आप उन्हें अपने आप खेलते, खेलों की नई-नई खोज करते, काम करते, घर या बाहर कहीं देखें तो आप ऐसे निष्कर्ष निकालने से बच जाएँगें कि कुछ लोग किसी समय विशेष में अधिक बुद्धिमान या चतुर होते हैं और कुछ कम । क्या कारण है कि बच्चा कुछ परिस्थितियां में तो बहुत बारीकी और चतुराई से ध्यान देता है, सोचता है, दिमाग लड़ाता है, विश्लेषण और तर्क करता है अर्थात् अपनी बुद्धि का भरपूर इस्तेमाल करता है और वही बच्चा कक्षा में आकर निरा मूर्ख, जड़ और बुद्धू बन जाता है? होल्ट कहता है कि मेरी कक्षा जिसे मैं सबसे बेकार और बुद्ध मानता था उसी कक्षा से बाहर की जिन्दगी में अधिक परिपक्व, समझदार और रोचक व्यक्ति बने हैं । फिर कक्षा में ही क्यों गड़बड़ हो जाती है? कहीं न कहीं जाकर उसके जीवन की बुद्धिमत्ता और स्कूल के बीच में कोई

न कोई अवरोध अवश्य है । क्यों ऐसा होता है? स्कूल में बच्चे की बुद्धि वैसी क्यों नहीं रह पाती?

होल्ट एक उदाहरण पेश करता है । पिछले वर्ष मेरी कक्षा में बड़े खराब छात्र थे। मैंने जितने छात्रों को अपनी कक्षा में फैल किया, उतने तो पूरे स्कूल में भी फैल नहीं हुए था। मेरा इरादा ऐसा नहीं था और मैं चाहता भी था कि बच्चे पास हो जाएँ । इसके लिए हर परीक्षा के पहले बच्चों से "घोटा लगाने या रटने" की तैयारी हम कराते थे । इसे हम रिवीजन या पुनरावृत्ति कहते थे । मगर रटकर भी जब बच्चे फैल हो गए तो उत्तरों की समीक्षा की गई । एक पूरक परीक्षा रखी गई जो मुख्य परीक्षा से सरल थी । मगर आश्चर्य कि बच्चे इसमें भी फैल हो गए। मुझे लगा कि ऐसा क्यों? मैंने कारण भी खोज लिया । मुझे लगा कि बच्चे उसी काम में उत्सुकता और उत्साह से भाग लेते हैं जो जीवंत, रोचक और मनोरंजक हो । मैंने कक्षा में ऐसा माहौल बनाया भी । कई बच्चे जो फैल गए थे, उन्हें इस माहौल में सीखने में मजा आया और उन्होंने मेरा तरीका अपनाया तो मुझे भी अपनी सफलता का रास्ता मिल गया । मैंने तय किया कि सबसे पहले तो बच्चों का डर दूर किया जाए ताकि वे खुलकर बता सकें कि उन्हें कब क्या समझ में नहीं आया। फिर तब तक इस तरह समझाओ, जब तक बच्चे खुशी और रुचि से समझने का मजा लें । इस क्रिया में फैल होने वाले पुराने बच्चे भी अच्छे बनने लगे । जो बिल्कुल बेकार थे, वे फिर भी बेकार बने रहे या यों कहें कि पहले से ज्यादा बेकार हो गए । जो पहली कक्षा में फैल हुए, वे दूसरी कक्षा में भी फैल हो गए। अब मुझे लगा कि फैल होने को कैसे रोका जाए? फैल होने की सही समस्या क्या है?और उसका समाधान क्या है? मुझे लगा कि फेल होने के कारण को समझने के लिए गंभीरता के साथ यह मान कर लिया जाता है कि बच्चा फैल नहीं हुआ है, तब तक फैल होने के सही कारणों की खोज करना मुश्किल है । कम -अक्ल या अधिक-अक्ल, कमजोर या अच्छे आदि वर्गों में बच्चों को बांट कर फैल होने का तर्क गढ़ना ठीक नहीं ।

8 मई 1958

होल्ट अब एमिली नामक एक लड़की का उदाहरण देता है । उससे माइक्रोस्कोप लिखने को कहा गया, जिसे उसने माइनक्रोपर्ट लिखा । उसने एक छलांग में यह शब्द लिखने की कोशिश तो की मगर उसे यह आता नहीं था । एक बार जब वह लिख चुकी तो उसने उसे दोबारा देखा तक नहीं । यह भी नहीं सोचा कि वह गलत भी हो सकता है । उसे लगा उसने जो लिखा है, वह सही ही होगा । कई बच्चे ऐसा ही करते हैं । उनके सीखने की रणनीति यही होती है कि वे जो एक बार लिख देते हैं, उसे सही मानकर फिर पीछे मुड़कर नहीं देखते । एमिली इस रणनीति का बहुत उपयोग करती है । एमिली ने जब माइक्रोस्कोप को माइनक्रोपर्ट लिखा और मैंने पूछा कि यह तुमने क्या लिखा है तो बोली-माइक्रोस्कोप । यह सुनकर सब बच्चे हंस दिए मगर एमिली आश्वस्त भाव से अपनी स्पेलिंग पर ही डटी रही और हंसती रही मानो वह खिल्ली उड़ाने वालों की खिल्ली उड़ा रही हो । इससे यह प्रतीत होता है कि बच्चा गलत हो सकता है मगर अपने आपको बुद्धू कहलाना पंसद नहीं करता ।

एमिली ने फिर एक दिन एक गत्ते के टुकड़े पर कुछ चिपकाकर दिखाया । उसके किसी दोस्त ने अखबार से कुछ चुटकुले काट रखे थे । एमिली ने उन्हें गत्ते पर चिपकाकर मुझे पढ़ने को दिए । पढ़ते-पढ़ते जब मैं आखिरी चुटकुले पर पहुंचा तो मैंने पाया कि एमिली

ने गोंद चुटकुले वाली साइड पर लगा दी थी। चुटकुला नीचे एवं अखबार की खबर ऊपर की तरफ हो गई थी । मुझे आश्चर्य हुआ है कि उसने चुटकुला ठीक से पढ़ा भी नहीं और चिपका दिया । मैंने कहा "एमिली, तुमने जो चुटकुला चिपकाया है, वह तुम ही पढ़कर सुनाओ। मैंने सोचा जब वह गलत ढंग से चिपका हुआ देखेगी तो खुद ही चकित होगी और कहेगी" अरे यह मैंने क्या किया ? मगर मैं तब और भी हैरान हो गया जब एमिली ने चुटकुला देखा और बड़ी बेफिक्री से यह कहा "अरे, यह चुटकुला तो मेरी समझ में भी नहीं आया।" यह तो हद हो गई कि वह गलत साइड से चिपकाना स्वीकार न करके, गलत चुटकुला चिपकाना स्वीकार कर रही थी और अपनी भूल पर उसे कोई मलाल नहीं था ।

इस उदाहरण से उस बाल- मानसिकता का पता चलता है जो अपने को हमेशा सही मानती है । इस बच्ची की एक ही आकांक्षा है कि वह जो करे, या करती है ; वह "सही" ही हो । उसका "गलत" होना तो वह सह ही नहीं सकती । उसके लिए तो ऐसी कल्पना भी असत्य है कि उसने कोई गलती या भूल की होगी । अगर वह गलती या भूल करती भी है तो उसे तुरंत भुला देना पसंद करती है । वह यह नहीं चाहती कि उसे गलत साबित किया जाए । इसका अर्थ यह भी है कि वह मानती है कि दूसरे लोग या बड़े लोग हमेशा बच्चों को गलत साबित करने में ही लगे रहते हैं । उससे जब भी कोई काम कहा जाता है , वह फौरन करके अपने से बड़ी सत्ता या बड़े व्यक्ति को थमा कर सही/गलत शब्दों का इंतजार करती है । एमिली यह भी मानती है कि उसके हर काम का निर्णय केवल बड़े लोगों के सही/गलत कहने में ही निहित है। सही/गलत के उत्तर का डर उसे अन्य रणनीतियाँ भी अपनाने को मजबूर करता है । वह यह भी जानती है कि कक्षा में शिक्षक अक्सर ऐसे बच्चों से सवाल करते हैं जो ध्यान नहीं देते या जिनके चेहरों से पता लग जाता है कि उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है । कक्षा में सवाल करने का यह तरीका भी कितना अपराधपूर्ण है ? जब हम बच्चे में ध्यान देने योग्य रुचि पैदा ही नहीं करते और बच्चे हमारी बकबक पर ध्यान नहीं देते या देना चाहते, फिर सवाल करने का मतलब ही क्या?

एमिली उस वक्त अपने आपको बहुत सन्तुष्ट महसूस करती है जब कक्षा में कोई प्रश्न उछाला जाता है और वह जोर-जोर से जबाब देने के लिए आतुर होकर हाथ हिलाने लगती है । उस वक्त ऐसा लगता है मानो वह "सही उत्तर" बताने के लिए मरी जा रही हो । यह अलग बात है कि उसे "सही उत्तर" आता ही न हो, मगर वह यह जरूर समझती है कि ऐसा करने से शिक्षक समझेंगे कि उसे उत्तर आता है और वह इस रणनीति से उत्तर देने से बच जाएगी । एक बात और है । एमिली अपना हाथ तभी उठाती है जब वह देख लेती है कि कक्षा में 5-7 हाथ उठ गए हैं। मगर कई बार उसकी यह चालाकी पकड़ ली जाती है । एक बार जबाब देने की उसकी बारी आ गई । सवाल था 48 का आधा कितना होता है ? इसने झट से हाथ ऊपर उठा दिया और फुसफुसाहट में बोली 24 । मैंने कहा , "सही गलत जरा जोर से बताओ, लोग सुन नहीं पाए हैं", बस अब उसके चेहरे पर शिकन आ गई और उठ कर वह ऊचें स्वर में बोली,.....48 का आधा...." और कहते-कहते फिर फुसफुसाई 24 । फिर मैंने कहा कि लोग अब भी सुन नहीं पाए है तो वह चीखी और बोली , "तो अच्छा चिल्लाकर बताती हूँ-48 का आधा और वाक्य पूरा करते-करते फिर आवाज धीमी और फुसफुसाहट में वही जबाब "24"। उसे मेरे प्रश्न करने का तरीका डरा रहा था और मैं यह विश्वास उसे नहीं दिला पाया कि मैं प्रश्न नहीं "उत्तर" जोर से

या ऊँची आवाज में चाहता हूं । जब कि वह केवल प्रश्न ही ऊँची आवाज में दोहरा रही थी और उत्तर धीमाकर देती थी । इससे मुझे लगा कि शिक्षक का प्रश्न करने का तरीका कई बार बच्चे को इतना डरा देता है कि या तो वह प्रश्न ही नहीं समझता या उत्तर के "सही" होने पर भी उसे "सही" का विश्वास नहीं होता ।

"सही उत्तर" की रणनीति वैसे अक्सर सफल हो जाती है ।शिक्षक जो आमतौर पर "सही उत्तर" सुनने के लिए उतावले रहते हैं । ऐसे उत्तर सुनकर वे आत्म संतोष से भर उठते हैं । बच्चे का कोई भी "उत्तर" जो "सही उत्तर" से मिलता जुलता हो, अध्यापकों को बहुत आकर्षित करता है और शिक्षक उसी उत्तर को दोहरा कर आगे बढ़ जाता है । ऐसी स्थिति में "सही उत्तर" के बारे में जो छात्र आश्वस्त नहीं होते, वे फुसफुसा कर जबाब देना एक अच्छी रणनीति मान लेते हैं । अगर उत्तर सही होगा तो छात्र को शिक्षक "पास" कर देगा और साफ सुनाई नहीं दिया तो "गलत" होने पर भी "गलत" कहलाने से बचा जा सकता है । कई बार बच्चों को किसी शब्द में मात्रा लगानी हो और उन्हें पूरा विश्वास न हो कि सही क्या है तो वे इस प्रकार लगा देंगे कि मात्रा दोनों तरफ से पढ़ी जा सके । अंग्रेजी की स्पेलिंग में ऐसी उलझन कई बार होती हैं जब ए.ई. या ओ में से सही क्या का विश्वास नहीं होता है । इसलिए बच्चा ऐसा आकार बना देता है कि तीनों मे से कुछ भी पढ़ा जा सके । "सही उत्तर" न आने पर गलत को कैसे छुपाया जाए? ऐसी रणनीति बच्चे अपनाने में माहिर हो जाते हैं ।

एक बार कक्षा में संतुलन का खेल खेला जा रहा था । कक्षा में एक मीटर स्केल टंगी थी। उसके एक सिरे पर कुछ भार रख दिया था । बच्चों को दूसरे सिरे पर ऐसा भार रखना था जिससे स्केल का संतुलन बराबर हो जाता है । जब एक बच्चा भार उठाकर स्केल पर रखने को होता तो अन्य बच्चे अनुमान न करके यह बताते कि वह भार संतुलन करेगा या नहीं या दूसरे सिरे वाले भार से कम या ज्यादा है । स्केल को हर बार लॉक कर दिया जाता और लॉक हटाकर देखा जाता कि भार सही था या गलत । जब एमिली की बारी आई तो उसने स्केल पर एक जगह भार रखा । बच्चों ने कहा यह तो बेलेंस नहीं करेगा । जैसे-जैसे छात्र कहते गए, बेलेंस नहीं होगा, एमिली का आत्मविश्वास डगमगाता गया । जब सब बच्चों ने अपने अपने अनुमान बता दिये और लॉक हटाकर देखा गया तो एमिली ने बड़ी निश्चिन्त मुस्कान फेरते हुए कहा, "अरे सचमुच, मैं तो खुद भी जानती थी की यह बेलेंस नहीं करेगा ।" इस प्रकार एमिली ने स्वयं अपने ही प्रयत्न को नकार दिया और वह अपनी गल्ती भुलाने की कोशिश करने लगी । वह चेहरा-मोहरा बदलकर उस बात को भी इस तरह इतनी जल्दी भूल जाना चाहती थी कि मानो उसका काम उसी ने गलत कह अपने आपको बेवकूफी से मुक्त कर लिया हो । एमिली माइक्रोस्कोप की सही स्पेलिंग नहीं लिख पाती, बेलेंस सही नहीं कर पाती और गलती को भुला देना चाहती तो है; मगर उसके मन में शायद ऐसा प्रश्न भी उठता होगा कि "ये शिक्षक मुझसे कुछ करवाना चाहते हैं और मैं नहीं जानती कि ये क्या करवाना चाहते हैं? और भगवान के लिए क्यों करवाना चाहते हैं? मगर फिर भी मैं कुछ इसलिए कर देती हूं कि मुझे ये लोग थोड़ा चैन लेने दें । बच्चों की ऐसी रणनीतियों को देखर होल्ट एक कविता की ये पंक्तियाँ कहता है:-

एक सुनसान, भक्क अकेली सड़क पर
चलने वाले की तरह/वह
भय और आतंक में/ चलता है/ और
एक बार/ एक तरफ–चलना शुरू करने पर/
चलता जाता है/ चलता जाता है/सिर
घुमाकर/नहीं देखता/ जरा भी/
वह जानता है/एक भयानक राक्षस/ उसके ठीक पीछे/
दौड़ा/ चला आ रहा है.....

इस प्रकार होल्ट बताता है कि "सही उत्तर" और "गलत उत्तर" की रणनीतियों के बीच बच्चे ऐसा ही सफर करते हैं । मगर यह जरूर है कि हर बच्चा अपनी रणनीति में साफ होता है, उलझन तो सिखाने वाला खड़ी करता है । बच्चे तो हमेशा स्वप्नदर्शी होते हैं, दिन में भी सपने देखते हैं फिर उन्हें यह परवाह नहीं कि वे पकड़ लिए जाएँगे। होल्ट इसी तरह बिलहल की कक्षा की गतिविधि देखता है और पाता है कि बच्चे और बड़े आदमी के बीच एक विशेष फर्क है । बिलहल जो बार–बार गल्तियाँ करता है, वे गलतियाँ सोचने के फर्क के कारण हुई हैं । यदि सोचने की सही तकनीक हो तो उत्तर के सही/गलत की बजाय सही या गलत के निर्णय के पहले उसकी चिंता होगी । एक बार तो एक बच्चे ने अजीब ही रणनीति अपनाई । "ग्रोइंग विदाउट स्कूल" में स्पेलिंग सिखाने का तरीका पढ़कर एक बच्चे ने एक पत्र लिखा कि उससे एक स्पेलिंग पूछा गया जिसके बारे में वह निश्चित नहीं था । इसलिए उसने न अनुमान लगाया, न कुछ कहा । वह बिलकुल चुपचाप मूर्ति की तरफ खड़ा रहा । इस तरह गलत अनुमान या गलत उत्तर पर साथियों द्वारा हंसी उड़ाये जाने से वह बच गया । "रणनीति" वाले भाग में इस प्रकार 13 फरवरी ,1958 से लेकर 28 अप्रैल, 1959 तक के लगभग 14 महीनों के विभिन्न अनुभवों को स्वयं छात्रों व शिक्षकों के बीच होल्ट ने बाँटा है और यह पता लगाने की कोशिश की है कि बच्चे आखिर फैल कैसे या क्यों होते हैं? डर एवं सही–गलत की उलझन एवं कक्षा में पैदा की जाने वाली ऊब इसके लिए कितनी जिम्मेदार है ?

डर और असफलता

पुस्तक का दूसरा भाग "फीयर एंड फेल्युअर" अर्थात् "डर एवं असफलता" है । यहाँ भी होल्ट कक्षा के कई प्रयोग प्रस्तुत करता है । वह ब्लेकबोर्ड पर एक आकार में क्यू बनाता है। फिर उसके आसपास चौखाना खींचता है। बच्चे बहस करते हैं कि "क्यू" चौखाने के पहले था या नहीं था ? जब भी वह ऐसा करता है; देखता है, बच्चे कब कितने चुप हो जाते हैं और कब एक दम शोर करके बहस करने लगते हैं । बिलहल जैसे बच्चों की अनेक असफलताएँ डर का परिणाम हैं। होल्ट तो यह मानता है कि "सफलता"या "असफलता" ये भी प्रौढ़ विचार या सिद्धान्त हैं, जिन्हें हम बच्चों पर थोप देते हैं । छोटे–छोटे बच्चे चलना सीखते हैं, गिरते–पड़ते हैं । छह–सात साल के बच्चे सायकल भी गिर–पड़कर सीख लेते हैं । उनके मन में कभी पास–फेल का भाव पैदा ही नहीं होता है । वे तो "सीखना है", और "सीख लिया है", बस इतना ही जानते हैं । कई बार हम दूसरों के बारे में अनुमान लगाते हैं और सही हो जाने पर हम अनुमानों के भविष्यवक्ता बनकर बड़ा संतोष अनुभव करते हैं । बच्चों का एक अत्यंत रोचक अनुभव है– लंदन के हालेंड पार्क का । वहाँ पेड़ों से कई रस्सियाँ बाँधकर लटका दी गई हैं । बच्चे उन रस्सियों को पकड़ कर पेड़ पर चढ़ते हैं । मैंने पार्क वालों से पूछा कि क्या कोई बच्चा कभी गिरा या किसी को चोट लगी? उत्तर था– एक बार भी ऐसा नहीं हुआ। फिर मैंने पूछा बड़ों ने ऐसा किया या नहीं? तो उत्तर था बड़ों को तो आने ही नहीं दिया जाता । अगर माताएँ आ जाएँ तो वे तो चिल्लाती ही रहेंगी कि ऐसा मत करना, यह खतरनाक है, गिर जाओगे, लग जाएगी। उस समय बच्चे अपमानित महसूस करते हैं और अपने अहं को तुष्ट करने के लिए माँ के सामने प्रदर्शन करते हैं । माँ चिल्लाती है, गिर जाओगे, गिर जाओगे। बस बच्चा या तो गिर जाता है या डर कर वह प्रदर्शन नहीं करता । इस प्रकार प्रौढ़ के हस्तक्षेप करते ही बच्चों में डर प्रवेश कर जाता है जो अंततः असफलता की ओर ले जाता है । होल्ट अपने एक बर्ष के अनुभव में पाता है कि किस प्रकार "डर" की रणनीति का बच्चों के क्रिया–कलाप पर प्रभाव पड़ता है । इन बच्चों की रणनीतियाँ आत्म केन्द्रित एवं आत्म प्रेरक होती हैं, और कठिनाइयों को हटाने, परेशानी से बचने, दंड या अस्वीकार से बचने एवं अपनी प्रतिष्ठा को बचाने से जुड़ी रहतीं हैं। कई बार कुछ लोग जो शिक्षक के रूप में अपने बारे में कुछ आदर्श अवधारणा रखते हैं, वे कहते हैं कि अपने आपको छुपाते इसलिए हैं कि छात्र उनके शिक्षण के बारे में अनुमान लगा सकें और वे लगातार बच्चों में सीखने की निरंतरता बनाये रख सकें । मगर बच्चों की दुनिया में कुछ भी छुप नहीं सकता । जब मैंने बच्चों को अपना दोस्त बना लिया तो मुझे लगा कि वास्तव में बच्चों की दुनियाँ में आनंद से पागल हुआ जा सकता है ।

यहाँ होल्ट किसी भी काम को डर से करवाना या सिखाना एक प्रकार से "गुलामों या गुलामी का धर्म" कहता है । कोशिश, अवलोकन, नकारना, देर होना, बेहतर होना, किसी चीज की सही पहचान होना और आई–क्यू. को बुद्धिमापन का सही औजार के रूप में अपनाना आदि अनेक विरोधाभासों को होल्ट बच्चों के अन्दर पराजित होते दिखाता है । वह पाता है कि जब–जब भी बच्चा पराजित या असफल हुआ है वह अपने भीतर या बाहर के डर का परिणाम है । होल्ट कहता है कि "डर या चिंता" नियंत्रण के औजारों की तरह है जिसका मैं भी इस्तेमाल करता हूं, मगर मेरी कक्षा में अधिक से अधिक स्वतंत्रता और कम से कम डर या दबाव है । इस कारण बच्चे जो सीखते हैं, वह गलती करने के डर से मुक्त रह कर सीखते हैं । स्कूल या शिक्षण को डर–मुक्त रखकर ही सीखा–सिखाया जा सकता है । स्कूल में कितना डर है, इस संबंध में होल्ट यह मानता है कि वास्तव में "मानसिक रूप से पिछड़े बच्चे पैदायशी नहीं होते बल्कि स्कूल उन्हें वैसा बना देता है ।"

वास्तविक शिक्षण

पुस्तक के तीसरे भाग में वास्तविक शिक्षण कैसे होता है? और क्या है? यह दिया गया है । फैल होने के पीछे शिक्षण की वास्तविकता से कितना अलग होना है, इन्हीं अनुभवों को होल्ट ने प्रस्तुत किया है । होल्ट यहाँ गणित समिति को 22 अप्रेल 1958 को एक प्रपत्र भेजता है । हम अक्सर बच्चों से कहते हैं कि वे जो कुछ कह रहे हैं, उसका मतलब क्या है: यह भी

सोचें। इस तरह हम यह बताते हैं कि "सही उत्तर" तक पहुंचने का यह अचूक तरीका है । लेकिन ऐसे कथनों में अनेक विरोधाभास मौजूद हैं । एक बार कक्षा 5 के छात्रों को 6 में 1/2 का भाग देने को कहा गया । बच्चे स्कूल में रटाई गई भाग की परिभाषा जानते हैं–जैसे 8 में चार का भाग देंगे तो क्या होगा या 8 के अन्दर कितने चार हैं? या अगर आप आठ को चार बराबर भागों में बाँट देंगे तो कितनी संख्या हर भाग में होगी ? या 6 में कितने 1/2 हैं? यह सोच की दृष्टि से अच्छी बात हैं मगर जब अधिकांश लोग "भाग देने"की शब्दावली का उपयोग करते हैं तो बच्चा गड़बड़ा जाता है । बच्चे तो रात–दिन कंचे बाँटने का खेल खेलते हैं । इसलिए भाग देने का पारिभाषिक अर्थ उनके लिए कोई मतलब नहीं रखता । बिलहल की कक्षा में जैन, बेटी, जिल आदि की अलग–अलग गणितीय क्रियाओं को होल्ट यहाँ प्रस्तुत करता है और पाता है कि जीवन में जो वास्तविक सीखना हैं, उससे जब कक्षा में सीखने–सिखाने की प्रणाली पृथक होती है तो बच्चों में असमंजस, डर और उलझन पैदा होना स्वाभाविक है । बच्चे तो खेल की चीजों में खेलते–खेलते स्वयं अपने नियमों का भी निर्माण कर लेते हैं । वे अपनी व्याख्या और विश्लेषण भी जानते हैं । बच्चे खेल–खेल में निर्णय लेते हैं । डोरोथी को एक कागज ढंकने के लिए कुछ छड़ियाँ दी जाती हैं । डोरोथी छड़ें जमाकर थोड़ी देर में स्वयं बता देती है कि पूरा कागज ढंकने में 44 छड़ें लगेंगी । कई बार बच्चे की असफलता को लेकर एक मुहावरा कहा जाता है और वह यह कि "हमें इस बच्चे की बुद्धि का पुनर्निमाण करना है" । स्कूल में ऐसा कह कहकर हमने बच्चों का बहुत नुकसान किया है । फिर हमें यह भी बताया जाता है कि मनुष्य ही तो बुद्धि लेकर पैदा होने वाला प्राणी है । प्रश्न करना, उत्तर तैयार करना, समस्या हल करने वाला मनुष्य ही एक मात्र प्राणी है। इसलिए "बुद्धि निर्माण" की बार–बार रट या अलग–अलग तरकीबें क्यों? यह अध्याय गणित, ज्यामिती आकार एवं समस्याओं व उनके हलों पर आधारित है जिसमें बच्चों कि क्रियाएँ पुस्तक को विस्तार से पढ़कर जानी जा सकती हैं । यहाँ होल्ट ने डेन्मार्क के "**नाय लिली स्कोल**" (फ्री स्कोल यानी अंग्रेजी में फ्री स्कूल) का भी जिक्र किया है । होल्ट का अनुभव है कि अगर हम बच्चों को गिनती या गणित सिखाना चाहते हैं तो हम उन्हें अंकों की दुनिया में बार–बार ले जाएँ जहाँ जाकर वे यह जान सकें कि ये अंक प्रौढ़ों की दुनिया में कैसे काम आ रहे हैं ।

स्कूल स्वयं कैसे फैल होते हैं?

एक दिन नेल आई। उसने स्याही से लिखी अपनी निबंध की नोट बुक या फेयर कॉपी मेरी डेस्क पर रख दी । नियमानुसार स्याही की फेयर कापी में तीन से अधिक गलती होने पर हम उसे नहीं जाँचते । मैंने देखा नेल की पाँच गलतियाँ थीं । मैंने उसे कॉपी लौटा कर दोबारा लिखने को कहा । दोबारा वह सात गलतियाँ कर लाई । उसका लेखन भी पहले से ज्यादा खराब था। मैंने फिर कॉपी लौटाई। तीसरी बार परिणाम और भी खराब । इसी बीच बिलहल आ गए। उन्होंने पूछा कि तुम आखिर चाहते क्या हो? क्या बच्चे को जहां ले जाना चाहते हो, उस मुकाम पर वह पहुंच रहा है? यह सवाल मुझे स्वयं से पूछना चाहिये था । एक निबंध के बारे में क्या नियमों की इतनी सख्ती आवश्यक है? हम ऐसा करके शायद यह सोचते हैं कि हम बच्चों की सहायता कर रहे हैं ? मगर क्या दरअसल ऐसा है? यह तरीका तो एक प्रकार से बिना खर्च के शिक्षक, प्रशासक और स्कूल के लिए अच्छा और लाभदायक है। इसमें स्कूल की बचत होती है।

एक बार मेरा साथी बिलहल आया। वह और मैं कक्षा 5 में साथ पढ़ रहे थे । वह नौसिखिया शिक्षक था। इसलिए पढ़ाना सीख रहा था। वह गणित पढ़ाता था । उसने ऊँचे से ऊँचे आई.क्यू या बुद्धि के बच्चों को पूरे जीवन पढ़ाया, लेकिन अंत में एक दिन वह बोला मैं तो उन्हें पढ़ाता हूं "मगर वे पढ़ते या सीखते ही नहीं ।" एक प्रकार से वह अपने शिक्षण की असफलता बता रहा था । ऐसा मैंने कोलारेडो में किया। मैं पढ़ाता था, मगर वे नहीं सीखते थे। कुछ ही बच्चे ठीक–ठाक निकले। खराब बच्चे और खराब होते गए । अगर हम सर्वश्रेष्ठ स्कूल का रिकार्ड देखें और सोचें कि उस स्कूल ने कितने 'सी' और 'डी' ग्रेड पाने वाले बच्चे को 'ए' ग्रेड वाला बनाया तो हमें जो संख्या मिलेगी वह अत्यंत कम ही होगी । इस बात को लेकर मेरे मन में एक प्रश्न सताता रहा है कि आखिर बच्चे सीखना क्यों नहीं चाहते? जब मैंने सोचा तो मुझे लगा कि वे इसलिए नहीं सीखते कि हम उन्हें "सीखना" या "पढ़ाना"चाहते हैं। हम पढ़ाई के माध्यम से उनके दिमागों को बस में कर लेना चाहते हैं ।

यह सच है कि किसी भी जाँच या परीक्षा से यह पता चलता है कि स्कूल में जो कुछ थोड़ा बहुत पढ़ाया गया है, उसमें से बच्चा बहुत कुछ सीख पाता है । जितना सीखता है, उसमें से भी उसे बहुत कम याद रहता है और जो कुछ याद रहता है, उसमें से बहुत थोड़ा सा उपयोग में आता है । जो बातें हम सीखते, याद करते और उपयोग में लाते हैं, वे तो स्कूल के बाहर ही सीखी जाती हैं। वे ही हमारे जीवन का हिस्सा हो जाती हैं ।

शिक्षक और स्कूल मिलकर एक और गलत धारणा तैयार करते हैं । वे मानते हैं कि अच्छा चरित्र अच्छे व्यवहार से बनता है । उनकी निगाह में नम्रता, आज्ञाकारिता, और बात–बात पर बच्चे को सलाह देना या कुछ सुझाते रहना बड़े गुण है । यह जरूरी नहीं कि बच्चे से जो कुछ कहा गया है, वह वैसा कर देगा या हो सकता उससे बेहतर भी कर दे । मगर यह भी सच है कि जिससे कुछ भी नहीं कहा गया, वह पहले वाले बच्चे से और अधिक बेहतर कर दे। शिक्षक और स्कूल बच्चे में उन मूल्यों को ज्यादा महत्व देते हैं, जिन को बच्चा स्वयं कोई महत्व नहीं देता । इसी का परिणाम है कि स्कूल या शिक्षा से चरित्र निर्माण की धारणा बुरी तरह असफल हुई है । इसका अच्छा उदाहरण जैन नामक लड़की है । जैन को कई शिक्षकों ने पढ़ाया। वह सभी के लिए परेशानियाँ खड़ी करने वाली समस्या रही है । यहाँ तक कि अच्छे और उदार से उदार स्कूल भी उसे झेल न सके । किसी ने उसके अन्दर के गुण और प्रतिभा को जानने की कोशिश ही नहीं की । जब स्कूल और शिक्षकों से पूछा गया कि जैन कैसी लड़की है तो सभी का मत था कि वह बहुत खराब है; इतनी खराब कि अगर स्कूल उदार न होता तो वह बाहर निकाल दी जाती। शिक्षकों ने तो उस लड़की का इस प्रकार चरित्र–चित्रण कर उसे एक बिगड़ैल और जटिल लड़की बना दिया । मैं चाहता हूं कि ऐसी कई लड़कियाँ हों । किसी ने सही कहा है कि "साहस अत्यन्त ही सुंदर गुण है" । क्या शिक्षक और स्कूल इस सुंदर गुण की पहचान जैन में कर पाए? बिल्कुल इसी प्रकार की लड़की जापानी पुस्तक "टोटो चॉन " की टोटो है, जिसके लिए स्कूल हर बार असफल हो जाता है । दुर्भाग्य यह है कि अधिकांश स्कूल "साहस" और बच्चों की दिलेरी को कोई महत्व ही नहीं देते और उन्हें विद्रोही, अवज्ञाकारी, शैतान या सख्ती से निपटने योग्य बच्चे मानते हैं । इस प्रकार एक तेज–तर्राट बच्चे को दब्बू या पिछड़े बच्चे में बदल देते हैं ।

होल्ट मानता है कि अधिकांश बच्चे अधिक से अधिक स्कूल के बाहर ही सीखते हैं। इसका एक पारंपरिक उदाहरण लें । जब बच्चा बीमार या कमजोर रह जाता है तो माँ –बाप प्रायवेट शिक्षक से उसे पढ़वाते हैं और एक सप्ताह में दो–तीन घण्टे घर पर पढ़कर ही बच्चा स्कूल के अन्य बच्चों के बराबर हो जाता है। कई बार उनसे अच्छा हो जाता है । इससे क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि स्कूल तो एक प्रकार का समय–बर्बादी का सिलसिला या तरीका है ? होल्ट एक अच्छा उदाहरण पेश करता है । वह एक परिवार में एक बच्ची से बातचीत करते हुए पूछता है–

– आजकल कैसा चल रहा है तुम्हारा स्कूल?

– ठीक ही.

– वहाँ क्या पढ़ाया जाता है?

– कुछ देर की चुप्पी! अच्छा क्या पढ़ाया जाता है?

–पढ़ाया क्या खाक जाता है–गोन और वेन्ट के बीच का अंतर!

– तुम जानती हो, इसमें कौन सा सही है?आई हेव गॉन टू द मूव्हीज या आई हेव वेन्ट टू द मूव्हीज?

– वह थोड़ी लम्बी चुप्पी रखती है, फिर कहती है –मुझे नहीं मालूम ।

मैं यह तभी बता सकती हूं जब यह ब्लैकबोर्ड पर न लिखा जाए ।

यह सुनकर बिल को और मुझे हंसी आ गई । एक ऐसा स्कूल जहाँ यंत्रवत क्रिया होती है बच्चा सोचने से वंचित हो जाता है । बच्चे पर हम कितना भी नियंत्रण क्यों न लगाएँ, बच्चा उस नियंत्रण की परवाह ही नहीं करता । इसलिए उन्हें ध्यान नहीं देने पर डाँटने–डपटने का कोई मतलब नहीं । अगर हम चाहते हैं कि स्कूल में सखती हो तो क्या इसका अर्थ यह है कि बच्चे कक्षा में जड़–मूर्तिवत् हाथ पर हाथ धरे चुपचाप बैठे रहें? हम अगर बच्चे का ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं तो हमें उसके अनुरूप आकर्षण पैदा करना होगा, उसे इस प्रकार मुग्ध करके रखना होगा । उसके सामने ऐसी स्थितियाँ, समस्याएँ और सामग्री रखना होगी कि वह उनके साथ खेलने और उनसे सीखने के लिए ललचाए । एक बच्चा अपनी बुद्धिमानी के चरम पर उस समय होता है, जब उसके सामने की वास्तविकता उसे ध्यान देने के लिए बहुत तेजी से बाध्य करती है । उसमें रुचि पैदा कर देती है । उसे सीखने की क्रिया में ध्यानमग्न करके पूरी तरह सराबोर कर देती है । इसलिए कक्षा और कक्षा–कर्म का उत्तेजक, प्रेरक और रोचक होना अनिवार्य है । वह भी इसलिए नहीं कि स्कूल एक आनंदमयी जगह कहलाए, बल्कि वह जगह ऐसी हो जहाँ बच्चे बुद्धिमानी का इस्तेमाल करें और हमेशा बुद्धि का इस्तेमाल करने की आदत पैदा करें । अगर ऐसा हो जाय तो वे जो सीखना चाहते हैं , उसे न केवल पकड़ लेंगे बल्कि याद भी रखेगें और उसका उपयोग भी करेंगे ।

बच्चे बहुत जल्दी हमारी भावनाओं को ताड़ लेते हैं । वे हमारे व्यवहार का जब विरोध या प्रतिरोध करते हैं तो वे यह काम सही करते हैं । हमें क्या हक है कि हम यह सोंचे कि बच्चों में कोई बात अच्छी नहीं होती, सिवा इसके कि जो हम उन्हें सिखाते हैं वही अच्छा यह अनुमान

भी हमारा न केवल अटकलबाजी या दुराग्रहपूर्ण है, बल्कि काफी हद तक गलत है । ऐसे दुराग्रह से हमारे बच्चे को देखने की दृष्टि ही धुँधली पड़ जाती है और हम यह मान लेते हैं कि हम अपने जटिल और बेवकूफी भरे व्यवहार से बच्चे का चरित्र निर्माण कर रहे हैं । जबकि होता यह है कि ऐसी जिद करके बच्चे में जो कुछ गुण या अच्छाइयाँ है, उन्हें भी हम नष्ट कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जितने गुण हम विकसित करना चाहते हैं उतने ही या उनसे कहीं अधिक नष्ट कर देते हैं । हम बच्चे का भला करने की बजाय उसका नुकसान ही अधिक करते हैं । बच्चे के हमारी जिद पर सीखने, पास या फेल होने का परिणाम है कि बच्चा वास्तविकता से अलग–थलग कर दिया जाता है । जो ज्ञान स्कूल उसे देते या देना चाहते हैं, उसे बोझ की तरह ढोता तो है, मगर वह उसके कोई काम नहीं आता । क्या इस तरह स्कूल स्वयं ही अपनी प्रक्रिया या प्रणाली में असफल या अनुत्तीर्ण नहीं है?

"हाऊ चिल्ड्रन फैल" इस प्रकार समूची शिक्षा का रूपक ही खंडित करती है । बच्चा, शिक्षक, स्कूल, समाज, बुद्धि, मनोविज्ञान, मूल्य–ये वे तमाम तत्व हैं जो शिक्षा के साथ जुड़े हैं । स्कूल इन सबको नियंत्रित करता है । वह उन्मुक्त बालक को आकर्षित करने के बजाय ऊब में झोंक देता है । उसे सीखने के बजाय उलझाता है । उसे साहसी और निडर बनाने के बजाय भी और कमजोर बनाता है । उसे गलत रणनीतियों को अपनाने के लिए उकसाता है।

होल्ट की दोनों पुस्तकों का संक्षिप्त विवेचन ही यहाँ संभव था, किन्तु इन दोनों का विस्तार से अध्ययन आज की आवश्यकता इसलिए है कि अब स्कूल ही एक मात्र संस्था नहीं है, बल्कि दूरश्र–श्रव्य माध्यम, पत्राचार आदि अनेक माध्यम उसी संस्था के अगले विस्तार हैं। तकनालाजी मनुष्य को खारिज करती जा रही है । नई- नई चुनौतियों के बीच बच्चे को शिक्षा से एक ऐसे भविष्य की तलाश करना है, जिसे वह नहीं जानता । "हाऊ चिल्ड्रन फैल", पुस्तक में बालक, शिक्षक और पूरे समाज के स्कूली–मनोविज्ञान, उसकी सफलता–असफलता की रोचक और छोटे–छोटे प्रसंगों के साथ लिखी कहानी की तरह लगती है । इससे "फैल हो जाने" की पूरी अवधारणा को ही धक्का लगता है। सफलता–असफलता के नाम शिक्षा के बँटवारे की व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा होता है । इन पुस्तकों के ये अंश पुस्तक की उन भावनाओं से परिचित कराते हैं, जिनसे हम यह सही ढंग से जान सकते हैं कि बच्चे फैल केसे होते हैं और फैल न होने के लिए सीखते कैसे हैं?

अध्याय–8

प्रौढ़ शिक्षा : मुक्ति का अभ्यास–पाउलो फ्रेरे, हेरल्ड बेन्जमिन, जे.आर.किड, और जेनिफर राजर्स

दुनिया की तमाम प्राकृतिक या मानव निर्मित त्रासदियों में कहीं न कहीं मनुष्य की शिक्षा जिम्मेदार है । शिक्षा के विकास के तमाम दावों के बावजूद आज तक हम ऐसी शिक्षा तैयार नहीं कर पाये कि मनुष्य की समूची शक्ति, ऊर्जा, संसाधन सब कुछ मनुष्य–जीवन को बेहतर बनाने, खुशहाल बनाने में लगे बजाय उसे मिटाने के उपकरण खोजने में।

प्रौढ़ शिक्षा–जीवन और मुक्ति का अभ्यास

प्रौढ़ शिक्षा, प्रौढ़ साक्षरता, कार्यात्मक साक्षरता एवं आजीवन शिक्षा अब नये मुहावरे नहीं हैं । शिक्षा आज केवल मानव निर्मित संस्थाओं के परकोटों और परिक्षेत्रों तक सीमित नहीं है । प्रकृति की ओर लौटाने के आह्वान में रूसो ने लगभग यह कह दिया था कि पुरुष सत्ता को प्रकृति की सत्ता से पृथक करके देखना अर्थात् पुरुष और प्रकृति के बीच की समरसता का संतुलन भंग करना है । रूसो की इस चेतावनी पर विज्ञान की अंधी दौड़ और प्रगति की बेलगाम प्यास ने ध्यान नहीं दिया । परिणाम यह निकला कि पुरुष और प्रकृति के बीच का रिश्ता बिगड़ गया । रिश्ते का यह संतुलन जैसे ही डगमगाया, मनुष्य का मनुष्य के प्रति संदेह बढ़ता चला गया । मनुष्य के प्रति मनुष्य की नफरत में इजाफा हुआ। इस कारण मनुष्य के खिलाफ मनुष्य अस्त्र–शस्त्र और अणु–परमाणु विनाशकारी मुद्राएँ अपनाने लगा । दो–दो महायुद्धों ने मनुष्य के पढ़े–लिखे होने, वैज्ञानिक होने, आविष्कारक और आविष्कारों के प्रयोक्ता होने आदि सबको निरर्थक साबित करते हुए यह जाहिर कर दिया कि गुफा–मानव चाहे पत्थरों के औजारों से शिकार करता हो, या आज का मनुष्य रॉकेटों और परमाणु मिजाइलों को काम में लाता हो स्वभावतः दोनों मनुष्यों में कोई फर्क नहीं है और तमाम मानवीय दावों के बावजूद मनुष्य को मनुष्य बनाने में शिक्षा काफी हद तक विफल हुई है, हारी है ।

दुनिया अगर सिर्फ वहशियों, युद्धोन्मादियों, कुटिल और विनाशकारी प्रवृत्तियों से भरी होती तो अब तक मनुष्य का अस्तित्व खत्म हो गया होता । जिस दुनिया में सूर्य को नीचे टपका देने, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की बर्फ को पानी बना देने का विज्ञान मौजूद हो, वहां मनुष्य की क्या बिसात कि वह मनुष्य के उस दानवी स्वरूप के आगे टिक सके, जो विनाश की क्रूर

प्रवृत्ति पर आधारित है । फिर भी मनुष्य को संस्कारित करने का काम कोई जानवर तो करेगा नहीं । मनुष्य की दुनिया से ही ऐसे मनुष्य का आविर्भाव होता है जो कभी गांधी बनता है, कभी पेट्रिस लुमुम्बा और कभी मार्टिन लूथर किंग । जो आदमी अणुशक्ति खोजता है, वही उसके बम बनाने की प्रक्रिया से क्षुब्ध होकर जिन्दगी भर अपनी खोजपर पश्चाताप है । जिस पश्चिम ने विज्ञान से विनाश के औजार रचे, वहीं बर्ट्रेण्ड रसेल यह भी कहता है कि अगर तीसरा महायुद्ध हुआ तो चौथे युद्ध में मनुष्य को फिर पत्थरों से लड़ना होगा अर्थात् मनुष्य ही वह प्राणी है, जो अपने इतिहास को न केवल लिखता है, बल्कि अपना मनुष्यपन याद रखने के लिए उसका सही इस्तेमाल भी करता है ।

दुनिया की तमाम प्राकृतिक या मानव–निर्मित त्रासदियों में कहीं न कहीं मनुष्य की शिक्षा जिम्मेदार है । शिक्षा के विकास के तमाम दावों के बावजूद आज तक हम ऐसी शिक्षा नहीं तैयार कर पाये कि मनुष्य की समूची शक्ति, ऊर्जा, संसाधन सब कुछ मनुष्य जीवन को बेहतर बनाने, खुशहाल बनाने में लगे; बजाय उसे मिटाने के उपकरण खोजने में । पहली, दूसरी और तीसरी दुनिया के निर्माण के बाद चौथी दुनिया की भी परिकल्पना की जा रही है । दुनिया को कितने ही टुकड़ों में बाँट कर कितनी ही दुनियाएँ हम बना लें, मगर कहा यही जाएगा कि मनुष्य आज भी असभ्यता के किसी न किसी दौर में है जरूर और इसके लिए शिक्षा ही जिम्मेदार ठहरायी जा सकती है ।

दुनिया की आबादी का बहुत बड़ा गरीब हिस्सा जो अफ्रीका, एशिया और लातीनी अमेरिका में है, आज भी अनपढ़ या कमपढ़ है । शिक्षा तो ऐसे लोगों के लिए एक बड़ा शब्द है, मगर जिसे साक्षरता का नाम दिया गया है , वह भी इतना कम है कि आधी से ज्यादा दुनिया निरक्षरता का अंधेरा ढो रही है। मनुष्यों के संसार में इतने मनुष्य अनपढ़ और निरक्षर रहें यह मनुष्य और मनुष्यता दोनों का अपमान है । शायद इसलिए विश्व मंचों से यह मानवीय पहल शुरू हुई कि अनपढ़ या निरक्षर व्यक्ति समाज का कलंक है । अगर वह ऐसा है तो पढ़े लिखे लोगों की समूची शिक्षा के लिए वह एक चुनौती है ।अनेक विश्व संगठनों ने इसे कार्यक्रम बनाया । अनपढ़ और निरक्षर प्रतिशतों के आँकड़े जहाँ भयावह थे, वहाँ की सरकारों ने विश्व–संगठनों की मदद से समयबद्ध कार्यक्रम तैयार किये । हर देश में मनुष्य की शिक्षा का नये सिरे से अभियान शुरू हुआ । शिक्षा–शास्त्रियों ने, बाल–मनोविज्ञान के शोधार्थियों ने और शिक्षा पर दिन–रात सोच करने वालों ने ऐसे लोगों की शिक्षा पर सोचना शुरू किया जो 15 से 35 साल की उम्र के बीच या इससे ऊपर की उम्र में अनपढ़ या निरक्षर हैं। 14 साल तक की उम्र को कई सरकारों ने अनिवार्य शिक्षा से जोड़ा और बाल–शिक्षा के क्षेत्र में मनुष्य की रुचि ने शिक्षा के वे तमाम प्रचलित तौर तरीके बदल डाले, जिनसे बच्चा स्कूल आना नहीं चाहता था । बाल मनोविज्ञान, प्रतिभावान बालक, कमजोर बालक, समस्यामूलक बालक, अपराधी बालक आदि सभी तत्वों पर गंभीर मनोवैज्ञानिक चिन्तन ने शिक्षा को बालक के साथ विकसित होने के लिए नयी दिशा व दृष्टि दी । इस तरह शिक्षा का जहां तक संस्थागत स्वरूप था, उस पर पूर्व प्राथमिक या नर्सरी से लेकर विश्वविद्यालय तक बहुत शोध और विचार हुए, प्रयोग और व्यवहार हुए। संस्थागत शिक्षा जैसी भी रही हो, पढ़े लिखे लोगों का एक बड़ा वर्ग उसने तैयार अवश्य किया ।

दुनिया के लोगों का बहुत बड़ा हिस्सा प्रौढ़ निरक्षरों का हिस्सा था । प्रौढ़ों को केवल हस्ताक्षर करना सिखाने से तो मकसद हल हुआ नहीं, क्योंकि शोषण की संस्कृति के पोषकों के बीच निशानी अंगूठा लगानेवाले और हस्ताक्षर करने वाले के बीच कोई अंतर नहीं था। इसलिए हस्ताक्षर शिक्षा का अभियान साक्षरता- अभियान नहीं बन सका । फिर यह सोचा गया कि साक्षरता को सही ढंग से परिभाषित कर उसे पहले समझा जाए और फिर प्रयोग इस तरह लागू किया जाय कि साक्षर आदमी मात्र अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित रहे, बल्कि उसकी सामान्य प्रकृति और सामाजिक समझ में बदलाव आए, वह अन्याय या शोषण के विरूद्ध अपनी लड़ाई खुद लड़ सके और बिचौलियों, तन का धन से सौदा करने वालों, बंधक बनाने या गुलाम बनाने बालों, आर्थिक मजबूरियाँ लाद कर अस्त्र-शस्त्र की वहशी होड़ रचने वालों इन सबके विरुद्ध उसका मानवीय-बोध जाग्रत हो सके । इसके ही साथ वह सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अपने आपको बेहतर बनाता हुआ एक मूल्यवान मनुष्य और नागरिक बन सके ।

साक्षरता का यह अर्थ भी नहीं है कि निरक्षर आदमी पूर्णतः शून्य तथा अशिक्षित आदमी है । उसके अनुभवों का संसार व्यापक, विराट और शिक्षित है । अनपढ़ किसान अनपढ़ रहकर भी खेती के पुराने तरीके बदलकर नये साधनों से जुड़ गया और उसने हरित क्रांति कर डाली । इसी तरह एक आदिवासी के पास भी प्रकृति की संगत में मिला ज्ञान होता है । इस कारण प्रकृति, वनस्पति और वन्य-प्राणियों के बारे में जो व्यावहारिक ज्ञान उसके पास होता है, वह उन शोधकर्ताओं के पास नहीं होता जो प्रकृति विज्ञान को परिभाषित करते हैं । लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि प्रकृति, पर्यावरण या समाज में निहित ज्ञान को ही समग्र शिक्षा मान लिया जाए या उसके विकल्प में केवल साक्षरता को ही समग्र शिक्षा कह दिया जाय । आवश्यक यह है कि जो ज्ञान समाज के पास है, उसका सदुपयोग करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो सके। जिस अज्ञान के कारण मनुष्य को मनुष्य का गुलाम होना पड़ता है, मनुष्य- मनुष्य का शोषण करता है, एक दूसरे पर अन्याय या अत्याचार करता है यह सब समझने और इनसे लड़ने का हौसला जाग्रत हो।हमें खुद अपने दायित्वों और अधिकारों की ऐसी समझ मिले कि हम साक्षर होकर उनके प्रति अपनी भूमिका तय कर सकें ।

जब प्रौढ़ निरक्षरता का एक बड़ा संसार पहचान लिया गया तो बात उठी कि प्रौढ़ों की शिक्षा एक अलग किस्म की चुनौती है । उनकी उम्र, उनकी समझ, उनका व्यवहार, उनकी गति, उनकी उपलब्धि, उनका मूल्यांकन आदि सब विशिष्ट बातों के लिए आवश्यक है कि ऐसी विशेष पद्धति खोजी जाय जो उन्हें साक्षर कर सके, शिक्षित कर सके और जो उनके दैनंदिन कामकाजों में बाधक भी न हो । इसलिए मानव-वैज्ञानिकों, सामाजिक-वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों आदि ने मिल कर प्रौढ़-शिक्षा-मनोविज्ञान, प्रौढ़-शिक्षा-सिद्धान्त, प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकताएं, प्राथमिकताएँ, व्यावहारिकताएँ, कठिनाइयाँ, उनके हल, उसे फैलाने के तरीके, साधन आदि तत्वों पर विचार प्रारंभ किया है ।

पाउलो फ्रेरे ने जब यह कहा कि एक निरक्षर आदमी की परिकल्पना के साथ "मैं पढ़ना लिखना-सीखना चाहता हूं । मै चाहता हूं कि मैं दूसरों की छाया बनकर जीना बन्द कर सकूं"

तो लगा कि प्रौढ़-शिक्षा के दर्शन में यह तत्व एक बड़ा तत्व है । समाज में क्यों कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की छाया बन कर जिये? उसका अपना अस्तित्व है और इस अस्तित्वबोध की शिक्षा में प्रौढ़ शिक्षा है । प्रौढ़ साक्षरता की वर्णमाला के अक्षर अ अनार या आ आम से शुरू न होकर, उसके कर्म की प्राथमिकता से फूटते हैं। पाउले फ्रेरे सही कहता है कि उसमें एक ऐसी समझ विकसित होने लगती है कि वह फूलों को देखकर यह निर्णय खुद लेने लगता है कि महज फूल के रूप में वे फूल मूलतः प्रकृति है, लेकिन उनसे सजावट करने का काम उन्हें संस्कृति बना देता है । प्रौढ़ साक्षरता यदि सही मायने में प्रौढ़ों की अंधेरी दुनिया को रोशनी से भरने का अभियान है, तो फ्रेरे का दावा है कि उससे हर आदमी यह महसूस करेगा कि वह किसी भीड़ का टुकड़ा नहीं है बल्कि वह स्वयं एक जन है, जनता है या जनशक्ति है ।

आधुनिक समाज और प्रौढ़ शिक्षा

"एडल्ट एज्यूकेशन" या प्रौढ़ शिक्षा के नाम से हेराल्ड बेन्जेमिन और होमर केम्फर ने एक पुस्तक सम्पादित करते हुए विश्व-व्यापी प्रौढ़-शिक्षा अभियान को आज के समाज की अनिवार्यता मानते हुए तीन हिस्सों में बाँटा है । पहले भाग में प्रौढ़-शिक्षा का लक्ष्य बताते हुए आज के समाज में प्रौढ़-शिक्षा के व्यापक योगदान, प्रौढ़-शिक्षा के तरीके और प्रौढ़ों के विकास की चर्चा की गई है । भाग दो में कार्यक्रम विकसित करने के लिए यह आवश्यक माना गया है कि सबसे पहले हम प्रौढ़ों की जरूरतों, रुचियों और प्राथमिकताओं को पहचानें और फिर संगठित रूप से दो तरीकों से कार्यक्रम को आगे बढ़ाते हुए व्यक्तिगत विकास और नागरिक विकास की ओर ध्यान दें । ये संगठित तरीके उत्पादन और उपभोग पर निर्भर होंगे, तभी प्रौढ़ों को सामुदायिक रूप से संगठित कर पायेंगे; उन्हें सेवा कार्यक्रमों से जोड़ पाएंगे और जो बिखरे सामुदायिक तत्व हैं, उनका भी संगठन कर पायेंगे । तृतीय भाग संगठन और प्रशासन की बात करता है, जिसमें स्थानीय संगठन, नेतृत्व-चयन और उसका शिक्षित-विकास, प्रचार और उत्प्रेरण, वित्त आदि बातें आवश्यक मानी गयी हैं ।

हमें बीसवीं सदी ने एक महत्वपूर्ण विचार यह दिया है कि शिक्षा कोई समयबद्ध या कालबद्ध कार्यक्रम न होकर आजीवन महत्वपूर्ण सीखने का क्रम है । मनुष्य स्वयं अपने विकास के साथ-साथ आजीवन सीखता है। संगठित रूप से सिखाने और खासकर प्रौढ़ों को सिखाने की प्रणाली वैसे तो औपनिवेशिक बुद्धि की उपज हैं, जिसमें कुछ खास स्वार्थ था, या जिससे युद्धों के बाद की दुनिया में दो तरह की बातें एक साथ पैदा हुई है । एक तो शस्त्र के विरुद्ध शक्ति की होड़, और दूसरी शस्त्र के विरुद्ध शास्त्र या ज्ञान की शक्ति की जिससे मनुष्य एक बेहतर मनुष्य बनने के अधिकार को सहज ही उपलब्ध कर सके । आज जबकि प्रौढ़-शिक्षा एक विश्वव्यापी अभियान है, इस आन्दोलन के जन्म के पीछे एक बड़ा सोच यह जन्मा कि अगर बच्चा एक सतत सीखनेवाला प्राणी होकर विकसित हो सकता है, और यदि असीमित शिक्षा किसी जवान आदमी के लिए हो सकती है तो वही शिक्षा प्रौढों के लिए क्यों नहीं हो सकती? 1950 की विश्व-जनगणना ने यह भी बता दिया है कि दुनिया की लगभग दो-तिहाई आबादी उन पढ़ने वालों की है जो प्रौढ़ हैं । इसके बाद अनेक सर्वे किये गये। 1944 में अमेरिकन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन स्थापित हुआ था, जिसने यह पता लगाया था कि अमेरिका जैसे देश में 34 प्रतिशत लोग प्रौढ़ शिक्षा में प्रवेश के लिए आतुर थे ।

इसके बाद तो प्रौढ़ शिक्षा के सापेक्ष चिन्तन की शुरुआत हुई और प्रौढ़ों को पढ़ाने की मान्यता का एक ऐतिहासिक क्रम भी खोज लिया गया । जिन खोजों से प्रौढ़ शिक्षा मनुष्य के विकास में मील का पत्थर साबित हुई उसका विकास-क्रम अमरीकी सन्दर्भ में इस प्रकार देखा जा सकता है:-

1661 न्यू एम्सटर्डम अमेरिका में सायंकालीन विद्यालयों की स्थापना।

1826 मेसाच्यूसेट्स के मिलबरी स्थान पर पहला शिक्षा सभागृह निर्मित।

1833 न्यू हेम्पशायर के पीटरब्रो में टेक्स के पैसों से पहली लोक-लायब्रेरी बनी।

1850 कूपर यूनियन द्वारा फोरम्स के माध्यम से न्यूयार्कमें शिक्षा शुरू ।

1873 घर बैठकर अध्ययन को प्रोत्साहित करने की समिति का गठन ।

1876 विश्वविद्यालय विस्तार सेवा के माध्यम से शिक्षा का प्रारंभ ।

1883 पत्राचार विश्विद्यालय की न्यूयार्क इथाका में स्थापना ।

1911 में राज्य व्यावसायिक और प्रौढ़ शिक्षा मण्डल की अमेरिका में स्थापना ।

1917 में स्मिथ हफ्स अधिनियम द्वारा 14 वर्ष के ऊपर के किशोरों और प्रौढ़ों के लिए व्यावसायिक और प्रौढ़-शिक्षा की पब्लिक स्कूलों में व्यवस्था ।

1924 राष्ट्रीय शिक्षा संघ द्वारा अमेरिका में प्रौढ़-शिक्षा-विभाग की स्थापना ।

1926 अमेरिकन प्रौढ़-शिक्षा-संघ की स्थापना ।

1933 युवकों और प्रौढ़ों के लिए एक संघीय त्वरित शिक्षा व्यवस्था ।

1935 में अमरीकी युवक-आयोग का गठन ।

1940 में प्रौढ़ों के लिए रक्षा-बजट में सैनिक -शिक्षा का प्रावधान ।

1946 में यूनेस्को की स्थापना ।

1951 राष्ट्रीय प्रौढ़-शिक्षा-संघ द्वारा प्रौढ़ शिक्षा कोष की स्थापना ।

प्रौढ़-शिक्षा को आजीवन शिक्षा का एक अंग मानते हुए यह सोचा गया कि हर आदमी के लिए शिक्षा की जरूरत उसके व्यक्तिगत विकास के साथ-साथ इसलिए भी है कि वह जनतांत्रिक मूल्यों की पहचान और सम्मान कर सके; बदलते सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों से अपने को जोड़ सके और एक चेतनावान नागरिक के रूप में लगातार मनुष्यों के संसर्ग में रह कर युद्धों की त्रासद विपत्तियों से मानवीय मुक्ति के सार्थक प्रयास कर सके; जीवन को बेहतर और खुशहाल रख सके; और उन तमाम चुनौतियों का सामना कर सके जो आधुनिक विश्व की यांत्रिक सभ्यता उसे दे रही है । जब अमेरिका के पब्लिक-स्कूलों में पहला प्रौढ़-शिक्षा-पाठ्यक्रम बना तो उसके विषय थे:-

- सुरक्षा और वाहन-चालन-शिक्षा ।
- नागरिक और सार्वजनिक जीवन के प्रति चेतना-समूह के निर्माण की शिक्षा ।
- उपचारात्मक और विशेषतज्ञतामूलक शिक्षा ।

- स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा ।
- कृषि-शिक्षा ।
- कला और शिल्प-अभ्यास शिक्षा ।
- प्रारंभिक औपचारिक शिक्षा ।
- मनोरंजनात्मक कौशलों के विकास की शिक्षा ।
- गृह-निर्माण-शिक्षा ।
- ललितकला-शिक्षा ।
- व्यक्तिगत विकास की शिक्षा ।
- माता-पिता और पारिवारिक जीवन के दायित्व की शिक्षा ।
- वाणिज्य और आपूर्ति एवं वितरण व्यवस्था की शिक्षा ।
- कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों और तकनीकियों की शिक्षा ।
- सामान्य अकादमिक ज्ञानात्मक शिक्षा ।

इसके उपरांत प्रौढ़-शिक्षा का स्वरूप वास्तव में क्या हो, यह सोचा गया । शिक्षा को अर्जित करने की एक आवश्यक प्रक्रिया मानते हुए यह माना गया कि- (1) वह नये तथ्यों को अर्जित करे और (2) दैनंदिन जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए ऐसा मानसिकता और प्रणाली दे, जिससे सीखनेवाले का आत्मविश्वास बढ़े । इस प्रक्रिया-शिक्षा में शामिल व्यक्ति मात्र सीखने वाला या तथ्यों का संकलनकर्ता न रह कर तथ्यों को सत्य व साक्ष्य के आधार पर निरस्त करने वाला, सतत अन्वेषणकर्ता के रूप में तैयार होगा । इस शिक्षा प्रक्रिया के कुछ स्तर निर्धारित किए गए जो इस प्रकार हैं ये -

स्तर एक समस्या को परिभाषित करने की क्षमता ।

स्तर दो समस्या के सम्बन्ध में तथ्य जुटाने की क्षमता ।

स्तर तीन समस्या का विश्लेषण, प्रारूपण एवं प्रायोजन करने की क्षमता ।

स्तर चार निष्कर्ष निकालने की क्षमता ।

स्तर पांच निष्कर्ष के बाद क्रियान्वयन करने की क्षमता ।

स्तर छः मूल्यांकन करने की क्षमता ।

इन छः स्तरों की क्षमता विकसित हो जाने पर कोई भी शैक्षिक आयोजन समाज को व्यापक रूप से प्रभावित कर सकता है । यह मात्र जिन्दगी की तैयारी न रह कर शिक्षा स्वयं जिन्दगी बन जाती है । शिक्षा को जिन्दगी बनाने के पीछे विशेष रूप से प्रौढ़ों के सन्दर्भ में यह भी सोचा गया कि इससे उनमें शिक्षा-दर्शन, अपनी शताब्दी के दबावों के अनुरूप शिक्षा को अपनाने और सामाजिक परिवर्तनों के साथ चलने का विश्वास जाग्रत होगा । प्रौढ़ शिक्षा के लिए तैयार मानस स्वयं यह तय कर लेगा कि उसके सीखने का वजन कितना हो और मानव-मानव के बीच अधिक संगतता और संवादिता लाने के लिए शिक्षा की क्या भूमिका है? इसीलिए आगे चल कर एक अधिक गतिशील प्रौढ़ पाठ्यक्रम की माँग भी हुई ।

प्रोफेसर ब्रिग्स और एस्टमन ने प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए यह कहा कि प्रौढ़ शिक्षा का कर्तव्य है कि वह प्रौढ़ों की इस बात में मदद करे कि वे इच्छित काम को अच्छी तरह से करना सीख जायं। साथ ही अपने लिए बेहतर से बेहतर गतिविधियाँ स्वयं खोज करें तथा उनसे इच्छानुसार परिणाम उपलब्ध कर सकें । प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत इसलिए सबसे पहले आत्मानुभूति, मानवीय सम्बन्ध, आर्थिक कुशलता, उत्तरदायी नागरिक भावना अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम माने गए । इन कामों को अलग-अलग प्राथमिकताओं के आधार पर बाँटा भी गया है । पहला महत्वपूर्ण काम यह माना गया कि व्यक्ति स्वयं अपना और परिवार का विकास कर सके । इसके लिए कामों का निर्धारण शिक्षा की प्राथमिकता का आवश्यक तत्व माना गया ।

व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन सम्बन्धी शिक्षा-कर्म:

- जीवन साथी का चयन और विवाह ।
- दाम्पत्य जीवन जीने की शिक्षा ।
- प्रथम बच्चा प्राप्त करने सम्बन्धी ज्ञान ।
- प्रथम बच्चे को किशोर वय में प्रवेश के समय मानसिक और भावनात्मक मदद।
- बुढ़ाते माता-पिता के साथ निर्वाह करने की आदत ।
- माता-पिता की मृत्यु को सहने की शक्ति ।
- पत्नी या पति से जीवन भर निर्वाह करते हुए अच्छे पारिवारिक सम्बन्ध रखने का ज्ञान।
- परिस्थितवश पत्नी या पति की मृत्यु पर मौत को बरदाश्त करने की शक्ति ।

प्रौढ़-शिक्षा का एक आयाम उत्पादन और उपभोग से जुड़ा है । इसके लिए जो शिक्षा-कर्म निर्धारित किया गया वह इस प्रकार है-

- प्रथम व्यवसाय का चयन ।
- प्रथम व्यवसाय के लिए नौकरी ।
- श्रम शक्ति में कार्य के लिए प्रविष्ठ होने की क्षमता का विकास ।
- अपना घर बनाना ।
- घर की व्यवस्था की समझ प्राप्त करना ।
- अपने श्रम-समुदाय के सदस्यों के साथ सम्बन्ध बनाना ।
- अच्छा जीवन-स्तर कायम रखना ।
- परिवार-आकार सीमित रखना ।
- श्रम-कर्म से मुक्त होकर व्यस्त रखने योग्य काम तलाशना ।
- इसी प्रकार नागरिकता के गुणों के विकास के लिए ये
- शिक्षा-कर्म बताए गए-

- वोट देने की आयु में पदार्पण करने की समझ होना ।
- नागरिकता के भाव के साथ व्यवहार तय करना ।
- समाज के स्वाभाविक अंग बन कर नागरिक दायित्वों का पालन करना ।
- नागरिक अधिकारों के प्रति सचेत रह कर उनकी रक्षा की समझ तैयार करना ।

आमोद-प्रमोद के समय के लिए भी प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम इस प्रकार दिया गया है:-

- पड़ोसियों से सम्बन्ध बनाकर आमोद-प्रमोद की गतिविधि तय करना ।
- नये-नये लोगों से सम्पर्क कर मनोरंजक गतिविधि का विस्तार करना ।
- शादी के बाद के मनोरंजनों की गतिविधियाँ तय करना ।
- हम-उम्र के साथ कम-उम्र के लोगों से दोस्ती करने की कोशिश करना ।
- सेवा-निवृत्ति तक मनोरंजक गतिविधियाँ उम्र के अनुरूप बनाना ।

प्रौढ़ शिक्षा को एक समग्र विकास का कार्यक्रम मानते हुए प्रौढ़ों की जरूरतों को पहचानने के तरीके भी खोजे गए और प्रौढ़ शिक्षा सम्बन्धी अनेक परिषदों, समूहों में बहुआयामी शिक्षाक्रम को अपनाते हुए प्रौढ़ों की शिक्षा के तरीकों को खोजा गया और अलग-अलग स्तर पर अमेरिका जैसे उन्नत समाज में प्रौढ़ों के लिए अलग-अलग स्तर के शिक्षा कर्म तय किये गए। वहाँ यह क्रार्यक्रम एक प्रकार से नागरिकों को साक्षर करने के बजाए इस तरह शिक्षित करने का काम था, जिससे कि उनमें राष्ट्रीय और नागरिक भावों और मूल्यों का विकास हो सके। आगे चल कर इटली आदि देशों ने इसे चर्च जैसे संगठनों के माध्यम से गरीब बस्तियों के लिए भी एक कार्यक्रम बनाया । सारी दुनिया में इस प्रकार के सर्वे शुरू हुए जिससे अनपढ़ों की संख्या तय की जाकर प्रौढ़-शिक्षा की दिशा में अलग-अलग स्तर पर अभियान तय किये जा सकें। उन्नत देशों में यह केवल साक्षरता या शिक्षा-कार्यक्रम तक सीमित न रह कर अन्तर- संस्कृति कार्यक्रम बन गया । प्रौढ़ों की शिक्षा के साथ उनके व्यवसाय भी तैयार किये जाकर उन्हें जीविका अर्जित करने वाले प्रौढ़ बनाने की दिशा में प्रयास हुए । अनभिज्ञ आदमी को कानून सिखाने, सही उपभोक्ता बनाने, सही किसान और व्यापारी बनाने, सही सहकारी या गैर सरकरी नौकर बनाने और अपने समुदाय के अन्दर एक उत्तरदायी मनुष्य बन कर जीने, आदि बातों को प्रौढ़ शिक्षा के तहत रखा गया ।

प्रौढ़-शिक्षा केवल प्रौढ़ों की शिक्षा तक ही सीमित कार्यक्रम नहीं माना गया, बल्कि उसके लिए आवश्यक यह समझा गया कि हम अपनी प्रशिक्षण संस्याओं के माध्यम से ऐसे लोग तैयार करें जिनमें मौलिक रूप से ये क्षमताएँ हो:

1 प्रौढ़ों के सीखने की आवश्यकताएँ, रुचियाँ, और क्षमताएँ पहचान कर परिभाषित करने की योग्यता ।

2 उक्त आवश्यकताओं को पूरा करने वाली अधिगम-गतिविधियों का समुचित चयन और उपयोग करने की क्षमता ।

3 विभिन्न शिक्षण पद्धतियों का व्यापक ज्ञान और ऐसी पद्धतियों का चयन एवं उपयोग करने की क्षमता, जिससे आवश्यक शैक्षिक तकनीकों का लाभ सीखने वाले को मिल सके ।

4 आवश्यक और उपयुक्त शिक्षण सामग्री तैयार करने की क्षमता ।

5 ऐसी प्रणालियों का ज्ञान होना जिनसे विभिन्न सामुदायिक समूहों को शैक्षिक गतिविधियों के संयोजन में मदद मिले ।

6 प्रौढ़–शिक्षा के मनोविज्ञान का व्यावहारिक ज्ञान होना ।

7 प्रौढ़ों के क्षेत्र में प्रकाशित होने वाले नये से नये साहित्य का ज्ञान होना ।

8 उपयुक्त स्रोत–फुषों की खोजकर उनके समुचित उपयोग की क्षमता होना ।

9 विवादास्पद मुद्दों को ठीक से निपटाने की क्षमता होना।

इस प्रकार प्रौढ़–शिक्षा के कार्यक्रम को भी हमें कर्मशालाओं, प्रदर्शन, प्रयोग–शालाओं, मंचों, पत्राचारों, अनौपचारिक समूह–संवादों, पेनल–चर्चाओं, शिक्षक–प्रौढ़ संयुक्त क्रियाओं, व्याख्यानों, व्यक्तिगत–अध्ययनों, वाद–विवाद और परिचर्चाओं, संचार माध्यमों, पोस्टरों, अखबारों, दूर–शिक्षण माध्यमों आदि से फैलाया जा सकता है ।

प्रौढ़ कैसे सीखता है?

प्रौढ़ों की शिक्षा के संभावित तरीके क्या हो सकते हैं ? उनके शिक्षण की जरूरतें, रुचियाँ, सन्दर्भ, उपयोग आदि क्या हो सकते हैं? इन सबके लिए किस प्रकार का अभिप्रेरण या मोटिवेशन आवश्यक है, तथा किन–किन क्षमताओं के विकास से एक प्रौढ़ समझदार, जिम्मेदार और समाज में सहभागी प्रौढ़ बन सकता है ? इन सब मुद्दों पर जे.आर.किड ने अपनी पुस्तक "हाऊ एडल्ट्स लर्न" में विस्तृत चर्चा की है तथा प्रौढ़ों को पढ़ाने के पूर्व यह भी स्पष्ट किया है कि प्रौढ़ से हमारा आशय क्या है? किस उम्र का प्रौढ़ सीखने के लिए सबसे उपयुक्त है । प्रौढ़ अनुभव में बालकों से ज्यादा परीपक्व होते हैं और जिनके अनुभवों का सही ढंग से नियोजन या संगठन करना अपेक्षाकृत सरल है । उनके अनुभवों का उपयोग करते हुए उन्हें किसी प्रकार ऐसा साक्षर बना देना कि वे अपने जीवन से सम्बद्ध तमाम मामलों से खुद निपट सकें। यह सब काफी शोध–परक शैली में इस पुस्तक में है । प्रौढ़–शिक्षा जो यूनेस्को बनने के बाद साक्षरता या कार्यात्मक साक्षरता अथवा जीवनोपयोगी–साक्षरता कहलाई है, वह पहले पहल मात्र अक्षरों या हस्ताक्षरों के ज्ञान तक सीमित थी । अनवरत शोधों से यह पाया है कि हस्ताक्षर तक किसी आदमी को साक्षर करने में और अँगूठा लगाने में कोई अंतर नहीं है ।

प्रौढ़ों की शिक्षा के सन्दर्भ में आग्रह करते हुए किड ने मार्शल मेकलुहन की एक बात को खास तौर पर याद दिलाया है । आज के हमारे समाज में कई लोगों को अपने "रोल्स" यानी भूमिका का योगदान उद्देश्यों से अधिक महत्वपूर्ण लगते हैं । इस कारण लोग अपनी–अपनी भूमिका के प्रति तो अधिक समर्पित हो जाते हैं, परन्तु कई बार मूल उद्देश्य उनके हाथों मे फिसल जाते हैंह। गेस्टाल्टवादी एक मनौवैज्ञानिक का यह मानना है कि "सीखना किसी चांज या काम के संभव होने की खोज का नाम है ।" जिसे हम बुद्धि कहते हैं, वह भी अंततः है क्या? सीखने की शक्ति का दूसरा नाम ही बुद्धि है । जब हम प्रौढ़ आदमी को पढ़ाने की बात करते हैं तो

स्वाभाविक रूप से यह मानते हैं कि उसे हम एक "बेहतर नागरिक" और "अधिक परिपक्व" आदमी के रूप में देखना चाहते हैं । एक प्रौढ़ के विकास की गति के साथ उसमें कई परिवर्तन आते हैं– जैसे :–

वह स्वयं अपनी आजीविका के तरीके खोज कर अपना निर्वाह चाहता है ।

वह अपना जीवन–साथी चुनना चाहता है ।

वह समाज या समुदाय से अन्तर्क्रिया करना चाहता है ।

वह नागरिक के रूप में अपने दायित्वों का विस्तार चाहता है ।

वह रिश्तों में परिवर्तन चाहता है ।

वह सेवा निवृत्ति की या काम से मुक्त होने की तैयारी चाहता है ।

वह बुढ़ापे का संतोष खोजकर सहेजना चाहता है और अंत में,

वह मृत्यु के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार रखना चाहता है ।

प्रौढ़ व्यक्ति की ये सब इच्छाएँ ऐसी है कि उसे सिखाना ठहरे हुए पानी में सरलता से तैरना नहीं है । अतः यह माना गया है कि प्रौढ़ को पढ़ाने के पहले हम इन बातों पर गौर करें:

1) हम किसी का स्वभाव नहीं बदल सकते। अतः हमें ऐसी शिक्षा की खोज करना होगी जो उसके स्वभाव से मेल खाती हो ।

2) यह कहावत है कि हम पुराने कुत्ते को नयी कलाबाजी नहीं सिखा सकते । अतः हमें प्रौढ़ की मानसिकता के अनुरूप क्रिया ढूंढनी होगी ।

3) सीखने का एक सिद्धान्त है– "होल इन द हेड" अर्थात दिमाग में छेद करना । अतः प्रौढ़ के अन्दर अवधारणा निर्माण के लिए हमें उसके मानसिक छिद्र खोजना होंगे, जिनमें से शिक्षण प्रवेश कर सके ।

4) दूसरा सिद्धांत है "आल हेड–नोशन" का जिसके जरिये हमें उसके पूरे मन को तैयार करना होगा ।

5) एक सिद्धांत है "बिटर–स्वीट नोशन।" अतः हमें उसके कड़वे–मीठे अनुभवों से जुड़ कर शिक्षा देना होगी ।

6) एक प्रौढ़ की मानसिक आयु वैसे 12 वर्ष मानी गयी है । अतः इसके लिए हमें रेखागणित का यह सिद्धान्त लागू करना होगा कि हमें जो सिद्ध करना है, हम उसे पहले से जानते हैं अर्थात् एक प्रौढ़ का हमें सत्य से इस तरह साक्षात्कार कराना होगा कि हम उसे सत्य कह भी दें और यह साबित कर दें कि ऐसा करने का हमारा इरादा नहीं था ।

7) एक सिद्धान्त है कि बिना उच्च–बुद्धि के सीखा नहीं जा सकता। हमें हर प्रौढ़ को यह बताना होगा कि सीखना उच्च या निम्न बुद्धि के लिए न होकर उसे एक अच्छा मनुष्य बनाने के लिए है ।

सन् 1928 में ई: एल. थार्नडाइक ने भी अपनी "एडल्ट लर्निंग" नामक पुस्तक में यह कहा था कि 45 वर्ष से पहले किसी आदमी को कोई भी चीज सीखने से परहेज नहीं करना चाहिये । यह बात पूरी सच नहीं है । सीखने के लिए तो हर उम्र होती है । अतः हमारी यह मानसिकता समाप्त होना चाहिये कि मैं अब इतना बूढ़ा हो गया हूं कि अब सीखा नहीं जा सकता । बहुत से लोग बड़ी उम्र के कारण सीखने से कतराते हैं, जो गलत है ।

जैसे–जैसे एक बालक किशोर होता है और किशोर से प्रौढ़ होता है, वैसे–वैसे उसकी भूमिकाओं में स्वाभाविक परिवर्तन घटित होने लगते हैं । उसे कई दायित्व अपने आप दिखाई देते हैं और वह परिवार समाज, और अपने आवागमन के हर स्थल और हर प्रकार के समूह में अपनी सहभागिता चाहने लगता है । मेलकाम नोल्स ने हेम्बर्ग के यूनेस्को–सेमिनार में इस परिवर्तन के आधार पर भूमिकाओं के साथ क्षमताओं की खोज कर, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

भूमिका	सम्बद्ध क्षमताएँ–
प्रौढ़ छात्र के रूप में	पढ़ना, लिखना, समझना, अवधारणा बनाना, कल्पना करना, खोज करके जानना, मूल्यांकन करना और अंकेक्षण करना ।
आत्म बोधी प्रौढ़ के रूप में (अपनी विशिष्टपहचान के साथ)	आत्मविश्लेषण, भांपना, या अंदाज लगाना, उद्देश्य निर्माण, वस्तुनिष्ठ होना, मूल्य–स्पष्ट करना, अभिव्यक्त करना ।
दोस्त के रूप में	प्रेम करना, सहानुभूति रखना या न रखना, सुनना, समन्वय और सहयोग करना, काम बाँटना, मदद करना परिणामों से अवगत कराना और समर्थन देना ।
नागरिक के रूप में	सावधानी बरतना, चिंता करना, सहभागिता करना, नेतृत्व करना, निर्णय लेना, चर्चा करना, कार्यवाही करना और एक व्यापक आयाम रखना ।
परिजन के रूप में	स्वास्थ्य ठीक रखना, योजना बनाना, प्रबन्ध करना, मदद करना, काम बांटना, खरीदारी करना, बचत करना, प्रेम से रहना, दायित्व अपने पर लेना ।
एक कार्मिक या काम करने वाले के रूप में	अपने कैरियर की योजना बनाना, तकनीकी कौशल हासिल करना, पर्यवेक्षण सिखाना और खुद करना, सहकर्मियों से अच्छे सम्बन्ध रखना, सहयोग करना, योजना बनाना, काम की जिम्मेदारी सौंपना, प्रबन्धन करना।
आमोद प्रमोदकर्ता के रूप में	स्रोतों को जानना, किसी चीज को समझ कर उसकी तारीफ करना, स्वयं कोई मनोरंजक गतिविधि करना, खेलना, अभिनय करना, आराम करना, योजना बनाना, जोखिम उठाना और आत्म चिन्तन करना ।

मनुष्य में इन सब क्षमताओं का विकास इसलिए संभव माना गया है कि मनुष्य उस जिन्दगी का नाम है जिसमें परिवर्तन की सर्वोच्च संभावना और क्षमता होती है । यह भी सही है कि–

– प्रौढ़ अधिक अनुभवी होता है,

– उसके अनुभव विविध होते हैं, और

– उसके अनुभव विभिन्न प्रकार के संगठित होते हैं ।

इसलिए एक प्रौढ़ को आत्म–निर्देशित, सीखने वाला माना गया है । एक प्रौढ़ का समय–बोध भी बालकों से अलग होता है । उसकी रुचियाँ भी अधिक स्थिर होती हैं । इसलिए एक बढ़ती उम्र के आदमी को सतत् सीखने वाले आदमी के रूप मे यह याद दिलाते रहना जरूरी है कि –

– मेरे साथ तुम भी बूढ़े तो हो जाओ,

– लेकिन जीवन का श्रेष्ठतम बाकी है,

– उसे पहले पाओ ।

अधिक बुढ़ाते प्रौढ़ों की कुछ समस्याओं का भी पता लगाया गया है । इसलिए यह माना गया है कि उनकी इन समस्याओं को ध्यान में रखकर ही उनका शिक्षाक्रम तय किया जाय:

– उम्र के साथ आदमी का शिथिल होना।

– आंखे चौंधियाना।

– कम सुनाई देना।

– ब्लेकबोर्ड ठीक से दिखाई न दोना।

–लिखने में कम्पन होना ।

अतः यह आवश्यक है कि एक प्रौढ़–शिक्षाकर्मी इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अपनी शिक्षण–पद्धति तय करे। जैसे–जैसे एक बालक प्रौढ़ता की ओर जाता है, उसके कई द्वन्द्व सामने आने लगते हैं, जिनका उम्रवार ब्यौरा इस प्रकार है :

– विश्वास और अविश्वास का द्वन्द्व (प्रारंभिक शैशव–काल में)

– स्वायत्ता के विरुद्ध संदेह और लज्जा का द्वन्द्व (उत्तर –शैशव काल में)

– पहल करने के विरुद्ध अपराध–बोध का द्वन्द्व (प्रारंभिक बाल–आयु में)

– मेहनत के विरुद्ध हीनता भाव का द्वन्द्व (मध्य बाल आयु में)

– अहं की पहचान के विरूद्ध भूमिका प्रसार का द्वन्द्व (किशोर वय में)

– क्रियाशीलता और प्रजननता के विरुद्ध अंह की स्थिरता का द्वन्द्व (मध्य प्रौढ़ वय में)

– आचरण, शुद्धता और निराशा का द्वन्द्व (उत्तर प्रौढ़ वय में)

इन मानकों से एक व्यक्ति की परिपक्वता मापने की कोशिश की गई है । बुहलर ने जीवन की प्रमुख चार प्रवृत्तियों का खोजा है :–

(1) आवश्यकता–पूर्ति ।

(2) अपनी सीमाओं को जानकर उनसे संगति बैठाना ।

(3) सर्जनात्मक अभिव्यक्ति देना, और

(4) आंतरिक व्यवस्था को कायम रखना ।

ये तत्व तो परिपक्वता देते ही हैं, मगर ऑलपोर्ट ने छः अन्य तत्व स्पष्ट किये हैं – (1) अपने होने का आत्मबोध ,(2) घनिष्ठ और दूरस्थ दोनों सम्पर्कों में अपने को अपने विवेक के साथ जोड़ना, (3) मूलभूत भावनात्मक सुरक्षा को स्वीकार कर कायम रखना, (4) यथार्थ के अनुरूप सोच समझ कर उत्साह पूर्वक काम करना ,(5) अन्तर्दृष्टि और वाक्चतुता का उपयोग करते हुए अपने आपका वस्तुनिष्ठ आकलन करना, और (6) जीवन की संवादिता के साथ जीवन–दर्शन अपनाना ।

प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए एक ऐसे समाज की परिकल्पना की गई है, जहां का समाज अगर जिन्दगी से इंकार करता है तो इसका मतलब होगा कि वह मृत्यु को स्वीकार कर रहा है । मृत्यु से इंकार करता है तो वह जिन्दगी को स्वीकार करता है । प्रौढ़–शिक्षा इसीलिए जीवन की स्वीकृति की शिक्षा है । प्रौढ़–शिक्षा इसीलिए केवल साक्षरता या क्रियात्मक साक्षरता नहीं है, बल्कि वह एक पूरा शिक्षा–दर्शन है, जिसके अपने अधिगम सिद्धांत हैं, जिसका अपना जीवनगत पाठ्यक्रम है । उसकी अपनी पुस्तकें हैं, और वह मनुष्य को तैयार करती है कि वह अपनी हर समस्या को समझे और उन्हें सुलझाने में स्वयं महत्वपूर्ण भूमिका अदा करे । इस प्रक्रिया में शिक्षक भी एक सहभागी हो जाता है । हां शिक्षा देने वाले को सबसे पहले आयु–समूहों को पहचान कर उनकी जरूरतों, रुचियों, इच्छाओं, प्राथमिकताओं और लाभों की जानकारी आवश्यक है । तभी जाकर एक समग्र शिक्षण–पद्धति आ सकती है । एक प्रौढ़ को पढ़ाने वाले शिक्षक डॉ. ओवरस्ट्रीट के अनुसार वह केवल एक अच्छी साख और उदारमन का आदमी ही न हो बल्कि उसे कुछ ज्यादा जानकार भी होना चाहिए; क्योंकि नेलसन और स्मिथ यह मानते हैं कि अकसर बहुत सारे शिक्षक या तो सिद्धान्तों के जरिये, या आलस्य के कारण या कल्पनाशीलता के अभाव के कारण अपना विषय उस आदमी को ठीक से समझा ही नहीं पाते, जो सिखाने बैठा है । अगर ऐसा प्रौढ़ों के सामने होता है तो शिक्षक के ज्ञान की पोल जल्दी खुल जाती है और प्रौढों का शिक्षक में से विश्वास खत्म हो जाता है । इसलिए प्रौढ़ को सिखाने की प्रक्रिया अधिक चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि एक प्रौढ़ अनपढ़ या निरक्षरता हो सकता है, मगर वह अनुभव हीन नहीं होता । वह सीखने के लिए प्रेरित जितनी तेजी से होता है, उतनी ही तेजी से नहीं सीख पाने के कारण निराश भी होता है । प्रौढ़–शिक्षा इसलिए महज साक्षरता का अभियान न होकर एक पूरा शैक्षिक कर्म है । उनके लिए औपचारिक, अनौपचारिक या औपचारिकेतर, दूर–शिक्षा माध्यमों से शिक्षा आदि कई प्रकार की विधियां है तो जरूर, मगर आज भी अगर अफ्रीका, लातीनी–अमेरिका और एशियाई देशों में शोषण और अन्याय है, एक लोकतंत्रात्मक समाज का कई जगह अभाव है और बेहतर जिन्दगी जीते लोग कम हैं, तो मानना

होगा कि शिक्षा का काम केवल स्कूलों या प्रौढ़–केन्द्रों तक न होकर समाज की रग–रग तक पहुँचने का है ।

प्रौढ़–शिक्षा–जेनिफर राजर्स: शिक्षा एवं शिक्षण प्रविधि :–

जेनिफर राजर्स अपनी पुस्तक "एडल्ट्स लर्निंग" में दो बातों पर विशेष जोर देते हुए कहती हैं कि अभी तक संख्या और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से प्रौढ़–शिक्षा में शोध बहुत कम हुआ है । वैसे तो किसी भी विषय में स्वयं ही उसे पढ़ाने की प्रविधि कुछ हद तक निहित होती है, लेकिन किसी विषय के निर्धारित दर्शन, प्रयोग और क्रियाओं को उस विषय का अंतिम ध्रुव मान लेना ठीक नहीं है । प्रौढ़–शिक्षा में शिक्षण कला बहुत लचीली होती है । इस कारण प्रौढ़–शिक्षा के सिद्धान्त अनेक जीवन–स्थितियों के अनुरूप ढाले जा सकते हैं । जेनिफर राजर्स ने प्रौढ़–शिक्षा की विवेचना के पहले प्रौढ़ छात्र कौन हो सकते है? वे कक्षा के बारे में क्या नजरिया रखते हैं? विभिन्न शिक्षण तकनीकों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया क्या है? और सर्वाधिक सरल तरीके से वे कैसे सीख सकते हैं? इन बातों पर खास चर्चा की है । साथ ही यह बताने की कोशिश भी की है कि किस प्रकार प्रौढ़ों का अपने समूहों में खास किस्म का व्यवहार होता है, और किन शिक्षण पद्धतियों से सीख कर वे खुश होते हैं । पुस्तक का दूसरा भाग अधिक व्यावहारिक है, जिसमें शिक्षण व्यूह–रचनाएं दी गई हैं । रोल प्लेइंग या भूमिका–अभिनय, प्रोजेक्ट–पद्धति, खोज–पद्धति, प्रदर्शन–पद्धति, खेल और मनोरंजन पद्धति आदि को प्रौढ़ों के लिए उपयुक्त शिक्षण–प्रविधि के रूप में प्रयुक्त करने की सीख दी है।

अमेरिका में शिक्षा और विज्ञान विभाग ने "प्रौढ़–शिक्षा : एक विकास योजना" के अन्तर्गत डा. रसेल को प्रौढ़–शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाने का काम दिया था । डा रसेल ने सन् 1973 में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की और ओपन यूनिवर्सिटी में दाखिले के जो आँकड़ें दिए, उनसे यह साबित हुआ कि प्रौढ़ छात्र की शिक्षा के प्रति रुचि के कारण भी खोजे हैं, और यह महसूस किया है कि एक प्रौढ़–छात्र किसी एक बात से प्रभावित या प्रेरित होकर ही नहीं पढ़ना चाहता, बल्कि उसके कई उद्देश्य होते हैं । अमेरिका जैसे देश में तो यह साक्षरता से आगे जाकर व्यवसाय के प्रति अधिक आकर्षित हैं । अमरीका में 40 प्रतिशत से अधिक ऐसी प्रौढ़ महिलाएँ पाई गई हैं, जो अपने विकास के लिए बैचेन थीं । सेविका या नौकरानी किस्म की ये गृहणियाँ अपनी मुक्ति और शिक्षा के जरिये पुरुष समाज के सामने आत्मनिर्भरता से खड़े होने के लिए प्रौढ़ शिक्षा को एक व्यवसाय की तरह अपनाना चाहती थीं । कुछ लोगों की जिन्दगी का अकेलापन, उन्हें प्रौढ़–कक्षाओं में दोस्त ढूँढने के सामाजिक इरादे से प्रेरित करता रहा। कुछ लोग प्रौढ़–कक्षाओं में अपने जीवन–चक्र से ऊब कर इसलिए आते थे कि वहां उनका मनोरंजन हो और अपने फालतू समय का वे रचनात्मक उपयोग कर सकें । साक्षरता–संस्थानों में बड़ी मात्रा में प्रवेश के बाद ऐसे भी मौके आए जब यह पाया गया है कि इन अधिकांश भरती होने वालों में से आधे से अधिक लोग प्रौढ़–कक्षाएँ छोड़ कर चले गये हैं । जब इसके कारण की खोज की गई तो पाया गया कि इसका कारण पाठ्यक्रम की शुष्कता, रुचिहीनता, गुणवत्ता की कमी इत्यादि थे ।साथ ही प्रौढ़ों की अपनी बीमारी, व्यवसाय–परिवर्तन, नगर–त्याग, मोहल्ला–त्याग आदि कारण भी थे । इन संस्थानों के शिक्षकों ने यह भी सहसूस किया कि

केवल भर्ती–संख्या बढ़ाने से प्रौढ़–शिक्षा नहीं होगी और कक्षाओं तक सीमित रख कर प्रौढ़ों की उपस्थिति मानना भी ठीक नहीं है । अतः टेलीफोन, पोस्टकार्ड–पाठ और व्यक्तिगत–सम्पर्क इस दिशा में अधिक कारगर उपाय बन गए । जो लोग इन कक्षाओं को छोड़ जाते थे वे या तो बूढ़ी औरतें होती थीं या उनके गृहकलह भयावह होते थे या वे अन्य रोजगारों में चली जाती थीं। अधिकतर यह देखा गया कि जो प्रौढ़ आते थे, वे कारखानों में काम करने वाले स्वेच्छा से पढ़ना चाहने वाले होते थे । अधिकांश प्रौढ़ जो कक्षाओं में आते थे वे 34 वर्ष की आयु के थे, मगर एक ऐसा समूह भी था जो 55 के ऊपर आयुवर्ग का था ।

प्रौढ़ कक्षाओं में सीखने का सर्वाधिक प्रचलित और उपयोगी सिद्धान्त माना गया हैं "आत्म–शिक्षण" । छात्र ज्यादातर यह चाहते थे कि पढ़–लिख कर उनकी एक सभ्य नागरिक की छवि बने । इनके जो शिक्षक होते थे, वे अन्य छात्रों की तरह व्यवहार करने के बजाय इन्हें निर्देश देने का काम करते थे । काउन्सिलिंग का मतलब भी प्रौढ़–शिक्षक की सलाह स्वीकारने तक मानते थे । उनका यह अर्थ कतई नहीं था कि वह उससे सहमत हैं । दूसरी बात यह है कि काउन्सिलिंग में ये छात्र हमेशा गोपनीयता चाहते थे । ज्यादातर छात्र यह भी चाहते थे कि संदर्शन का व्यावहारिक पक्ष उनके लिए ज्यादा लाभप्रद हो । छात्र तब संतोष अनुभव करते थे जब उन्हें यह लगता था कि संदर्शन में उन्हें कठिनाईमुक्त, कर अच्छी शिक्षा में बढ़ने का रास्ता दिखाया है । उन व्यवसायों के खतरे बताये हैं जो उनके जीवन को हानि पहुंचा सकते हैं । यहाँ का शिक्षक गलती बताने का खतरा भी मोल नहीं लेता । वह तो इस प्रकार का व्यवहार करता है कि प्रौढ़ छात्र स्वयं अपनी गलती महसूस करें और उसे सुधार लें । प्रौढ़ की एक बड़ी समस्या है कि उसका कई चिंताओं से घिरा होकर कक्षा में आना । वह चाहता भी है कि प्रौढ़–संस्था में उसे चिंतामुक्ति मिले । अतः प्रौढ़–कक्षा का पाठ्यक्रम प्रौढ़ों की चिंताओं को ध्यान में रख कर बनाना जरूरी माना गया ।

जेनिफर राजर्स ने प्रौढ़ों के शिक्षण के लिए एक चीनी कहावत को उपयुक्त माना है जिसमें कहा गया है:

मैं सुन कर भूल जाता हूं
मैं देख कर याद रखता हूं
लेकिन जब मैं खुद करता हूं तो
हर बात पूरी तरह समझ जाता हूं ।

इस तरह बच्चों के और प्रौढ़ों के सीखने का सबसे बड़ा अन्तर यह मालूम हुआ कि एक तो दोनों के प्रेरणा–माध्यम अलग–अलग होते हैं । दूसरे प्रौढ़ याददाश्त या स्मृति आधारित ज्ञान न चाह कर अनुभव और कर्म में शामिल होकर ज्ञान चाहता है । हमारी स्मृति का एक हिस्सा अल्पकालिक स्मृति है । स्मृति पर जोर डाल–डाल कर प्रौढ़ ज्ञान को स्मृति–कोश में जमा करने की बजय जीवन–कोष में जमा करना चाहते हैं । अतः गतिविधि और व्यवहार–मूलक ज्ञान उन्हें अधिक पसंद है । प्रौढ़ों की शिक्षा में एक बात मनोवैज्ञानिक रूप से पसंद है । प्रौढ़ों की शिक्षा में एक बात मनोवैज्ञानिक रूप से यह भी सामने आई है कि वे सीखने की तेज गति के बजाय उसके बिल्कुल सही होने में ज्यादा विश्वास करते हैं । प्रौढ़ों के लिए गतिविधि–

पद्धति का अर्थ है अपने ही अनुभव से सीखना । सहभागिता, चर्चा, बातचीत, प्रदर्शन, भाषण, अवलोकन, सतत् अभ्यास आदि तो उनके लिए सीखने के माध्यम हैं ही, मगर बच्चे से जिस मुकाम पर वे अलग हैं वह है बच्चा सीखने के लिए सीखता है, जबकि उनका उद्देश्य बेहतर जीवन के लिए सीखना होता है । इसलिए उनका प्रमुख अहं है, कि वे निजी अनुभव, अपनी उम्र की आवश्यकता, गलती को पहचानने और दूर करने की योग्यता, गलतफहमी दूर करने का कौशल, और अपने सोच व काम का परिणाम जानने की क्षमता आदि प्राप्त करना चाहते हैं । प्रौढ़ अक्सर खण्ड से पूर्ण की ओर जाने के बजाय पूर्ण को पहले जानना पसंद करते हैं । अतः प्रौढ़ों का सीखना–सिखाना एक बड़ी कला है । जो शिक्षक या सिखानेवाला यह जानता है कि प्रौढ़ को कैसे सिखाया जाए, वह पारंपरिक कक्षाई–तरीकों से भिन्न प्रौढ़ मानसिकता के उस अहं को पहचान लेता है, जिसमें प्रौढ़ आत्मविश्वास की कुण्ठा को पालते हुए सीख जाता है । उसे यह नहीं लगता कि वह कक्षा में एक कच्ची उम्र का अनुभवहीन बालक समझा जा रहा है ।

शिक्षक यद्यपि प्रौढ़ शिक्षा में समूह पद्धति, चिंता–समूह विभाजन–पद्धति, रोजगार समूह, शिक्षक केन्द्रित समूह, नेतृत्व–निर्माण समूह आदि को अपनाते हैं मगर शोधों से यह परिणाम मिला कि इन सबकी बजाय सबसे पहले प्रौढ़ों के इच्छा–समूह बनाये जाना चाहिए ताकि प्रौढ़ यह मान लें कि उनकी इच्छा को सीखने में सम्मान देकर उसे सिखाया जा रहा है । बियान और हेगार्ट ने यह पाया कि प्रतिभावान, मनोरंजक और इच्छा जानकर पढ़ानेवाला शिक्षक आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़ों में प्रिय होता है । बियान तो कहता है कि यह प्रौढ़ों का शिक्षक–निर्भर व्यवहार दिखता तो जरूर है मगर यह व्यवहार शिक्षक का वह करिश्मा है जिसके जरिये शिक्षक ने प्रौढ़ को अपने प्रभा मण्डल में लाकर पढ़ाना शुरू किया है । अधिक उम्र के प्रौढ़ों के लिए समस्या समूह भी आवश्यक है, ताकि उनके सुनने, देखने, बोलने आदि की क्षमताओं को उम्र के हिसाब से पहचान कर उनके जरिए प्रक्रिया अपनायी जा सके । प्रौढ़–कक्षाओं की बैठक व्यवस्था भी ऐसी होना चाहिए जो उनके लिए आरामदायक हो ।

प्रौढ़–शिक्षा ठोस उपलब्धि–मूलक शिक्षा है जिसके परिणाम स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रौढ़–छात्र और समाज दोनों जानते हैं कि उन पर कितना खर्च हो रहा है और उस खर्च के बदले वे क्या पा रहे हैं । अतः प्रौढ़–शिक्षा का परिणाममूलक और उपलब्धिवान् होना अनिवार्य है। प्रौढ़ों के लिए विभिन्न शिक्षण–पद्धतियाँ भी तय की गई हैं । व्याख्यान और प्रदर्शन को मितव्ययी पद्धति के रूप में अपनाया तो गया मगर इनका सीमित उपयोग ही अच्छा माना गया। कुछ प्रकरण–अध्ययन यह बताते हैं कि अभिनय करने की स्थिति में "रोल–प्लेइंग" या भूमिका–अभिनय और खेलों को प्रौढ़ों के मनोरंजन के साथ–साथ सीखने के लिए अधिक उपयुक्त पाया गया है । मजदूरों, कामगारों, किसानों, तथा अन्य व्यवसायी लोगों की शिक्षा के लिये उन परिस्थितियों के अनुरूप वातावरण तैयार करके उनकी समस्याओं के अनुरूप पढ़ाने और समस्या हल करने की योग्यता आदि बताने की कक्षाएँ चीन में माओत्से तुंग ने भी शुरू की थीं । प्रौढ़–साक्षरता इस प्रकार से एक सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का अभियान माना गया था । रोल–प्लेइंग को यहां अधिक पसंद इसलिए किया गया क्योंकि इसके जरिये स्वयं

प्रौढों की अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी । उनकी अपनी चिन्ताओं और परेशानियों के भी कारण स्पष्ट होते थे और उनके हल सामूहिक रूप से ढूंढने के प्रयास उनके माध्यम से होते थे जिससे एक व्यापक समाज-बोध पनपता था । "प्रोग्रेम लर्निंग" को भी आजमाया गया, मगर जो सर्वाधिक उपयुक्त पद्धति यहाँ काम आई, वह थी "खोज पद्धति" या "डिस्कवरी मैथड"। इस प्रणाली को प्रौढ़ कक्षाओं में इस प्रकार लागू किया गया :

1 शिक्षक, शिक्षण-ध्येय निर्धारित कर पहले उसका विश्लेषण करता है । फिर उसके सर्वाधिक नाजुक पहलू निकालकर उन्हें सरलीकृत कर प्रस्तुत करता है ।

2 वह, यह शिक्षण वस्तु सीखने वाले के लिए कितनी उपयुक्त है, इसका भी ध्यान रखता है । उसका प्रारंभ-बिन्दु निर्धारित करता है। छात्र के पूर्व ज्ञान का आकलन करता है। किस बात को वह नये ढंग से सीख रहा है, यह जानता है। और जिस तरह से सीखने वाला अपनी समस्याओं को ग्रहण करता है, उसी तरह उसकी समस्याओं को शिक्षक समझता है ।

3 शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से कोई निर्देश नहीं देता । वह ऐसी कोई कोशिश नहीं करता जिससे छात्र कोई चीज याद करे नोट्स लेकर सहेजे या शिक्षक के चॉक-टॉक को देखे और सुने ।

4 छात्र की समस्या जानकर शिक्षक उसे इस तरह स्वतंत्र कर देता है कि छात्र लगातार बिना किसी सहायता के अपने ज्ञान का विस्तार करता चला जाए ।

5 छात्रों को काम देकर सीखने में लगाने की बजाय सावधानीपूर्वक कुछ क्रियाएँ चुनकर उन्हें उन क्रियाओं में लगाया जाता है और ऐसी स्थिति पैदा की जाती है कि छात्र उन स्थितियों में जो सीखता है, उसके अनुभव के आधार पर वह उनका जीवन में भी उपयोग कर सके । अतः बोल या लिखकर कोई परामर्श देना इस पद्धति के अनुकूल नहीं है ।

6 छात्र स्वयं अवलोकन कर अपने कार्य का परिणाम तैयार करते हैं । इस प्रकार इस पद्धति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है- समझना और समझते हुए सीखना । यद्यपि बच्चे और प्रौढ़: दोनों ही प्रारंभ में खोज-प्रणाली से थोड़ा बिचकते हैं, मगर इसके लिए जरूरी है शिक्षक द्वारा उन स्थितियों का चयन और निर्माण, जिनसे छात्र अपने अनुभव आजमाकर समझते हुए खुद सीख सकें । यद्यपि दूरशिक्षण के अन्तर्गत संचार-माध्यम, पोस्टर, पुस्तकें, पत्राचार-पाठ, टेलीफोन ट्यूटोरियल, दूर-दर्शन-पाठ आदि कई विधाओं को प्रौढ़-शिक्षा में आजमाया गया, मगर जेनिफर का ख्याल है कि प्रौढ़ों के अनुभव के साथ जोड़ कर सिखाने में रोल-प्लेइंग और खोज-प्रणाली सर्वाधिक प्रभावी प्रणालियाँ हैं ।

पाउलो फ्रेरे : शिक्षा यानी मुक्ति का अभ्यास-

पाउलो फ्रेरे लातीनी अमेरिका और खासकर ब्राजील को प्रौढ़-शिक्षा का एक क्रांतिकारी नाम है । पाउलो फ्रेरे ने शिक्षा-सचिव के रूप में ब्राजील में काम करते हुए प्रौढ़-साक्षरता की राष्ट्रीय योजना के महा-समन्वयक के पद पर काम किया । 1964 के सैनिक

विद्रोह में उसे ब्राजील छोड़कर चिली भागना पड़ा। वहाँ उसने काम अपना जारी रखा । वहाँ यूनेस्को द्वारा उसे कृषि-सुधार के शोध और प्रशिक्षण संस्थान का निदेशक बना दिया गया। वहाँ से वह अमेरिका के हार्वर्ड शिक्षा-विकास केन्द्र में विजिटिंग प्रोफेसर हो गया । इसके बाद जीनेवा में विश्व-चर्च परिषद् में शिक्षा का संदर्शक बना दिया गया । उसने प्रौढ़-साक्षरता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया और "शिक्षा यानी मुक्ति का अभ्यास" उसकी एक महत्वपूर्ण कृति है । "कल्चरल एक्शन फार फ्रीडम" और "पेडेगाजी आफ दी आप्रेस्ट" के अतिरिक्त उत्तर-पूर्व ब्राजील में किया गया उसका प्रयोग "लिट्रेसी इन थर्टी आवर्स" प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में एक अभिनव काम है, जिसका सारी दुनिया में आगे चलकर अनुकरण हुआ है।

पाउलो फ्रेरे एक बहु-सांस्कृतिक शिक्षाविद् के रूप में जाने जाते हैं । उनका मत है कि जब भी हम अपने समय का अपने त्वरित अतीत से द्वन्द्व खोजते हैं तो हमें उस द्वन्द्व को पहचानने के लिए क्षमताओं से ऊपर जाना होगा । हमारे अन्दर वह आलोचनात्मक चेतना आना चाहिये जो अतीत को मात्र स्तर के नाम पर अलग न करके अपने समय के अन्दर से ऐसे सम्पर्कों की खोज करती है कि त्वरित अतीत का नकार एक सांस्कृतिक नकार बन सके । इसलिए पाउलो फ्रेरे, चाहे 'पेडेगाजी आफ दी आप्रेस्ट' हो या 'शिक्षा-मुक्ति का अभ्यास', दोनों ही पुस्तकों में अपने त्वरित अतीत को आधार बनाये बगैर अपने समय के उन तत्वों के साथ अपनी साक्षरता विधि देते हैं, जिसकी संस्कृति का पहला और सर्वाधिक मुख्य आधार मनुष्य है । ये तत्व हैं :

1) शिक्षाविदों यानी प्रौढ़-शिक्षक द्वारा अपनी सह-भागी अवलोकन क्रिया, जो कि विविधि अर्थों संसार में साम्य बना सके ।

2) ऐसे शब्दों की जटिल खोज जिनमें अक्षरीय ध्वनि-सम्पन्नता भी हो और जिनके साथ सीखने वाले का अनुभवगत अपनापन हो अर्थात् प्रौढ़-साक्षरता का अक्षरविश्व अपरिचित न होकर उस छात्र के अनुभव की दुनिया का हो जिसका अक्षर संगीत उसके कानों में गूंजता रहा हो ।

3) ऐसे शब्दों को सुनकर तय करना, जिनके दृश्य-बिम्ब बनाये जा सकें और जिन्हें देखकर, सुनकर या पढ़कर "गूंगेपन की संस्कृति" या "मौन-संस्कृति" में डूबे लोग अपनी संस्कृति के निर्माण की चेतना के साथ खड़े हो सकें ।

4) उक्त दृश्य-बिम्ब भाषा को "संस्कृति मण्डल" या "कल्चर सरकल" द्वारा इस तरह से व्याख्यायित करना, जिससे आत्म-प्रेरणा का माहौल तैयार हो और यह माहौल तैयार करने वाला पारम्परिक अर्थवाला शिक्षक न होकर एक समन्वयक हो जो स्वयं शिक्षाविद्-विद्यार्थी की तरह हो और जिसका सतत् संवाद एक शिक्षार्थी के रूप में शिक्षाविदों से चलता हो। अक्सर परम्परावादी शिक्षाविद् शिक्षार्थी को एक क्रियाहीन ज्ञान-ग्रहीता मानता रहा है । अतः एक शिक्षाविद् शिक्षार्थी बन कर संवाद की नयी संस्कृति की रचना की जा सकती है और शिक्षार्थी बनने पर शिक्षाविद् स्वयं अपने ज्ञान के अहं में जीने के बजाय ज्ञान को संवाद की क्रिया से परस्पर आदान-प्रदान वाली उपलब्धि बना सकेगा ।

5) यह शिक्षाविद्–शिक्षार्थी एक ऐसी सर्जनात्मक भाषा की रचना करे जिसमें समीक्षा और क्रिया दोनों की क्षमता हो, जिसे सीख कर जो पहले निरक्षर थे, वे अपनी भूमिका को महज एक वस्तु, चीज या उपकरण की तरह निरस्त कर सकें और उनके स्वभाव से सामाजिक इतिहास द्वारा दिया गया उनका अपने प्रति वस्तुबोध समाप्त हो जाय। साथ ही वे यह समझने लगें कि वे स्वयं अपने भाग्य के निर्णायक और रचने–वाले सार्थक मनुष्य हैं ।

पाउलो का कहना है कि हमें यांत्रिक सभ्यता के तकनीशियनों ने एक ऐसा विचारगत जड़ जेकेट पहना दिया है कि हम हमेशा समस्या के हल की खोज में तो जुटे रहते हैं, मगर समस्या पैदा नहीं कर सकते। पाउलो ने प्राब्लमेटाइजेशन अर्थात् समस्या–निर्माण को समस्या –हल की अपेक्षा तक एण्टी–थीसिस बनाकर महत्व दिया है, और माना है कि एक निरक्षर को साक्षर बनाना इतना चुनौती भरा काम नहीं है, जितना कि उसमें यह विश्वास और क्षमता पैदा करना कि वह अपनी समस्या तैयार कर सके और उसे प्रस्तुत करने का साहस दिखा सके । यह तभी संभव हो सकता है कि जब उसके पास एक समस्या–सर्जक भाषा हो । ऐसी भाषा प्रोमेथियन या अग्नि परिचालित भाषा लगती है ।उन लोगों को ,जिनके मन में हमेशा प्राकृतिक संतुलनों की चिन्ता रहती है और जो जेन, ताओ या सूफी बनकर आदमी के सुधार की बात तो करते हैं वे उस आदमी को यह सोचने का मौका ही नहीं देते कि उसमें ऐसा क्या बिगाड़ हुआ है जिसके कारण ये संत लोग उसके सुधार की बात कर रहे हैं ।

पाउलो हमारे सांस्कृतिक और ऐतिहासिक मौन के सन्नाटे को तोड़ने के लिए अन्याय ग्रस्त और दबे हुए आदमी को चेतनाकृत करना चाहता है । वह माओ के उस विचार की प्रतिध्वनि पेश करता है जिसमें माओ ने माना था कि हम समाज के अन्दर से विरोधाभासों का वह प्रमुख आयाम खोजें, जिससे प्रमुख विरोधाभास पैदा हुआ है । पाउलो ने इसे संवाद के विस्तार को एक चेतनाकृत समाज की रचना माना है । उसे गरीबों की दुनिया के लिए रचे गये मुहावरे जैसे ऐड यानी सहायता या हेल्प भी बुरी लगे और **सर्विस** जैसा शब्द तो बड़े लोगों द्वारा गरीबों के प्रति एक छल नजर आया । उसने यह विचार दिया कि हमारे जितने भी पद्धतिगत दोष या विफलताएँ हैं, वे वैचारिक त्रुटियों के कारण हैं । हमने यांत्रिक भीड़वाद पैदा किया, मशीनीकृत आधुनिकता रची, लेकिन इन तमाम तथाकथित प्रगतियों के बावजूद हमने गाँव के निरक्षरों के बीच मौजूद सांस्कृतिक सन्नाटे को नहीं तोड़ा, उसे संवाद और समस्या–जनक आदत से नहीं जोड़ा । उसे उसके समय से आज के समय के बीच की दूरियों से परिचित नहीं कराया और उसे उसके उन ऐतिहासिक–स्वप्नों से मुक्त नहीं किया जिनमें संवाद और आलोचनात्मक चेतना का अभाव था । यहाँ यह बात भी साफ होनी चाहिये कि पाउलो को एक आधुनिक शिक्षा का यूटोपियन माना गया है, मगर उसका यूटोपियनवाद कोई आदर्श स्वप्न नहीं है जो केवल संवाद, आलोचना–चेतना या वैचारिक मन की उपज हो, बल्कि वह विकसित होता है व्यवहारिक लगाव के साथ, दलित लोगों को संघर्ष के लिए तैयार करने में या दलितों की संघर्ष की प्रक्रिया इस प्रकार समझा देने में कि वे अपनी भाषा में अपनी समस्या खड़ी कर सकें । दूसरी बात जो फ्रेरे के संबंध में महत्वपूर्ण है, उसे न केवल लातीनी देशों ने, बल्कि स्वयं अमरीका में भी महसूस किया गया वह यह है कि फ्रेरे जो कुछ लिख या बोलकर कहता है, उसकी क्रिया सतत् और सदैव मौजूद है । उसने साबित किया है कि शिक्षाविद्

और शिक्षार्थी संवादों के जरिये जादुई ढंग से आपस में जुड़ते हैं और यह किसी करिश्मादार गुरु की तरह नहीं, बल्कि एक ऐसे आदमी की तरह करते हैं जो शिक्षाविद् के रूप में अपनी मौत की घोषणा सुनने केलिए हमेशा तत्पर हो ।

पाउलो फ्रेरे अपनी पुस्तक को दो भागों में बाँटते हुए अपना विचार समझाता है । पहला भाग है: "शिक्षा यानी मुक्ति का अभ्यास" , और दूसरा है: "संवाद का विस्तार" । पहले भाग में वह एक संक्रमित–समाज को अपने तरीके से देखते हुये मान्यता देता है कि हमारा अधिकांश दलित और गरीब समाज एक बंद–समाज है और जिसके पास लोकतांत्रिक अनुभवहीनता है । दूसरा विचार वह यह देता है कि शिक्षा को संभ्रातों ने जो मुहावरा दिया, उससे लगता है मानो शिक्षा और भीड़तंत्र दो अलग–अलग चीजें हों और भीड़ को शिक्षा की पात्रता ही न हो। उसका तीसरा महत्वपूर्ण विचार है चेतनाकृत शिक्षा अर्थात् शिक्षा को महज–अक्षर–विश्व की संज्ञा से मुक्त कर उसे चेतन–संज्ञा से जोड़ा है । दूसरे भाग में संवाद के विस्तार की बात करते हुए विस्तार के बहुआयामी अर्थ सामने रखे हैं । उसने यह बताने की कोशिश की है कि किस तरह वंश–परंपरागत स्वभाव ने विस्तार की गलत व्याख्या की है । विस्तार को पाउलो ने एक प्रकार का सांस्कृतिक हमला बताते हुए उसकी आवश्यक समीक्षा की है । कृषि सुधार, सांस्कृतिक–रूपान्तरण और एक कृषक–समाज से शिक्षक की भूमिका को भी निरक्षरों के प्रति खास अंदाज से देखने की कोशिश की गयी है । संवाद और विस्तार और शिक्षा की समाज–सापेक्ष भूमिका पर भी पाउलो ने विस्तार से अपनी बात रखी है ।

संक्रमित–समाज में उसने यह माना है कि मनुष्य होने का अर्थ है कि हम अपने संसार में रिश्तों का एक नया संसार तलाशें । मानवीय रिश्तों का स्वभाव बहुवचनीय होता है । कभी एक आदमी का अपने से अकेला कोई रिश्ता नहीं होता । हमारी दुनिया में अंग्रेजी भाषा के दो शब्द बहुत प्रचलित हैं: एक "लिव" यानी रहना या जीना और दूसरा "एक्जिस्ट" यानी अस्तित्व रखना । अस्तित्व में आलोच्य गुणवत्ता हैं जबकि यह आलोच्य क्षमता महज जीने में नहीं है । पाउलो निरक्षरों के वजन और उनके आज या वर्तमान में निहित उन तमाम तत्वों को प्रस्तुत करता है जिससे यह लगे कि किसी समाज का एकात्म होना या असंयोजित होना किस बात का परिणाम है ? एक व्यक्ति किस तरह आबजेक्ट और सब्जेक्ट बन कर जीता है? किस तरह आम आदमी की प्रवृत्ति विरोधाभासों से बचने और आत्म–रक्षा की होती है? यहाँ तक कि आत्म–रक्षा में वह अपनी मुक्ति से भी भागना पसंद करता है, लेकिन इस मुक्ति से उसका डर उस समय खत्म होता है जब वह अपनी सांस्कृतिक–ऐतिहासिक जड़ता से बाहर आकर एक तूफानी लहर बनता है और उसके पास जितने भी बीते कल के सदमें हैं , उनकी सार्थकता समाप्त हो जाती है । वह आनेवाले कल में अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए एक संक्रमण करता है । इसे रेडिकेलिज्म भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि रेडिकल होने में प्रतिबद्धता आती है । इसलिए एक सीखने–वाले में पहली चेतना का विस्फोट है–संक्रमण की चेतना की पहचान जो उसे उसकी समीक्षा करने, उसे लोकतांत्रिक तरीके से तर्कबद्धता के साथ अपनाने और जिनका अमानवीकरण हो चुका है, उन तक पहुँचाने के लिए तैयार कर सके ।

पाउलो फ्रेरे के लिए शिक्षा–मुक्ति का अभ्यास, संवाद का विस्तार और चेतना की रचना है । इन माध्यमों से वह एक गूंगी संस्कृति का सन्नाटा तोड़ना चाहता है । समस्यायीकरण के

जरिये संघर्ष की नयी मानवीय भूमिका का आह्वान करता है । अनपढ़ों की भीड़ को भीड़ कहलाने के औपनिवेशिक अभिशाप से मुक्तकर सार्थक संवाद–मुक्त मानव–समाज में बदलना चाहता है । वह उस किसान को अपनी उपज और उसके उपभोग की समझ देना चाहते हैं जिसे दलित कह–कह कर जिसके लड़ने की समूची सामर्थ्य सम्भ्रान्त समाज ने छिन्न–भिन्न कर डाली है । उसके वजन को महसूस कराना निरक्षर की क्षमता को स्वीकार कराना है । निरक्षर आदमी अनपढ़ है, मगर उसका अर्थ यह नहीं है कि वह सोच–विहीन और क्षमता–विहीन है । शिक्षा को भीड़वाद के मुहावरे से मुक्त करने के लिए वह लोकतांत्रिक अनुभवहीनता को संवाद की क्षमता देकर लोकतांत्रिक विवादग्रस्त, अनुभवी जन समुदाय बनाना चाहता है । उसे शिक्षा में जनतांत्रिक संस्कृति के तमाम दावे झूठे लगते हैं जो गुणवत्ता और संख्या दोनों दृष्टि से इस तरह रचे गये हैं कि उनकी अपनी पोल खुल जाती है । उसने शहरी और देहाती दोनों प्रौढ़ों को देखा और ब्राजील में ही पाया कि संवाद की संस्कृति का विस्तार होते ही शहर के निरक्षर **वोट फार इल्लिटरेट्स** जैसे नारे लगाने लगे । उसने आलोच्य–चेतना को भी यह माना है कि यह जरूरी नहीं कि आज की यह चेतना कल भी उतनी ही मौजू हो । हमारी चेतना के कई भाग हैं–एक मासूम चेतना, दूसरी–आलोचनात्मक चेतना, तीसरी–जादुई चेतना । आलोचनात्मक चेतना ही यथार्थ में सम्पृक्त चेतना है– जबकि अन्य चेतनाओं का अनायास ही आलोचनात्मक चेतना पर प्रभाव हो जाता है ।

अगले भाग में पाउलो ने संवाद और विस्तार को अनेक मानवीय परिस्थितियों में रखकर निरक्षरों के विश्व को चेतनावास बनाने के तरीके दिये हैं । पहले भाग के अंत में उसने यह कह दिया है कि हमें लोकतंत्र की युद्धोन्मादी शैली से मुक्त होना है क्योंकि ऐसे लोकतंत्र से लोक डरता है बल्कि हमें ऐसा तंत्र बनाना है जो लोक से डरे अर्थात् जिसे हमेशा लोक–चेतना का ख्याल रहता हो । फ्रेर ने दस शिक्षण–स्थितियों में इस संवादमय लोकतंत्र की रचना करने के आयाम पेश किये हैं । उसने भाषा किस प्रकार से एक सार्थक कोड बन कर चेतना के तत्वों का निर्माण करती है, इसके उदाहण भी दिये हैं । संवाद और विस्तार वाले भाग में उसने भाषा की संरचना के क्षितिजीय और ऊर्ध्वगामी हॉरिजेन्टाप और वर्टीकल तत्वों को सामने रखकर उनके प्रभावों को प्रस्तुत किया है। 'कलचर–सरकल', शब्द विश्व, अर्थ और उसके आयाम आदि बातों को मुक्ति के अभ्यास की भाषा मानकर पाउले ने यह बताया है कि निरक्षरों को सदियों से दी जा रही शिक्षा की उस औपनिवेशिक और दलनशील शब्दावली से मुक्त करना पहला काम है और शिक्षा उनकी उस व्यावहारिक चेतना का अंग बनना चाहिये जिससे वे अपने अस्तित्व की रक्षा करने की बजाय अपने अस्तित्व का प्रभाव महसूस करा सकें और समस्याओं के हल ढूंढने के बजाय समस्याओं को रखकर पूरे समाज का सन्नाटा तोड़ सके ।

अध्याय –9

भविष्य का सदमा और तीसरी लहर–एलविन टॉफलर

शिक्षा के हर प्रश्न के जो प्रौढ़ उत्तर खोजने और उन्हें तर्कसंगत बताने की परंपरा रही है, वह त्यागनी होगी । जिसके प्रश्न हैं, वही उत्तर भी खोजे और खोज में एक "भविष्य–परिषद" उसका साथ दे । हमारे सामने समाज के विखंडित होने के जो खतरे हैं, उनका मुकाबला एक समान और विविधताहीन शिक्षा–प्रणाली से नहीं होगा ।

एलविन टाफलरः सदमों का विचारक

एलविन टॉफलर एक ऐसा विचारक है, जिसने पश्चिम की भौतिक समृद्धि को बहुत करीब से देखा–परखा है।उससे पैदा होने वाली लहरों या सदमों को पहचानता है । अमेरिका जैसा देश और यूरोप जैसा महाद्वीप टॉफलर की नजर में ऐसे संसार की परिकल्पना पैदा करते हैं जो गति के अवरोध बताते हैं, प्रगति की विसंगति प्रकट करते हैं, समृद्धि के सदमे महसूस कराते हैं और विकास की लहरों में किसी भावी संकट की चीख सुनने को बाध्य करते हैं । टॉफलर ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों 'फ्यूचर शॉक' (भविष्य का सदमा) और 'थर्ड वेव' (तीसरी लहर) लिख कर सोच के माध्यम से सामाजिक क्रांति की नई दिशा और दृष्टि प्रस्तुत की है । 'फारचून' नामक प्रसिद्ध पत्रिका के सहयोगी संपादक के पहले टॉफलर वाशिंगटन में एक संवाददाता था । इसके बाद कारनेल विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर बना एवं अपने मौलिक और अन्वेषी चिंतन के कारण 'रसेल सेज फाउंडेशन' ने उसे विजिटिंग स्कॉलर बना कर सामाजिक शोध की नयी मान्यता के अध्यापन का काम सौंपा । वैसे तो विज्ञान, समाज और नवचिंतन पर टॉफलर ने अभी तक पांच प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना की है मगर उसकी 'फ्यूचर शॉक' और 'थर्ड वेव' पुस्तकें सर्वाधिक चर्चित हुई हैं ।

टॉफलर ने अपनी इन दोनों पुस्तकों के लेखन में लगभग एक हजार सन्दर्भ ग्रंथों और विभिन्न दस्तोवेजों का अध्ययन किया । इनमें कला, संचार, व्यापार और प्रबंधन, उपभोक्तावाद और सेवाएं, विकास और विकास का साम्राज्यवाद, आर्थिक इतिहास, अर्थशास्त्र, ऊर्जा, पर्यावरण, परिवार, सेक्स, भविष्य के संभावित ज्ञान और अध्ययन, शोध का भविष्य और भविष्य की शोध, इतिहास जैसे विषय प्रमुखतः चुने । अपने अध्ययन के दौरान टॉफलर ने पाया कि भविष्य की कोई भी कल्पना तब तक संभव नहीं जब तक उसका वर्तमान न देखा जाय। इसलिए राष्ट्र, राष्ट्रवाद, राष्ट्र–राज्य, पृथकतावाद और संक्रमण पैदा करती संस्थाएं, दर्शन,

राजनीति, राजनीतिक संभ्रान्तवाद, बौद्धिकता, राजनीति में प्रतिनिधि प्रणाली, मनोविज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, समाजवाद एवं साम्यवाद, काल या समय और स्थान, समय और शून्य, कर्म और शिक्षा जैसे विषय भी अपने नवचिंतन के तत्व के रूप में देखे। इस प्रकार ये दोनों पुस्तकें अपने समय को न बाँट कर अपने चिंतन अपने विचार, और अपने कर्म का समय रचती हैं और बताती हैं कि समय कुछ नहीं या समय मात्र काल के विभाजन की एक प्रणाली है । उसी विभाजन को उसके शून्य और उसके अस्तित्व के साथ कैसे देखा जाए? क्या चिंतन, विचार, कर्म, कल्पना और सृजन की कोई भविष्यवाणी हो सकती है? यदि भविष्य है तो क्या वह समय है? या समयबोध या दोनों ही नहीं? यदि वर्तमान अपने संघर्ष या सुख का रूपक है और अतीत अपनी यादों या स्मृतियों का है, तो भविष्य को क्या माना जाए? जिस प्रकार व्याकरण की रचना के मानक आज पश्चिम के नये व्याकरणशास्त्री तोड़ कर कहने लगे हैं कि भविष्य का अर्थ भविष्यकाल नहीं हो सकता क्योंकि काल की निश्चितता होती है और समय अनिश्चित है । भविष्य को हम अपे अतीत या पूर्व–घटना या पूर्व सोच के साथ भी रख सकते हैं । वर्तमान में भी व्यक्त कर सकते हैं। इसलिए, अतीत या वर्तमान की तरह वह काल न होकर कालबोध हो सकता है । टॉफलर 'समय' को लेकर ऐसे कई सवाल अपनी इन दोनों पुस्तकों में सीधे–सीधे नहीं उठाता, बल्कि वह अपने सामने मौजूद वर्तमान के अन्दर की लहरों को देख कर भविष्य के सदमे पहचानता है। इसलिए टॉफलर का भविष्यवाद वर्तमान से उत्पन्न सदमों का भविष्यवाद है । भविष्य आकांक्षा, उम्मीद या काल्पनिक अस्तित्व न होकर कल्पनाओं और स्वप्नों को मिटा देने का डर है । इस डर को विज्ञान, प्रौद्योगिकी, राजनीति, राजनीतिक व्यवस्था, विकास की धारणा तथा विकास के खतरे, कला, साहित्य, संस्कृति और सोच पर औद्योगिकता का अतिक्रमण आदि के रूप में टॉफलर ने देखा है । शिक्षा को इवान इलिच की तरह संस्थायीकरण या स्कूलीकरण से मुक्त करने की बात तो टॉफलर नहीं करता, किन्तु शिक्षा को भी भविष्य के सदमों और डरों का उत्पादक अवश्य मानता है ।

टॉफलर का कहना है कि हम आज परिवर्तनों की आंधी के बीच जी रहे हैं । किसी के पास उसका शत–प्रतिशत सच भी नहीं है और शत प्रतिशत झूठ भी नहीं है। जो भविष्य का सदमा है, वह कोई दूरगामी और विनाशकारी खतरा तो नहीं है, मगर वह बीमार मानसिकता की लंबी पीड़ा का जनक जरूर है ।बीमार मानसिकता और उसके खतरे तब महसूस होने लगते हैं, जब हम शिक्षा के नाम पर एक बौद्धिक मुहावरा रचते हैं और कहते हैं आज की शिक्षा अर्थात् परिवर्तन की या परिवर्तन के लिए शिक्षा या फिर भविष्य की तैयारी की शिक्षा । इन परिवर्तनों और तैयारियों के तनाव के बीच जीता मनुष्य, दिन पर दिन भविष्य के प्रति अधिक चिंतित चेतनावानया संवेदशील होने लगता है । इसलिए जो वास्तव में और वस्तुतः है वह तो हमसे छूट जाता है और जो नहीं है, हम उसकी चिंता में फँस जाते हैं । इसलिए चीनी कहावत में ठीक ही कहा गया है कि "भविष्यवाणी करना बहुत कठिन काम है।"

एलविन टॉफलर अपने भविष्यवाद और उसकी शिक्षा में सर्वाधिक बाधक तत्व मानता है अतीत को, और अतीत के स्थायित्व को । इसलिए सर्वप्रथम टॉफलर चाहता है कि इस स्थायित्व–बोध की मृत्यु हो और सारी दुनिया अतीत–विमुख बने; अतीत से मुक्त हो । भविष्य का पहला सदमा तो एक प्रकार का सांस्कृतिक सदमा होगा, जिसमें इस दुनिया के

नये–नये लोग, नई–नई चीजें और नये–नये आयामों से मुठभेड़ करेंगे । हमें अपने भविष्य के मनुष्य की कल्पना नये ढंग से करनी होगी । समय की व्याख्या उन बदलावों के बीच करनी होगी, जिनके अन्दर हमें जीना होगा । भूमिगत नगर होंगे, तरह–तरह की स्थितियों के निरंतर प्रवाह होंगे। उनको चलाने के लिए यंत्र होंगे और इन यंत्रों को चलाने में हमारा ज्ञान ही हमारा ईंधन या ऊर्जा बनेगा । हमारे भविष्य की हर उम्मीद का समय निर्धारित होगा और हमें लगेगा कि हर चीज क्षणिक है । जो आज या अभी है, वह कल या कभी नहीं रहेगा। इस प्रकार स्थायित्व का सोच मरेगा; स्थायित्व का बोध मरेगा । यह समाज एक प्रकार से हर पल एक फेंका हुआ, निरस्त किया हुआ समाज होगा, क्योंकि समाज का हर बार एक नया संस्करण आएगा, जो फेंके गये संस्करण से अलग होगा । एक नया अर्थशास्त्र विकसित होगा, जिसमें आदमी के हर काम की पसंद ही बदल जाएगी। मंहगे रेशमी शादी के जोड़ों की जगह कागज के गाउन बनने लगेंगे, पोर्टेबल या चलित खेल के मैदान होंगे, शौकों, तमाशों और मनोरंजनों के यंत्र–महल होंगे । हर जरूरत तात्कालिक और अस्थायी होगी और हर चीज प्राप्त करने के लिए एक "किराया–क्रांति" पैदा होगी, अर्थात् स्थायी खरीदी बिक्री या उपलब्धि की मान्यता ही समाप्त हो जाएगी। किराया संस्कृति स्थायित्व की मृत्यु का कारण अपने आप ही बन जाएगी ।

भविष्य के ये सदमे यहीं तक सीमित नहीं होंगे, बल्कि आगामी मनुष्य जाति ही घुमंतू जाति बन जाएगी और सारी दुनिया में घुमंतुओं या भटकते मनुष्य के लिए बंजारा–बस्तियां या बंजारा–क्लब जैसी नई व्यवस्था जन्म ले लेगी । हर आदमी भविष्य की तरफ दौड़ता या भविष्य में आव्रजन करता नजर आएगा । अगर उसे लगेगा कि भविष्य का अर्थ मृत्यु है तो भी अपने तरीके से उसे हासिल करना है। इससे आत्महत्या या मृत्यु–प्राप्ति की एक नयी मानसिकता पैदा होगी । भूगोल की भी मृत्यु होगी और मृत्यु प्राप्ति के लिए भटकते लोगों की घर बसाने की इच्छा या घरवान बनने की आकांक्षा ही समाप्त हो जाएगी । जो आम लोग हैं, वे एक प्रकार का यांत्रिक यान बन जाएंगे और नई तकनीकी सभ्यता में सोमवार से शुक्रवार तक कोई दोस्त नहीं होगा। यहां तक कि सिद्धान्त की दोस्ती भी हमें किराये पर करना होगी। हर काम के लिए आदमी किराये पर मिलेगा और यह जिंदगी एक प्रकार की सीरियल–कैरियर या श्रृंखला में चलने वाले रोजगार या काम की तरह हो जाएगी । बचपन का भी उत्पादन होगा और एक बच्चा अपनी शिक्षा किराये के अध्यापक, किराये की किताबों, किराये की प्रयोगशाला, किराये के ग्रंथालय आदि से करता हुआ ऐसा लगेगा, जैसे वह किसी उद्योग में पैदा हुआ उत्पाद है । हुनर बिकेंगे, क्षमता किराये पर मिलेगी और बच्चे एक जगह ठहर कर स्कूली जिंदगी जीने की बजाय घुंमंतु छात्र बनना पसंद करेंगे ।

संस्थाओं का निर्माण और संचालन तदर्थ होने लगेगा । तदर्थवाद की एक नयी व्यवस्था का जाल बिछ जाएगा और किसी भी बड़े से बड़े साहित्यकार, वैज्ञानिक, चिंतक अर्थात् शेक्सपियर, आइंस्टीन, काफ्का, बोर्खेज, मार्खूज, इलियट और भारतीय संदर्भ में कहें तो कालिदास, तुलसी, प्रेमचंद आदि सब हमें प्रौद्योगिकी उनके लेखन के मुख्य अंश दे देकर समझा देगी । एक अनिश्चित व्यवस्था जन्म लेगी और संस्था का नया रूपक बनेगा जिसे 'टुडे आरगनाइजेशन' कहा जाएगा, जो आज और अभी है और कल नहीं है । बिना चेहरे का शिक्षक–प्राध्यापक, बिना चेहरे का नौकरशाह या प्रबंधक और बिना चेहरे की संस्थाएं या

व्यवस्थाएं पैदा होंगी, जो बिल्कुल तदर्थ या एडहाक होंगी । इससे जो वरिष्ठताक्रम या बड़े छोटे की नौकरशाही व्यवस्था है, वह टूटकर बिखर जाएगी और एक नया सूत्र पैदा होगा, जिसे 'ब्रेन एंड हेंड' सूत्र यानी "दिमाग और हाथ" सूत्र या यंत्र कहा जाएगा ।

सूचनाओं के लिए भी एक नया ऊर्जातंत्र विकसित होगा जिसे काइनेटिक इमेज या "बलगति छवि" कहा जाएगा । अर्थशास्त्र अब मनो-अर्थशास्त्र बन जाएगा। घटना और व्यक्तित्व चाहे वे अतीत के हों या वर्तमान के, सब हमें अपने भविष्य के साथ खड़े दिखाई देंगे। नारमन मैलर हो, ज्याँ पाल सार्त्र हो, कोई नेता, अभिनेता या महापुरुष हो, युग-सुन्दरी हो या युग-मनीषी, सब हमारे लिए जब चाहेंगे तब उपलब्ध होंगे और हम अपनी पसंद से एक दूसरे का "विकल्प-व्यक्तित्व" खोज सकेंगे। मनुष्य ही बुनियादी तौर पर श्रेष्ठ है और ईश्वर मर चुका है, इस प्रकार की धारणाओं का विकास होगा । फ्रायड, डारविन और स्पेंसर जैसे दार्शनिकों की लहर समाप्त हो जाएगी और यह सोच खत्म हो जाएगा कि खराब बच्चा समाज या परिवार की देन है और अपराध मनुष्य वंश परंपरा से लेकर आता है । पढ़ने-लिखने का एक तूफानी शौक पैदा होगा। मगर वह तूफान बच्चे में भविष्य के तूफान की तरह तो होगा ही साथ ही तूफानी साहित्य बिकेगा । कॉमिक्स, हैरत अंगेज कारनामे, भविष्य में छलांग लगाने की तीव्र उत्कंठा और हर बार नयी उत्सुकता पैदा करने वाली किताबें या वीडियो साहित्य बच्चों को एक प्रकार का नशा देंगे । शब्दकोशों में शब्द के अर्थ बदल जाएंगे और ज्ञान की गिनती इस तरह होगी कि अगर शब्दकोश में कुल पांच लाख शब्द हैं और शेक्सपियर या अन्य कवि, लेखक, सर्जक केवल ढाई लाख शब्द ही काम में लाता है तो वह तो अधकचरा पढ़ा-लिखा आदमी कहलाएगा अर्थात् विद्वत्ता की गिनती की जा सकेगी । कला की दुनिया में क्यूबवाद और कायनेटिकवाद का नया द्वन्द्व उभरने लगेगा । ठोसपन बिना बलगति के निरर्थक करार दे दिया जावेगा । इस तरह किसी भी चित्र, मूर्ति या रचना को अपनी रचना के तुरंत बाद एक रिक्त हुई कृति माना जाकर बिना किसी अभिव्यक्ति और अन्तर्निहित सत्य की जाँच के, पैदा होते ही मार दिया जाएगा । इस प्रकार भविष्य का पहला सदमा होगा स्थायित्व की मौत का और दूसरा होगा क्षणिकता के अहसास का ।

दो सदमों के बाद नवीनता की खोज :

भविष्यवाद हमें एक प्रकार की वैज्ञानिक मिसाइल हाथ में पकड़ा देगा । इससे एक नया समाज विस्तार लेगा, जो हमारी जिंदगी के सोच से बना होगा । संस्थाएं और प्रभाव या पद के आधार पर मुहावरे नकार दिये जाएंगे । सब लोग ऐसे महायात्री होंगे, जो सतत नवीनता की क्रांति में विश्वास करेंगे । मनुष्य अंतरिक्ष में पैदल चलेगा और पाताल में पदयात्रा करेगा। आबादी मिटाने की बजाय आबादी बसाने की नई-नई जगह तलाशी जायगी चाहे वे आसमान में हों, समुद्र के नीचे हों या भूमिगत हों । मौसम विशेषज्ञ और मौसम-परिषदें होंगी जो सूरज की धूप और बरसात के पानी तक का बँटवारा कर देंगे । एक जीवविज्ञान कारखाना बनेगा, जिसमें पूरा प्राणिजगत, वनस्पति-जगत अपनी मरजी का पैदा किया जा सकेगा । आदमी की

शरीर-रचना का डिजाइन या आकृति या प्रारूप पहले ही से तैयार कर लिया जाएगा और फिर आदमी उसी तरह का शरीर या उसकी बनावट लेकर पैदा होगा। शरीर के हिस्से तक भी बदले जा सकेंगे और प्लास्टिक के सभी अंग, प्रत्यारोपण के लिए उपलब्ध होंगे । अनुभव-निर्माण की भी एक वर्कशाप या औद्योगिक ईकाई बन जाएगी, जिसमें केवल अनुभवों का ही उत्पादन और उनका किराये पर आदान-प्रदान होगा । मनुष्य अपनी वासना तृप्ति के लिए नई-नई जगह खोज लेगा और अंतरिक्ष में वेश्यालय स्थापित कर लेगा । हर प्रकार का पर्यावरण रचा जा सकेगा। पर्यावरण माँग और पूर्ति के आधार पर काम करेगा ।

खंडित-परिवारवाद :

भविष्य का परिवारवाद रिश्तों के मिथक तोड़ देगा और एक प्रकार से "फ्रेक्चर्ड फेमिली" या खंडित परिवार ही होंगे, जो बड़े से बड़े सदमे झेलने में सक्षम होंगे । एक प्रकार से परिवार की भी मृत्यु हो जाएगी । पश्चिम में तो परिवार मर चुका है । परिवार को तो भविष्य में किसी सपने का स्वर्णकाल माना जाएगा । मातृत्व रहस्यमय होगा और कोई प्रत्यक्ष मां नहीं होगी । बच्चा पैदा होगा और मातृ-पितृ-विहीन व्यवस्था में पलेगा, जिसे बेबीटोरियम कहा जाएगा । यहां बच्चे के भावात्मक विकास के लिए रिश्तों की जगह स्नायु-मनो-चिकित्सा सेवाएं होंगी । मां अपनी इच्छा का शिशु प्राप्त करेगी और जिसे बेबीटोरियम को देकर मातृत्व दायित्व से मुक्त हो जायगी । इस प्रकार बच्चे के लिए मां-बाप और उनके नामों की पहचान या प्रतिबद्धता जरूरी नहीं होगी । एक प्रकार की बायो-पेरेन्ट या प्रो-पेरेन्ट अर्थात् जीव-अभिभावक या अभिभावक-अनुरूप व्यवस्था आकार ले लेगी । वासना-तृप्ति के लिए मनुष्य की समलैंगिकता बढ़ेगी । इस प्रकार से कारपोरेट यानी सहकारी या संयुक्त यौन-व्यवस्था स्वीकार कर ली जाएगी । प्रेम की भावुकता से समानांतर एक नये सिद्धान्त का जन्म होगा जो यह बतायेगा कि शादी का अर्थ है किसी स्थायित्व को स्वीकारना, जबकि पूरा समाज स्थायित्व विरोधी होगा। शादी अगर कायम भी रही तो शादी का भी प्रक्षेपण होगा और शादी के नाम पर जो मिसाइल बनेगी वह उचित मेल तलाश कर एक अस्थायी व्यवस्था शादी के रूप में करेगी जो माँग के आधार पर की जा सकेगी । इस प्रकार एक वर्षीय, दो वर्षीय या कुछ वर्षीय शादियों के सौदे होंगे और तलाक जैसी व्यवस्था की वैधानिक जरूरत ही नहीं होगी ।

भविष्य की विविधता :

भविष्य की विविधता में एक बड़ी चुनौती यह होगी कि उसमें चयन का अतिवाद होगा। तुरंत खारिज करने की प्रवृत्ति पैदा होगी । हम हमेशा एक प्रकार का अश्व बदलने का खेल खेलते रहेंगे । भविष्य की कक्षा 'कम्प्यूटर-कक्षा' कहलाएगी और राजा-रानी हो या दुनिया की कोई भी चीज, उसे टी.वी. या सिनेमा के परदे पर उतार का कक्षा में ले जाने की मनोवृत्ति इतनी तेजी से बढ़ेगी कि शिक्षक की जरूरत ही नकार दी जाएगी । शिक्षा, विज्ञान, मनोरंजन, युवा-मंच, योद्धा, जाति, नये पुराने जंगली लोग, आदिवासी, आधुनिक हिप्पी, मोटरसायकलों पर सनसनाकर गुजरते बुद्धिजीवी आदि सब चीजों का सुपर-बाजार या सुपर उद्योग कायम हो जायगा । आपकी स्टाइल तय करने वाले और आपको एक जिंदा-हीरो बनाने के लिए स्टाइल-फैक्टरी खुल जाएंगी । समाज मुक्त होगा, जिसमें हर चीज की बहुतायत होगी ।

भविष्य को स्वीकारने की सीमाएं :

भविष्य तो हमें कई सदमों के साथ खड़ा करने को तैयार हैं । सबसे पहले हमें अपने भौतिक आयामों के बदलाव का सपना झेलना होगा । जीवन बदलाव की बीमारी से सदा ग्रस्त रहेगा और भविष्य की सबसे बड़ी बीमारी सतत् बदलाव की इच्छा होगी । नवीनता के प्रति लोग लपकेंगे, मगर अपना अनुकूलन या अपनी स्वीकृति की सीमा क्या हो यह तय नहीं कर पाएगें । इन भौतिक सीमाओं के सदमे से पैदा होगा मनोविज्ञान सदमा । इस मनोवैज्ञानिक आयाम से तर्क की नयी जगह पैदा होगी । हमारा व्यक्तित्व हमेशा अति-उत्तेजना का शिकार रहेगा । हमें लगेगा कि हमारी ऐंद्रिय अनुभूतियों का हम पर वज्रपात हो रहा है । हमारे अन्दर सूचनाओं की अति या ओव्हरलोडिंग हो रही है । हम पर हमेशा निर्णय लेने का तनाव या दबाव रहेगा ।हम यह भी कहें कि भविष्य के सदमों के बीच या भविष्य के सदमों से त्रस्त समाज के बीच हम जी तो रहे हैं, मगर हम उस भविष्य के साथ कैसे निर्वाह या समन्वय कर पाएंगे, यह सोच नहीं पा रहे हैं । हम भविष्य की 'लाइफ-स्टाइल फेक्टरी' में कितनी-कितनी स्टाइलों, कितने-कितने पंथ और उपपंथों के बीच जीने को मजबूर होंगे, हमें लगेगा हम अकेले ही नहीं है । हमारी अपने ही अकेलेपन की एक भीड़ है। हम मुक्ति या स्वच्छंदता की बढ़चढ़कर कितनी भी बातें करें, मगर हम पूरी तरह से मुक्त भी नहीं होंगे । पूर्व-प्रौद्योगिकी काल के आदिमपन, उस समय के अधिक जंगली जीवन, अधिक बीमारी, अधिक दर्द, अधिक भुखमरी, डर, अंध-विश्वास, आपसी द्वेष, धार्मिक कट्टरता बार-बार हमें अपनी पुरानी जड़ता और पिछड़ेपन में घसीटेगी तो जरूर, मगर भविष्य का समाज तो विविधताओं को समझ कर अपनाने वाले समाज का होगा । हमें शिक्षा, राजनीति संस्कृति और सामाजिक समस्याएं, इन सबका सामंजस्य करना होगा; इनका एकीकरण या समन्वय करना होगा और यह एकीकरण भी औद्योगिक व्यवस्था के अनुरूप करना होगा । इससे एक ऐसा वातावरण बनेगा जो अमूर्त, वायवी, जटिल और अपरिचित सा होगा । उसी के अन्दर लाखों लोगों को इस डर में जीना होगा कि वे इन सबके साथ अपना अनुकूलन करे या फिर भविष्य के सदमे की निराशा में जीने को मजबूर हों।

भविष्य में जीवित रहने की व्यूहरचना :

भविष्य यदि आतंकित करता है, धक्के दे देता है और इस तरह के तनावों और चिंताओं से घेर लेता है तो वह यह भी बताता है कि उस भविष्य से जूझने की हमारी रणनीति या व्यूहरचना क्या हो? हमें आनेवाले कल का साथ तो निभाना ही होगा। साथ ही एक परिक्षेत्र तैयार करना होगा, जिसे टाफलर व्यक्तिगत-स्थिरता-परिक्षेत्र कहता है । कभी-कभी आज भी समाज में ऐसा समय आता है, जब समाज का सबसे मिलनसार आदमी भी अलग-थलग या अकेला पड़ जाता है । उसके पुराने स्कूली या कालेजी या व्यावसायिक मित्र उसे छोड़ जाते हैं । वह पुनः एक प्रकार की क्षणिकता, नवीनता और विविधता से घिर जाता है । इसी बीच उसे अपनी स्थिरता की खोज करना होती है । अपनी जीवन-प्रणाली बदलना पड़ती है और परिवार से बाहर अपने भविष्य की मित्रता या संबंध को खोजना पड़ता है । उसे समय और भावना की अनेक भविष्यवाणियों का सामना करना है । वह अपनी स्थिरता परिक्षेत्र या स्टेबिलिटी-ज़ोन्स का अन्वेषण कैसे करे? परिवर्तन पर काबू पाने के लिए उसे संघर्ष करना ही होगा । परिवर्तन की खोज भी अधिकतम आनन्द, खुशी की खोज है । आदमी की समस्या यह है कि

वह हर परिवर्तन को अधिकतम खुशी की खोज में अपनाता है । इसके लिए उसे तनावों और संघर्षों की व्यक्तिगत पीड़ा भोगनी होती है ।

भविष्य की व्यूह-रचना के लिए टॉफलर का सुझाव है कि मनुष्य परिस्थिति-आधारित समूह का निर्माण करे । हम कई बातें पुराने आग्रह के कारण नहीं छोड़ पाते, जैसे-पुराना मकान इसलिए नहीं बदलते कि अच्छे पडोसी छूट जाएंगे; पुरानी कार इसलिए रखते हैं कि उससे हमारी कोई याद या इतिहास जुडा है चाहे उसकी मरम्मत के लिए हमें ज्यादा ही खर्च क्यों न करना पडे । कई बार तो ऐसा होता है कि हम अपनी जगह से अपना तबादला तक नहीं चाहते । अपने गांव या नगर से इस कदर मोह पाल लेते हैं कि नौकरी तक छोड़ने को तैयार हो जाते हैं, परन्तु जगह बदलने को तैयार नहीं होते। इन परिस्थितियों से बचने के लिए समूह का निर्माण जरूरी है । इन्हें न्यूकमर्स क्लब यानी नवागत-क्लब या न्यू आउट मूवर्स क्लब यानी नव घुमक्कड़ों का क्लब कहा जा सकता है ।

भविष्य के साथ निर्वाह के लिए एक और व्यूह रचना यह है कि हमें संकट की सलाह मिले और इसके लिए "संकट-सलाह परिषदें" बनायी जा सकती हैं । इन्हें टॉफलर क्रायसिस काउंसिल कहता है या इनसे संकट से निपटने की समझ दी जा सकती है । इन परिषदों में देखभाल-केन्द्र या केअर-रिंग खोले जा सकते हैं । भविष्य के सदमे को बरदाश्त करने का एक तरीका टाफलर ने "हाफवे हाउस" यानी आधा घर-आधा बाहर प्रक्रिया बताई है । ऐसे घर सेवा निवृत्त लोगों के लिए बहुत उपयोगी हैं और मझले आकार के नगरों में ये सफल हो सकते हैं । इस हाफवे हाउस के लिए हमें अतीत की कुटिया से बाहर आना होगा और अपने उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने के पुराने ऐतिहासिक मोह से मुक्त होना होगा तथा भविष्य के नये झोपड़े में प्रवेश करना होगा । भविष्य का झोपड़ा हमारे मनोवैज्ञानिक समूह के साथ होगा, जिसमें हमारी कुटिया एक इलेक्ट्रानिक काटेज कहलाएगी, जिसका टाफलर ने अपनी पुस्तक 'थर्ड वेव' में विस्तार से जिक्र किया है । अगर नील आर्मस्ट्रांग चांद पर चलकर उसे मनुष्य का एक छोटा कदम कहता है और आइसलैंड के मानुष कल्कि सभ्यता के लिए अपना पूरा रूपांतर कर सकते हैं तो हमें इस सारी दुनिया को भविष्य की कुटिया के रूप में देखना होगा ।

शिक्षा का भविष्यकाल :

मनुष्य और मशीन जबसे अंतरिक्ष में गृह-नक्षत्रों पर दौड़ लगाने लगे हैं, तब से ज्यादातर स्रोत या संसाधन इस बात पर खर्च किये जाने लगे हैं कि हमारी महत्वाकांक्षाओं के ये अंतरिक्ष-यान धीरे से बिना झटके के उतारे जा सकें । इसका यह अर्थ है कि मनुष्य हो या मशीन जिसे भी चाहे किसी स्थान पर उतारा जाय या किसी के मन में उसका झटका लगे बिना ही लोग यह महसूस करें कि कुछ न कुछ नया घटित हो गया है । टॉफलर ने इसे "साफ्टलैंडिग" प्रणाली कहा है । दुनिया की गति को देखते हुए दुनिया की रोज-रोज होने वाली संसाधन-क्रांति को देखते हुए भविष्य के सदमों को झेलने और स्वीकारने के लिए जिन अनेक उपायों की जरूरत है उनमें से शिक्षा एक अत्यंत महत्वपूर्ण सहयोगी व्यवस्था कही जा सकती है। नयी प्रौद्योगिकी, नयी तकनीक, नयी गति और नयी-नयी उम्मीदों ने शिक्षा को पीछे धकेल दिया है और लोग यह मानने लगे हैं कि स्कूल का चेहरा अब गतिशील और आकर्षक चेहरा नहीं रह गया है । स्कूली व्यवस्था एक प्रकार से मरणशील व्यवस्था हो गई है । वह नये उदय होते समाज

को आगे ले जाने की बजाय पीछे धकेलती है। आज के औद्योगिक मानव समाज में जब तक मनुष्य अपने जिन्दा रहने के औजार तलाशेगा, तब तक तो शिक्षा की व्यवस्था मर चुकी होगी । वह मनुष्य का एक बड़ा सदमा होगा जिसमें शिक्षा का उद्योग द्वारा अपहरण और अतंतः स्कूल की ही मृत्यु होगी और शिक्षा के नाम पर मनुष्य का मात्र औजारों में रूपांतरण हो जायगा ।

औद्योगिक युग का स्कूल समय के बदलते आग्रहों पर आधारित होगा । कोई भी समाज अपनी विशेषता की अभिव्यक्ति अपने भूत, वर्तमान और भविष्य के सोच में करता है । लेकिन उद्योग–प्रधान समाज उसके तमाम सोच का भविष्यीकरण कर देगा । पुरानी विद्वता के मुहावरे ढह जाएंगे । समाज में शिक्षक और छात्र जिस परस्पर समर्पण और सेवा–भाव से जुड़े होते थे उस पर मशीन संस्कृति का अतिक्रमण हो जाएगा । 19 वीं सदी के स्कूल ने औद्योगिक क्रांति के कई साधन अपना लिये। उद्योगों ने स्कूल के लिए मशीनें तो बनाई, मगर स्कूल को मशीन में नहीं बदला था। स्कूल का आंतरिक जीवन एक मायावी और उम्मीदों से भरे ऐसे दर्पण के समान था, जिसमें समाज अपना प्रतिबिम्ब देख सकता था । ज्ञान को एक–आयामी अनुशासन मान लिया गया था । आज उस समूचे स्थायी अनुशासन की आलोचना की जा रही है और कहा जा रहा है कि स्कूल दिमाग का फौजीकरण करता है । उसमें व्यक्ति की अपनी निजी विशेषताओं और व्यक्तित्व का लोप हो जाता है । वहां एक जड़ और कठोर अनुशासनग्रस्त बैठक व्यवस्था होती है । बेमेल और कल्पनाहीन समूहीकरण होता है । नंबरों और ग्रेडों में योग्यता मापी जाती है और शिक्षक स्वेच्छाचारी या तानाशाह हो जाता है । इस औद्योगिक काल की शिक्षा में अतीत के प्रति मोह तो कम हुआ है, मगर वर्तमान के प्रति सर्वाधिक मोह बढ़ा है और हर समस्या को "हियर– एंड–नाउ" के मुहावरे से जोड़ दिया गया है । जैक्विस मेरिटेन और नव अरस्तूवादी राबर्ट हचिन्स जैसे विचारकों ने इस प्रकार की मान्यता की आलोचना की है और "त्वरितता के सिद्धान्त" और वर्तमानवाद के विरुद्ध भविष्यवाद की मान्यता रखते हुए बताया कि उद्योग युग बीत चुका है और सुपर–उद्योग युग में प्रवेश के साथ जरुरी है कि वर्तमानवाद से मुक्त होकर भविष्यवाद की योजना तैयार की जाय। जेक्विस बारजन ने भी सुपर–औद्योगिक क्रांति के सन्दर्भ में भविष्यवाद अपनाकर समय के आग्रह का भूत और वर्तमान से आगे भविष्य की तरफ मोड़ने की कोशिश की है और यह भी बताया है कि इस तरह वर्तमानवाद की शिक्षा आज कोसी जा रही है। अगर भविष्य की तैयारी सुपर–उद्योगवाद के साथ नहीं की गई, तो भविष्यवाद भी उसी तरह आरोपों के कटघरे में खड़ा होगा । उद्योगवाद ने एक बड़ा परिवर्तन यह जरूर किया है कि जो अभी तक का प्रशासनिक वरिष्ठतावाद या पदवाद था, उसे औद्योगिक नौकरशाही में बदला और इस प्रकार शिक्षा भी प्रशासन की बजाय प्रबंधन के दायरे में आ गई और भविष्य की पूरी शिक्षा पर औद्योगिक नौकरशाही का प्रबंधवाद ही हावी होगा ।

नवीन शैक्षिक क्रांति और भविष्यवाद :

भविष्य की तकनालजी व्यवस्था अत्यंत गतिशील, तरल, आत्म–नियमित, और मशीनों या भौतिक संसाधनों के जरिये निरंतर सूचना पैदा करती नयी दृष्टि देती व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था में मनुष्य की समतुल्यता समाप्त हो जाएगी अर्थात् आदमी डि–सिंक्रोनाइज होगा। वर्तमान के समग्र सुपर उद्योगवाद को चलाने की एक मशीन होगी । नौकरशाही की स्थायी व्यवस्था की जगह तदर्थवाद की व्यवस्था हावी होगी । मनुष्य स्थायित्व से क्षणिकता की ओर प्रस्थान करेगा । वर्तमान केन्द्र से हट कर, उसकी जगह भविष्य केन्द्र में होगा ।

लुइस ममफोर्ड का कहना है कि अब शिक्षा एक पीढ़ी आगे की शिक्षा होगी। रोटी की कीमत का यांत्रिक शक्ति के आगे आत्मसमर्पण हो जाएगा और प्रसिद्ध उपन्यासकार सी.पी. स्नो का कहना है कि भविष्य और केवल भविष्य ही मनुष्य की हड्डियों में समा जायगा । शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की उस क्षमता को बढ़ाना होगा, जिससे हर समस्या के हल की ओर हर चुनौती के साथ चलने की योग्यता हो । दूरगामी अनुमानों पर सोचना होगा, हर बात की संभावना में जीना होगा, अंदाज लगा कर चलना होगा और सुपर–उद्योगवाद के अनुरूप शिक्षा रचनी होगी। नई–नई शिक्षा नीति, उत्कृष्ट शोध परिषद व समृद्ध केन्द्र बनाने होंगे । "भविष्य–परिषद" बनाकर वहां अनुमानों पर, परिकल्पनाओं पर आगामी संभवनाओं पर संवाद, बहस, विश्लेषण आदि कराना होगा और जानकारी एवं ज्ञान का नित नवीनीकरण करना होगा। मनुष्य की शरीर–रचना में अनुमानित या संभावित भविष्य की कोशाएं होंगी, जिन्हें राबर्ट जंक ने "प्रॉगनास्टिक सेल्स" कहा है । इन "भविष्य–परिषदों" पर यदि व्यावसायिक शिक्षाविदों, योजनाकारों और प्रखर बौद्धिक या संभ्रात कहलाने वाले लोगों का कब्जा हो गया तो ये परिषद् असफल हो जाएंगी । इसलिए भविष्य परिषद् की रचना छात्र ही होंगे । अभी तक शिक्षा में पुराने व्यावसायिक बुजुर्गों की शैक्षिक भूमिका रही है । इसलिए वे अतीत में जाकर अतीत का ही पाठ्यक्रम बना डालते हैं और वर्तमान का इस्तेमाल भी अतीत की तरह ही करते हैं । अतः एक संगठित हमला इस अतीतवाद और वर्तमानवाद पर करना होगा, जिसमें कम्प्यूटर आधारित शिक्षा, इलेक्ट्रानिक दृश्य शिक्षा, स्वलिखित अर्थात् होलोग्राफिक शिक्षा और अपने बच्चे की शिक्षा ठेके पर उठायेंगें और सिखाने का ठेका देकर अपनी आवश्यकता की शिक्षा पूरी करायेंगे । फ्रेडरिक जे. मेकडॉनल्ड मोबाइल या चलित शिक्षा को भविष्य की शिक्षा कहना है। इसके लिए पूरे समाज में जगह–जगह कम्प्यूटर ब्यूरों होंगे, संवाद केन्द्र होंगे और शिक्षा के मार्गदर्शक या मेन्टर्स होंगे जो डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी, उद्योगपति, बढ़ई, मकान–बनाने वाले राजमिस्त्री, लेखा–जोखा करने वाले गणक, बैंक कार्यकर्ता अर्थात् ऐसे भी लोग होंगे जो नियमित संकाय के लोग नहीं हैं । औद्योगिक सभ्यता की शिक्षा ने आदमी को मशीनी औजार बनाया था, लेकिन सुपर उद्योगवाद के युग में पुरानी सारी संरचना टूटेगी । भविष्य के मनोविज्ञान समूह, तदर्थवादी संगठन और कार्यकर्ता, अनुभव–विनिमय समूह, इत्यादि तैयार होंगे, जो शिक्षा से बौद्धिक पलायन रोकेंगे और शिक्षा में खेलकूद, भूमिका अभिनय, सेमिनार और संवाद प्रणाली और तकनालजी का उपयोग कर उसका संचालन भविष्य परिषदों के जरिए करेंगे ।

अतीत के पाठ्यक्रम से मुक्ति और भविष्य की विद्या व्यवस्था :

भविष्य परिषद् का एक मुख्य काम यह होगा कि अभी तक जो पाठ्यक्रम होता था और उसमें जो विषय रखे जाते थे, उनका एक तर्कदिया जाता था । लेकिन अब नया तर्कयह होगा कि हमारा पाठ्यक्रम अतीत की विरासत या वर्तमान की उपलब्धि का न होकर भविष्य की संभावनाओं का पाठ्यक्रम होगा । इसे संस्कृति–विरोधी पाठ्यक्रम न माना जावे; न यह माना जावे कि यह पढ़ना, लिखना, हिसाब करना जैसी बुनियादी बातों को खारिज करता है । वास्तव में आशय केवल यह है कि तर्कशास्त्र, दर्शन, कम्प्यूटर प्रोग्रेमिंग, सौन्दर्यशास्त्र, जनसंचार आदि सब भविष्य के अनुमानों और संभावनाओं को ध्यान में रख कर ही रखे जाएं

क्या यह जरूरी है कि हर बच्चा बीजगणित भी पढ़े? शिक्षा के हर प्रश्न के जो प्रौढ़–उत्तर खोजने और उन्हें तर्कसंगत बताने की जो परंपरा है, वह त्यागना होगी । जिसके प्रश्न हैं, वही उत्तर खोजे और खोज में भविष्य परिषद् उसका साथ दे । ऐसे पाठ्यक्रम के मानकीकरण और विविधता के बीच भी संतुलन रखना होगा । हमारे सामने समाज के विखंडित होने के जो खतरे हैं, उनका मुकाबला एक समान और विविधताहीन–शिक्षा–प्रणाली से नहीं होगा । विविधता ही विखंडन की रक्षा कर सकती है । इसके लिए हमें आवश्यक डेटा और हुनरों की विविधता की खोज करना होगी । जरूरत पड़ने पर डेटा की विविधता के आधार पर आकस्मिक पाठ्यक्रम भी बनाये जा सकते हैं, जिन्हें टॉफलर **'कांटिन्जन्सी करीक्यूलम'** कहता है ।

विद्या व्यवस्था को एकीकृत विद्या केन्द्र के रूप में विकसित करना होगा । पहले तो सोच पैदा करना होगा कि आज जो हमारे लिए "तथ्य" है, वह "त्रुटि" साबित हो सकता है । आज जो सूचना है, वह कल गलत जानकारी में बदल सकती है । इसलिए हमें डेटा–बैंक को 'मेमोरी–बैंक' बना कर कम्प्यूटर से उसका प्रोग्रेमिंग करना होगा ताकि आगामी पीढ़ी की शिक्षा सही सीखना शुरू करवा सके । इसलिए विद्या के अन्तर्गत "सीखना" यानी सीखने की कला पहली कला होगी । सीखने की इस नई प्रणाली में मनोवैज्ञानिक हरबर्ट जरजुवाय का कहना है कि सीखने वाले हर व्यक्ति को सूचना के वर्गीकरण, पुनर्वर्गीकरण, उसके मूल्यांकन, उसके असर और उसके वर्ग को बदलने की क्षमता हासिल करनी चाहिये । भविष्य का शिक्षित आदमी वह नहीं होगा, जो पढ़ना–लिखना जानता हैं, बल्कि वह व्यक्ति होगा जो यह जानता है कि सीखा किस प्रकार जाता है।

हुनर–हासिल करने का दूसरा तरीका है: 'सम्बन्ध बिठाना' यानी 'रिलेटिंग' इसमें दिक्कतों को पहचानता और उन्हें जीवन की गति से जोड़कर उनका हल ढूंढना। इसमें स्पर्श करने, अनुभव करने, तुरंत जान लेने, संबंध बनाने, अकेलेपन में भी खेलों और क्रियाओं को साथी बना कर उनसे सीखने वाले अपनी बात अन्य तक पहुँचाने की क्षमता पैदा होती है । यह सीखने वाले को यह बताता है कि वह किसी स्थायी और गहरी मित्रता की खोज न करे और अकेलेपन तथा विश्वास को स्वीकार करना सीखे । उसे हर बार नया कार्यसमूह, नयी तकनीकें और नयी विविधताएं मिलेंगी और उसे सीखना होगा कि इन सबके साथ अपने संबंध किस प्रकार स्थापित करे ।

चयन करने की योग्यता

सुपर उद्योगवाद कई जटिलताएं पैदा करेगा । हमें लगातार चयन करते रहना होगा । हर बार अनेक विकल्पों से जूझना होगा । अगर हम अति–चयनवादी बन कर अपने चयन की ठीक से पहचान करके उसका मूल्यांकन नहीं करते तो हमारा चयन लंगड़ा–लूला होगा । हरबर्ट स्पेन्सर अगर शिक्षा को चरित्र–निर्माण मानता है तो भविष्य में हमें आंतकित करने वाले पुराने मूल्यों से मुक्त होना होगा । अगर शिक्षा का रूप बाबू रचनेवाली या लिखने–पढ़ने और हिसाब करने की शिक्षा है, जिसे टॉफलर "क्लेरिकल" एज्यूकेशन कहता है तो वैज्ञानिक तटस्थता और मूल्यों का जीवन में उतारना आदि सब तत्व हमारे आसपास की दुनिया पर निर्भर करेंगे । हमें मूल्यों के विरोधाभासों से स्वयं ही टकराना होगा । पैसों की दुनिया में जिंदगी की सही पहचान कर पाना और उसे भविष्य का पाठ्यक्रम बनाना एक जटिल काम होगा । इसीलिए औपचारिक और अनौपचारिक समस्त गतिविधियों को चुनकर उसका ठीक से संयोजन करना ही सही भावी पाठ्यक्रम बनाना होगा ।

भविष्यीकरण की व्यूहरचनाएं :

आज भी 'डॉन क्विक्जोट' के महान लेखक सरवेन्टीज की मृत्यु के साढ़े तीन सौ साल बाद वैज्ञानिक यह खोज कर रहे हैं कि क्या किसी चीज को अपने अनुकूल बनाने के लिए बाँह उठाकर पहले ही चेतावनी दी जा सकती है? क्या सूचना की भी अपेक्षा की जा सकती है ? क्या किसी भी बौद्धिक समस्या या किसी भी सामान्य या असामान्य क्रिया, उसमें आने वाली कठिनाई और उनके मुताबिक कार्यशैली को पहले से ही जाना जा सकता है? शायद फ्रायड ने सही कहा था कि **"विचार तो कर्म की रिहर्सल हैं"** । कुछ लोग अब भविष्यवाद से जुड़कर न केवल भविष्य का अनुमान लगाने लगे हैं, बल्कि अब उन्होंने "गहरे भविष्य" और "उथले भविष्य" का भी भेद तय कर लिया है । भविष्य की घटनाएं और उनके समय–क्षितिज तक तय हो गये हैं । अब हम प्राचीन संस्कृति की मानसिकता की बजाय नई संस्कृति के आदी हो रहे हैं और सोचने लगे हैं कि जिन्दगी की गति जितनी तेज होगी, पर्यावरण उतनी ही तेजी से बदलेगा । प्रसिद्ध समाजविद् बेंजामिन डी. मिंगर का कहना है कि भविष्य वर्तमान के व्यवहार को बदलता है. । एक बच्चा जब अपनी ओर देखता है तो उसे वह जो वह देखना नहीं पड़ता; उसे जो होना है या बनना है, वह भी देखना पड़ता है । इसलिए उसकी केन्द्रीय दृष्टि भविष्योन्मुखी होती है। आज की शिक्षा से हम कमरे में ज्ञान के साधन पैदा करते हैं और नक्शे, चार्ट, ग्लोब आदि से स्थान की स्थिति समझा देते हैं । उनके संबंध पृथ्वी और अंतरिक्ष से बता देते हैं । बड़ी–बड़ी क्रांतियां, घटनाएं इतिहास की समझ बता देती हैं, मगर स्कूल भविष्य के सम्बन्ध में बिलकुल मौन है । स्कूली पढ़ाई में **"सुनो, देखो, और दौड़ो"** की प्रक्रिया होती है । वह भविष्य की संभावना का सोच पैदा नहीं करती । भविष्य चेतना के बिना यह संभव भी नहीं है । भविष्य का सदमा झेलने के लिए भविष्य का चिंतन जरूरी है । हम एक बच्चे का उछलती गेंद के टप्पे से ध्यान भंग करने की बजाय उसे यह बतायें कि जिस प्रकार क्रिस्टल बाल के टप्पे होते हैं, वैसे ही भविष्य भी आड़ा–टेढ़ा होता है । भाषणों तथा पाठ्यक्रमों के अनुशासनों के बजाए हमें अपनी संभावनाओं के माध्यम से चलना होगा । हमारे पास भविष्य का साहित्य नहीं है; भविष्य की आत्मकथाएं नहीं है । इसलिए हमें भविष्य का विज्ञान ही नहीं, भविष्य का साहित्य, भविष्य का समाज–शास्त्र और भविष्य की संभावनाओं का पाठ्यक्रम बनाना होगा । इसलिए आज की शिक्षा को अतीत से मुक्त करना होगा ।.अपने नये वर्तमानवाद से मुक्त होना होगा और भविष्यकाल में प्रवेश करना होगा । इस भविष्यवाद या भविष्यकाल की शिक्षा में हमें पूरी तकनालजी को पालतू बनाना होगा। यौन–संबंधों की भावी व्याख्या करना होगी । पर्यावरण का नया रूपहला परदा रचना होगा और भविष्य का समाज एक ऐसा शक्तिशाली समाज बनाना होगा कि तकनालाजी भी अगर मर जाए तो तकनालाजी की मौत का सदमा भी स्वीकारा जा सके । तभी जाकर समय का एक नया क्षितिज तैयार होगा, जिस पर मनुष्यता की योजना खड़ी होगी। एक अपेक्षित मनुष्य की उम्मीद, उत्साह एवं उमंग क्या लोकतंत्र होगा; सुदूर भविष्य मानवीकृत भविष्य होगा ।

तीसरी लहर और एलविन टाफलर :

'फ्यूचर शॉक' के बाद टाफलर ने जो सर्वाधिक चर्चित पुस्तक लिखी, वह है: **"तीसरी लहर"**। पहली लहर में तो अनेक प्रकार की पूर्व घटित क्रांतियां, उनका समन्वय और उनसे पैदा होने वाले भविष्य की तरंगें हैं । दूसरी लहर सभ्यता की शिल्पी लहर है । मनुष्य जीवित बैटरी

होगा । हर बात का हल हिंसक होगा; प्रौद्योगिकी–गर्भ होगा; कई स्थापित मान्यताएं ढहेंगी । मानकीकरण, विशेषीकरण, समतुल्यता, ध्यान–केन्द्रीयकरण, अधिकतमीकरण और केन्द्रीयकरण जैसे रूपक नष्ट होंगे और मनुष्य में मेकिनो मीनिया या यांत्रिक सनक पैदा होगी। विश्व नियमों का कारखाना बनेगा, बगीचों में गैस पंप लगे होंगे, समाजवादी साम्राज्यवाद पैदा होगा (जो अब खत्म हो रहा है) और सुपर एलिट वर्ग का अपना एक पावर पिरामिड होगा और अंततः हर बात पर प्रश्न के साथ नये ज्ञान के प्रकाश की बाढ़ या चमक की बाढ़ आ जाएगी ।

तीसरी लहर में नया संश्लेषण होगा । यह लहर उत्कर्ष के असर की लहर होगी। सूर्य के उस पार झाँकने की इच्छा की लहर, भविष्य के औजार खोजने की लहर, यांत्रिक परिक्रमा की लहर, गहराइयां मापने की लहर और तकनालाजी के विरूद्ध विद्रोह की लहर भी उठेगी । इसी के साथ जीन्स का नया उद्योग पैदा होगा और आदमी की छवि 'वेअर हाउस इमेज' या भंडारण–ग्रह की छबि बन जाएगी । मीडिया का भीड़वाद समाप्त होगा और छायाचित्रों की "रडार–तकनीक" या दूर–चित्र छाया शैली पनपेगी । दिमाग का इतना विस्तार होगा कि एक आदमी की स्मृति के बजाय सामाजिक स्मृति–कोश बन जाएंगें । शरीर पर कपड़ों का भार कम होने लगेगा और 'टी–शर्ट कलचर' का बोलबाला लिंगभेद रहित होगा । घर में केन्द्रित नया समाज होगा । बच्चों की जिम्मेदारी से मुक्त समाज होगा । 'लव–प्लस' के नाम पर 'हाट–कलचर' यानी तुरत–फुरत प्रेम और बच्चे की चिंता या जिम्मेदारी के बिना ही भविष्य में दौड़ने का सिलसिला होगा । राजनीतिक दबावों का असर होगा। नशे की लत फैलेगी । नींद की समस्या पैदा होगी और बहुआयामी सहकारिता का वातावरण पैदा होगा । अर्थशास्त्र अदृश्य होगा और तीसरी लहर का अर्थशास्त्र खुद कमाओ, खुद खाओ का अर्थ शास्त्र होगा । पेटू विधवाएं होंगी और प्रकृति की भी नयी छवि रची जाएगी । वृक्ष प्रगति का सूचक होगा। भविष्य का समय महत्वपूर्ण माना जाएगा । अन्तरिक्ष यात्रायें होंगी । विश्व सहकारिता कायम होगी । कास्मिक या ब्रह्मांडीय खेलकक्ष होंगे और पूर्णतावाद या अपूर्णतावाद के बीच द्वन्द्व होगा । ग्रह–उपग्रहों का नेटवर्कऔर नये नये मिथ पैदा होंगे । हमें हमारे ही प्रश्न हर बार गलत लगेंगे । राष्ट्र की कल्पना खंडित होगी और हमारे एकांतों पर हमला होगा । भविष्य का अलग व्यक्तित्व होगा। नये कार्यकर्ता होंगे। नयी आचरण–संहिता होगी और सबका स्वयं में विलय होगा । राजनीतिक रूप में हम एक प्रकार के सियासी मकबरों की राजनीति करेंगे । नये अंधकारों की कोठरियां होंगी । हर आदमी में अपने को मसीहा मानने की मनोवृत्ति पैदा होगी और आम सहमति जैसा मुहावरा निरस्त होगा । अल्पसंख्यक शक्ति का प्रभाव बढ़ेगा । अर्द्ध निर्देशित लोकतंत्र होगा । विभाजित निष्कर्ष होंगे और नये भाग्य की रचना के लिए भविष्य का सुंदर संघर्ष करना होगा । इस प्रकार पहली लहर कृषि–क्रांति की लहर थी, दूसरी औद्योगिक क्रांति की लहर और तीसरी लहर सभ्यता की लहर । तीसरी लहर रोजगार, जीवन–शैली, कार्य की नैतिकता, सेक्स–संबंध, जीवन–मान्यता, आर्थिक और राजनैतिक–संरचना और उनकी चुनौती और इन सबकी आपसी टकराहट की लहर होगी । तीसरी लहर सर्वाधिक चमकीले भविष्य की चुनौतीपूर्ण लहर है, जिसके लिए भविष्य का समाज, भविष्य की चेतना और भविष्य की शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाना होगा ताकि लहर को पहचाना जा सके और भविष्य का सदमा सहा जा सके ।

टॉफलर तीसरी लहर को भविष्य के सदमे से अलग करके देखता है । भविष्य के सदमे को जहां टॉफलर ने एक स्वप्नदर्शी की तरह देखा था, वहीं तीसरी लहर में वह वास्तविक और वस्तुनिष्ठ होने का प्रयास करता है । मनुष्य के पूरे अस्तित्व की चिंता स्पष्ट हुई है "तीसरी

लहर में" । इसलिए टॉफलर तीसरी लहर को भविष्य के सदमे से अलग करके देखता है । भविष्य के सदमे को जहां टॉफलर ने एक स्वप्नदर्शी की तरह देखा था, वहीं तीसरी लहर में वह वास्तविक और वस्तुनिष्ठ होने का प्रयास करता है ।

टॉफलर बिल्कुल शुरू में कारलोस फुएंतस के "तेरा नोस्त्रा" की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं "क्या हम इस दुनिया में सिर्फ हंसने और रोने के लिए आये हैं, या कि हम सिर्फ मर जाने और पुनः पैदा होने के लिए हैं?" टॉफलर ने फुएंतस जैसे विचारक की यह बात कह कर एक प्रश्न पैदा किया है कि हमारा होना अर्थात् हमारे अस्तित्व का क्या अर्थ है? तीसरी लहर एक प्रकार से मनुष्य के अपने अस्तित्व की खोज और उसकी हिफाजत की लहर है । जिन स्थितियों के बीच आज मनुष्य है, वे हैं आतंकवाद से रची हुई स्थितियाँ, जैसे मौतों के खेल, अपहरण, मुद्रा–तस्करी, राजनयिक दूतावासों पर हमले और आगजनी, दिल–दहलाने वाले तूफानी सैनिक, जो अपनी फौजी कवायदों से किसी भी जमीन को कुचल दें । इस प्रकार अस्तित्व के आसपास आतंक, दहशत और डर का निवास होगा । यह जमाना है कि जब मनुष्य की स्वर्ण–भूख ने दुनिया के तमाम रेकार्ड तोड़ डाले हैं । बैंकों का कारोबार तक काँप उठा है । मुद्रा–स्फीतियों ने मंहगाई के दुर्गम पहाड़ खड़े कर दिये हैं और दुनिया भर की सरकारें या तो लकवाग्रस्त हो गई हैं या एक प्रकार की जड़ता और मूर्खताओं की शिकार हैं । यह ऐसा वक्त हैं, जब समूह गीतों में मातमी धुन बज रही है और जिसे हमारे बुजुर्ग कह रहे हैं कि लोग पगला गये हैं और विशेषज्ञ कह रहे हैं कि यह सब विनाश का रास्ता है । ऐसे समय में तीसरी लहर यह सोचने के लिए उकसाती है कि मनुष्य की कहानी समाप्त होने वाली कहानी नहीं है, बल्कि वह तो हर बार नई शुरू होती कहानी है ।

आज की दुनिया में एक प्रकार का तूफान उठा हुआ है । काम करने, खेलने–कूदने, शादी–ब्याह रचाने, बच्चे पैदा करने और सब कुछ कर चुकने के बाद रिटायर हो जाने का भी अलग और बड़ा भद्दा तरीका शुरू हो गया है । समाज में मनुष्य को हमेशा अपने विपरीत प्रवाहों के बीच जीने को मजबूर होना पड़ रहा है । व्यापारी या उद्योगपति अनियमित आर्थिक ऊंच नीच के झंझावातों से त्रस्त हैं । राजनीतिज्ञों को हर बार उनके गृह–नक्षत्र उठते–गिरते दिखाई देते हैं और अस्पताल, स्कूल, विश्वविद्यालय एवं ऐसी ही अनेक संस्थाओं में बेशुमार और अनियंत्रित भीड़ बढ़ गई है । ऐसे में सारी मूल्य व्यवस्था ही चकनाचूर हो गई और परिवार, गिरजाघर एवं राज्य जैसी नैतिकतावान संस्थाओं के भी चरित्र डगमगा गये हैं । ऐसा लगता है कि मानों इन तूफानी परिवर्तनों ने मनुष्य के मन में अस्थिरता, निराश और खीझ उत्पन्न कर दी है । ये जो भी परिवर्तन हो रहे हैं, वे न तो आकस्मिक हैं और न अपने आप हुए हैं । परिवर्तन कई प्रकार की स्थितियों के परिणाम हैं । अगर अविश्वास और संदेह पैदा हुए हैं, तो उसके कुछ सुखद नतीजे भी हैं । जैसे परमाणु–परिवार खंडित हुए हैं, तो सारी दुनिया में ऊर्जा–संकट समान रूप से पैदा हो रहा है । केवल–टेलीविजन प्रणाली का जाल बिछा है तो इसके साथ समय को आगे–पीछे करके तुरत–फुरत लाभ देने की एक पेकेज शैली फैलने लगी है और राष्ट्रों के अन्दर ही पृथकतावाद पैदा हुआ है । ये घटनाएं भले ही एकांतिक या व्यक्तिगत लगें मगर ऐसा नहीं है । ये अपने समय की अनेक स्थितियों का परिणाम हैं । अगर इन परिवर्तनों की बुनियाद में हम झांके तो हमें लगेगा कि ये सब परिवर्तन उद्योगवाद की मृत्यु से उत्पन्न नई सभ्यता का परिणाम है ।

आज स्थितियां इतनी बदल गई हैं कि सरकार को भी संकट-काल में केवल त्वरित काम करने वाली संस्था मान लिया गया है अर्थात् सरकार एक निरंतर चलती व्यवस्था न होकर समस्या और उसकी त्वरित हल की व्यवस्था बन गई है । इसका एक परिणाम यह हुआ है कि सरकारों के पास योजना, आकांक्षा, अपेक्षा और वास्तविक दृष्टि का ही अभाव हो गया है । इन परिवर्तनों ने नये-नये गुल खिलाये हैं, जैसे आज एक जहाज लेकर चलने वाला कप्तान बिना कम्पास या कुतुंबनुमा के तूफानी समुद्र की लहरों के विपरीत चल पड़ने को अपनी सफलता मानता है । ऐसी संस्कृति पनपी है, जिसमें विशेषज्ञों का अपने-अपने फनों और फनकारों से संघर्ष है। हर चीज खंडित है, हर तथ्य टूटा-फूटा है । उनके तीखे नुकीले विश्लेषण हैं और कोई संश्लेषण नहीं है, जबकि आज की सभ्यता का संकट और माँग दोनों ही संश्लेषण है ।

टॉफलर ने इन स्थितियों की पहचान पर आधारित अपनी पुस्तक "तीसरी लहर" लिखी है । टॉफलर कहता है कि सभ्यता के इस क्रांतिकारी मोड़ पर खड़े होकर ऐसा लगने लगा है कि हमारे सारे अनुमान और पुरानी मान्यताएं ध्वस्त हो चुकी हैं । पुराने सूत्र, पुरानी विचारधाराएं, सोचने के पुराने के तरीके, पुराने सिद्धान्त चाहे वे कितने ही आकर्षण क्यों न रहे हों, आज के तथ्यों की दुनिया में कहीं फिट नहीं होते । तकनालजी से उत्पन्न नये मूल्य, नई राजनीतिक वंश परंपरा, नई जीवन शैली, संवाद एवं संचार की नई प्रणाली ये सब यह मांग करती हैं कि आज हम विचार-सूत्र, मान्यता और प्रत्यय या अवधारणा सबका पुनः वर्गीकरण करें। हम भविष्य के भ्रूण में अतीत के शुक्राणु रखकर परिवर्तनों का मुकाबला नहीं कर सकते।

टॉफलर मानता है कि आज जिस प्रकार की निराशा व्याप्त है, जो संकट अनुभव किया जा रहा हैं, जिस प्रकार परमाणु संकट से सृष्टि के समाप्त हो जाने के डर हैं, पर्यावरण के संतुलन डगमगाये जा रहे हैं और रोज-रोज आर्थिक महानाश हो रहे हैं, इनसे लगता है कि प्रौद्योगिकी ने महाविनाश के अस्त्र इस प्रकार तैयार कर लिये हैं कि वे हमें केवल सृष्टि के महाअंत का रास्ता ही दिखाते हैं । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि भविष्य को केवल उसके डरों में भोगा जाए या जिया जाए । हमें स्वयं ही खोज करना होगी नये रिश्तों की, नये ऊर्जा तत्वों की, नये परिवारवाद की और उद्योगों या प्रौद्योगिकी में निर्मित तरीकों के विरूद्ध अपने ही तरीकों और आत्मविश्वास की हलचल से खड़े होने की । तीसरी लहर इन खोजों के लिए उकसाती है, क्योंकि उसी में वह ताकत निहित है जो हमें अपने विनाश की सड़ाधों से बचा सकती है । तीसरी लहर अतीत और भविष्य दोनों के प्रति अधिक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है । यहां भविष्य के समाज की परिकल्पना की गई है ।

अतीत के सदमे में भविष्य का आगमन अपरिपक्व अवस्था में दिखाया गया था । यहां भविष्य के आगमन की समूची प्रक्रिया और उससे उत्पन्न संरचना का वर्णन है । किताब को पढ़कर पहले-पहल यह जरूर लगता है कि पहली लहर में कृषि-आयाम है, दूसरी में औद्योगिक आयाम, मगर तीसरी में इन सबका संश्लेषण और एक संपूर्ण भविष्य की परिपक्व कल्पना है । लेखक ने यहां भविष्य को किसी ज्योतिषी या पुरोहित की नजर से नहीं देखा है, बल्कि लेखक ने भविष्य के प्रति जिन संभावनाओं को व्यक्त किया है, उनका आकलनकर उनमें स्वीकृति-अस्वीकृति के तत्व हम स्वयं खोज सकते हैं । टॉफलर ने यह स्पष्ट कहा है कि औद्योगिक सभ्यता मर रही है और सभ्यता की इस मृत्यु का अहसास होता है चार तत्वों में

एक है: 'टेकनो-स्फीयर' यानी प्रौद्योगिकी वृत्त, दूसरा है: 'सोशियो स्फीयर', यानी 'सामाजिक-वृत्त' तीसरा है 'इनफॉ-स्फीयर' यानी सूचना-वृत्त, और चौथा है "पावर-स्फीयर" यानी शक्ति-वृत्त। इन चारों वृत्तों में क्रांतिकारी बदलाव आ रहे हैं । अब इनका संबंध और द्वन्द्व बायो-स्फीयर यानी जैविक-वृत्त और सायको-स्फीयर यानी मनोवैज्ञानिक-वृत्त से हो रहा है । तीसरी लहर अपनी सुपर विचार धारा के निर्माण की लहर है । वास्तव में देखा जाए तो तीसरी लहर एक शानदार रूपक है जो अनेक लहरों के ताने-बाने से बदलाव रचती है । यह लहर आगामी अनेक शताब्दियों के अपने में विलय की लहर है अर्थात् नोर्बर्ट एलियस की पुस्तक 'दी सिविलाइजेशन प्रोसेस' के अनुसार तीसरी लहर आनेवाली शताब्दियों तक सतत् बदलाव की प्रक्रिया है । पहली लहर के अग्रदूत अगर किसान थे और दूसरी के व्यापारी, तो तीसरी लहर के अन्दर व्यक्ति न होकर आधारभूत पूरी सभ्यता रहेगी । तीसरी लहर को भी पहचानते समय हमें यह याद रखना होगा कि कोई रूपक अपने आप में संपूर्ण नहीं होता । कोई ज्ञान संपूर्ण नहीं होता । इसलिए तीसरी लहर को एक बौद्धिक जिज्ञासा की लहर मान कर ही अपनाना होगा ।

पहली लहर एक प्रकार का सुपर संघर्ष बन कर आई थी । इसमें कई प्रकार के टकराव हुए थे । पहली लहर और दूसरी लहर के बीच भी टकराव हुए, जिसके परिणामस्वरूप हमें कभी मार्क्सवाद तो कभी फासीवाद तो कभी सामंतवाद तो कभी सर्वहारा जैसे द्वन्द्वात्मक रूपकों से गुजरना पड़ा है । तीसरी लहर प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी, बुर्जुआ, क्रांतिकारी, नव-फासिस्ट और कट्टरतावादी जैसे अनेक मुहावरे भी निरस्त करती है । तीसरी लहर चूंकि विलय की लहर है, एकाकार होने की लहर है, संश्लेषण की लहर है, इसलिए इसमें वाम तथा दक्षिण भी एकाकार हो रहे हैं, क्योंकि यह व्यक्ति, विचार और उद्योग में किसी एक की लहर न होकर संपूर्ण सभ्यता के बदलाव और एक नई सभ्यता की कल्पना एवं रचना की लहर है ।

टॉफलर का कहना यह है कि आदमी हर समय ऐसी ही परिस्थितिओं में जीता रहा है। इसीलिए वैचारिक रूप से उसकी पहचान लहरों वाले समाज में रहने वाले इंसान की बन गई है। आदमी एक प्रकार से जीवितबेटरी है, जिसमें सूरज, वायु और जल तीनों की ऊर्जा समाहित है। प्रथम लहर में आदमी हाथ से सामान बनाता था, मगर दूसरी लहर में कारखानों के रूप में नये-नये विशाल स्तूप रच दिये और मनुष्य का अपने ही हाथों से संबंध कट गया । तीसरी लहर में जो पाठ्यक्रम रचा जाएगा वह दूसरी लहर के कोवर्ट यानी नियंत्रित पाठ्यक्रम की तरह न होकर ओवर्ट यानी खुला पाठ्यक्रम होगा । दूसरी लहर का समाज "मास एज्यूकेशन" यानी पूरे समाज या मानव भीड़ की शिक्षा की लहर का था । इसमें उद्योगवाद ने दावा कुछ बुनियादों विषयों के खुले पाठ्यक्रम की खोज का किया था । इसमें पढ़ना, लिखना, गणित करना, इतिहास पढ़ना आदि विषयों के अन्तर्गत खुलेपन के पाठ्यक्रम की रचना की बात की गई । इसका सही विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट होगा कि औद्योगिक समाज नियंत्रित पाठ्यक्रम से मुक्त नहीं हो सका था, जिसका असर आज तक भी दिखाई देता है । औद्योगिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत चुने गये तीन आदर्श थे एक- समय की पाबंदी, दूसरा- आज्ञाकारिता और तीसरा- रट कर या दोहरा-दोहरा कर काम करना, जो आज भी जारी हैं । इन तीनों के रहते किसी भी खुले पाठ्यक्रम की कल्पना की ही नहीं जा सकती है । इसका 19 वीं सदी से आते-आते आज तक एक अत्यंत क्रूर एवं निर्दयी परिणाम यह निकला है कि हर बच्चा कम से कम उम्र में अपना स्कूल शुरू

करता है और लंबे से लंबे समय तक स्कूल में उसे रहना पड़ता है। इस प्रकार बच्चे का लंबे समय तक स्कूलीकरण औद्योगिक सभ्यता की देन है । अध्ययन अवधि की लंबाई को उपयुक्त बताने के लिए पब्लिक स्कूल की भी खोज औद्योगिक लहर ने की और उसे व्यवस्था का मानवीकरण कहकर अपना लिया । दूसरी लहर में शिक्षा का आदर्श यह था कि अगर जीवन और स्वतंत्रता के बाद कोई तीसरी चीज सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, तो वह है शिक्षा ।

दूसरी लहर में हमें कई अन्य रूपक भी मिल हैं–विशेषज्ञता (स्पेशलाइजेशन), समक्रमिता (सिंक्रोनाइजेशन), ध्यानमग्नता (कांसंट्रेशन), अधिकतमता (मैक्सीमाइजेशन) और केन्द्रीयकरण या सेन्ट्रलाइजेशन। इस प्रकार दूसरी लहर के ये पांच प्रमुख तत्व थे । दूसरी लहर एक प्रकार का छद्म नक्शा प्रस्तुत करती है । मनुष्य की मानसिकता इसमें पूर्ण रूप से यांत्रिक हो गई है, जिसे टॉफलर मेकिनो–मेनिया कहता है । दूसरा तत्व है– इस लहर में मनुष्य का अपना अस्तित्वबोध दूसरे के पास चला जाना, जिसे टाफलर ने रिप्रेजेन्टो–किट कहा है । अर्थात् राजनीतिक प्रतिनिधित्व की शैली में मनुष्य स्वयं अपने ही अन्दर छद्म हो जाएगा, क्योंकि वह स्वयं कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह वोट या वोट प्रक्रिया और उनसे रची गई संरचना होगी । उसी में मनुष्य को अपने आप को देखना होगा । इसलिए एक विश्व–कानून कारखाना दूसरी लहर ने रचा, जहां हमेशा आश्वासनों का कर्मकांड होता रहा है । दूसरी लहर में राष्ट्रों के बीच उन्मादी संबंध रचे । नशेलची औघड़वाद रचा, समाजवादी साम्राज्यवाद रचा, औद्योगिक यथार्थ रचा और नयी–नयी रोशनियों की बाढ़ पैदा की । इस प्रकार दूसरी लहर पहली और दूसरी लहर का टकराव बनी ।

दूसरी लहर अपने ही अन्दर के असंतोष के कारण विदा हो रही हैं । दुनिया के सर्वाधिक उद्योग समृद्ध देश अमेरिका में ऐसे उद्योग और उद्योगपति हैं, जिनके मन में दया और करुणा है और जो अब वर्तमान के उद्योगवाद से ऊब चुके हैं । एक सर्वेक्षण तो यह तक बताता है कि वहां के 40 प्रतिशत औद्योगिक मैनेजर अपने व्यवसाय से असंतुष्ट हो गये हैं । वे सोचने लगे हैं किसी तीसरे–स्वप्न के बारे में जो उन्हें उनके आज के व्यवसाय से ज्यादा बेहतर लगे और जहां सुख की बजाय खुशी अधिक हो । वे उद्योग त्यागकर खेती करना अपना रहे हैं या फिर अपने मुटापे को छाँटने के लिए नई जीवन शैली तलाश कर रहे हैं । वे एक प्रकार के उद्योग–जनित ऐसे वृत्त के आसपास चक्कर खा रहे हैं, जो दिन पर दिन छोटा होता जा रहा है और इस औद्योगिक वृत्त के आस पास तेजी से घूम–घूम कर उनके व्यक्तित्व तड़क उठे हैं । उन्हें लगता है कि इस वस्तुनिष्ठ दुनिया ने बेशुमार संकटों से उन्हें लाद दिया है और वे एक नये नाटक को लगातार खेल रहे हैं, जिसमें न रस है, न सौन्दर्य और न उन्हें तृप्त कर खुशी देने वाले तत्व । लगता है कि तीसरी लहर का संक्रमण काल शुरू हो चुका है, जो हमारी भावी जीवन प्रक्रिया तय करेगी। अगर हम चाहते हैं कि तीसरी लहर का संक्रमण सहज और कोमलतापूर्वक हो और एक मरणासन्न सभ्यता नयी सभ्यता का रूप धारण करे, जिससे हमें यह लगे कि हमारा आत्मबोध और हमारी योग्यता भीषण से भीषण संकट में भी जीवन चला लेगी तो हमें तीसरी लहर को पहचानना होगा और उसके लिए नवाचारों के साथ आगे आना होगा । अगर हम अपने आसपास देखें तो हमें लगेगा कि हमारे सामने विफलता और विनाश खड़े हुए हैं।इसी में वे संकेत भी निहित हैं जो नयी जीवनशक्ति का संचार करेंगे । इसलिए हमें सुनना होगी दूर क्षितिज से आती वह आवाज, जो तीसरी लहर की आवाज है ।

तीसरी लहर में एक नई सभ्यता जन्म ले रही है । पुरानी फैक्टरी मर गयी है। नयी फैक्टरी, जो पुरानी से अलग है, पैदा हो रही है । यह तीसरी लहर हमें ले जा रही है राकेट प्रक्षेपण के अंतरिक्ष स्टेशनों की ओर, ज्वालाओं के साथ उड़ती हवागाड़ियों के साथ और मनुष्य अपनी पूरी चेतना के साथ शून्य में टुकड़े–टुकड़े घूम रहा है । तीसरी लहर रच रही है समुद्र की तह में प्रयोगशालाएं, संप्रदायों में विभाजित परिवार, कृत्रिम बुद्धि के नाम पर काम करती टीमें । धार्मिक उन्माद से ग्रस्त सम्प्रदाय या पंथ, अपने आप अपनाई गई सादगी, एक विश्व–मकान की मंजिलों पर चढ़ने की संयुक्त सीढ़ियां, आतंकवाद की बंदूकें । अब तीसरी लहर में यह पता लगाना मुश्किल हो रहा है कि आखिर तीसरी लहर से किस भविष्य को लेकर ऊँचे किस्म के आत्म बोध जाग्रत हो रहे हैं। बच्चे बाय रचा जा रहा है? इस लहर में हमारे बच्चे सुपर–संभ्रात हो रहे हैं । उनमें ड्रग्स, सेक्स एवं स्पेस से ज्यादा जानने लगे हैं, मगर फिर भी शिक्षा–परीक्षाओं में उनके अंकों के प्रतिशत गिर रहे हैं। तलाक की दर रोज–रोज बढ़ रही है, मगर पुनर्विवाह भी उसी दर से बढ़े हैं । जो अभी स्त्रीवाद के विरोधी थे, वे स्त्रीवाद से उत्पन्न स्त्रियों के अधिकारों को मान्यता देने लगे हैं । अजीब आपाधापी है ।इतने फैलाव को एकत्रित करके संश्लेषण तैयार करना तीसरी लहर का काम है ।

तीसरी लहर केवल ऊंचाई का बोध ही नहीं रचती बल्कि वह ऊंचाईयों पर आदमी का नियंत्रण भी बताती है । सूर्य और उससे ऊपर की ऊंचाई पर आदमी का नियंत्रण है । मगर इसके साथ ही परमाणु शक्ति ने नई–नई समस्याएं पैदा कर दी हैं । आदमी भविष्य के औजारों की खोज में है, क्योंकि कोयला, रेल, वस्त्र, स्टील, रबर, मशीन आदि के उद्योग तो दूसरी लहर में ही मर चुके हैं । अब तो यंत्र, पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं । मनुष्य ने एक नया मशीन–पिंड रचकर उसके लिए आवश्यक स्पेस का भी उत्पादन या निर्माण कर लिया है । हम समुद्र में गोता लगायें या आसमान में छलांग उसका प्रतिबिंब हमारे सामने हमेशा उभर कर आता है । एक नये किस्म का उद्योग पैदा हुआ है जो है– शुक्राणु–उद्योग । अब मनुष्य के वंश–जीन्स का उत्पादन और क्रय–विक्रय होगा । इस प्रौद्योगिकी से भी मनुष्य का रोज मोहभंग होगा और इसी की खोज में प्रौद्योगिकी–विद्रोह पैदा होगा जिन्हें टेकनो–विद्रोही कहा जाएगा ।

प्रौद्योगिकी का सबसे आकर्षक उत्पाद मीडिया भी अपने भीड़वाद के मिथक को तोड़ेगा। तीसरी लहर की पहचान खड़ी की जायगी बुद्धिमान और समझदार पर्यावरण पर । दिमाग का समाजीकरण या सामूहिक विस्तार इस प्रकार होगा कि व्यक्तिगत स्मृति की जगह अब स्मृति सामूहिक या समाज में भंडारित स्मृति होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि वेअर–हाउस की तरह स्मृति–भंडार बन जाएंगे । आदमी के कौम के दायरे सिकुड़ेंगे और चुहिया का दूध निकालने अर्थात् कम से कम साधनों पर जीवित रहने की प्रेरणा पनपेगी । हर काम के लिए, हर चीज के लिए, हर उत्सव या समारोह के लिए व्यावसायिक सेवाएं उपलब्ध होंगीं । जिस प्रकार तीसरी लहर बच्चा–मुक्त, बच्चे की जिम्मेदारी मुक्त, "लव–प्लस" और 'हाट–कल्चर' यानी तुरत–फुरत रोमांस, प्यार, शादी और तलाक आदि की नित्य बदलती प्रणाली रचेगी। वैसे–वैसे कार्य के साथ समय या कार्यघंटों का रिश्ता भी समाप्त हो जाएगा । आदमी नींदमुक्त भी हो जाएगा। एक नया शहर जन्म लेगा जिस पर नींदमुक्त चुड़ैलें पहरा देंगी । समय की पुर्नरचना होगी और दिमागों के मानकीकरण के सांचे तैयार कर दिये जाएंग । ऐसा महसूस होने लगेगा कि विराट् के अन्दर वामन बन कर रहना ही सौन्दर्य है ।

तीसरी लहर में स्कूल ऐसा होगा जो पांव के जूतों से लेकर त्वरित बच्चा प्राप्त करने या त्वरित–बच्चाशास्त्र की शिक्षा देगी । यह ऐसा होगा , जैसे इधर सिक्का डाला और उधर मशीन में से बच्चा निकल आया । हर काम हम स्वयं ही करने वाले होंगे । हर चीज के बारे में पहले से ही तय हो जाया करेगा; चाहे वह अर्थशास्त्र हो या उपभोक्ता की जरूरत । सभ्यता के बाजारीकरण का भी अंत तीसरी लहर में ही होगा । एक नये विकासवाद की रचना होगी । एक प्रकार का मानसिक चक्रवात पैदा होगा । भविष्य का समय न होकर समय का भविष्य होगा । पहले और बाद या पूर्व और पश्चात के निर्धारित अर्थ बदल जाएंगे । शून्य या स्पेस को अस्तित्व मिलेगा, जिसमें मनुष्य यात्री बनकर घूमता रहेगा । एक प्रकार की दीमक–शिक्षा–प्रणाली होगी अर्थात् अराजकता और उपद्रव के बीच की व्यवस्था जो एक दूसरे को चट कर जाएंगे। एक विश्व–महासंघ या विश्व निगम बनेगा जिसमें ऊपर से नीचे तक सब एक साथ दिखाई देंगे। राष्ट्र–सिद्धान्त समाप्त हो जाएगा ।

तीसरी लहर में गांधी और सेटेलाइट आमने–सामने होंगे । दूसरी लहर में खंडित सफलता के मूल्य विश्व पर्यावरण के अभियान के साथ नये आकार लेंगे । पहली, दूसरी और तीसरी लहर के तत्व एक दूसरे में घुलमिल जाएंगे । तीसरी लहर की सभ्यता में आश्चर्यजनक ऊर्जा स्रोतों का उदय होगा । पानी, हवा, कचरा, सूरज, तड़ित, ज्वारभाटा, अणु आदि सब ऊर्जा के स्रोत बन जाएंगे । एक प्रकार का एंटीयूटोपिया पैदा होगा जिसे "प्रैक्टोपिया" कहा जाएगा। हरेक बात को उसकी व्यावहारिकता में ही देखा जाएगा । इस प्रकार एक नया मनो–पर्यावरण, मनोवृत्त तीसरी लहर से उत्पन्न होगा, जो सभ्यता के नये स्वरूप रोज रचेगा, रोज उन्हें तोड़ेगा और पुनः उन्हें रचेगा ।

अध्याय – 10

'टीचर' : शिक्षण– एक जीवन्त प्रक्रिया : सिल्विया वार्नर

एक शिक्षक को शिशु कक्ष में इसलिए रहना चाहिए कि वह यह देखे या अवलोकन करे कि बच्चे अपने आप कुछ क्रियायें कैसे करते हैं। अपने स्रोत या साधन कैसे खोजते हैं। इसका मतलब यह है कि शिक्षक में इतना धैर्य और बुद्धि होना चाहिए कि वह शांतिपूर्वक सुन सके, देख या अवलोकन कर सके; तब तक प्रतीक्षा कर सके जब तक बच्चे के मन में क्या है और वह क्या चाहता है। इसकी अभिव्यक्ति स्वयं बच्चा न कर दे या उसके हाव भाव से प्रकट न हो जाए।

मिस सिल्विया एशटन वार्नर

'टीचर' मिस सिल्विया एशटन वार्नर की अत्यंत लोकप्रिय एवं चर्चित कृति है । सिल्विया मूल रूप से एक कवि और उपन्यासकार है । इसलिए "टीचर" नामक उसकी इस पुस्तक में भी कविता और उपन्यास की तरह रस है । उन्होंने एक उपन्यास "स्पिन्सटर" लिखा था। उसमें कुछ बातें शिक्षा और शिक्षण की क्रिया को लेकर कही गई थीं । 'टीचर'में भी सिल्विया ने उपन्यास की तरह बारीकी और वर्णन की रोचकता रखी है । इस पुस्तक का आधार है– सिल्विया द्वारा न्यूजीलैंड की मावरी जाति के बीच किया गया शिक्षण कार्य । मावरी जाति के बीच काम करते–करते सिल्विया अनेक अद्‌भुत और रोमांचक अनुभवों से गुजरी । सिल्वया ने वहां नवाचार और प्रयोगों के माध्यम से 'सीखने' और 'सिखाने'के नए–नए हुनर और तरीके आजमाये । सिखाना एक जटिल और चुनौती भरा काम होने के बावजूद भी उन्होंने सिखाने के काम को शिक्षा माना । सिल्विया अंग्रेजी के "एज्यूकेशन" यानी शिक्षा शब्द को बहुत अधिक महत्व नहीं देती । उनका कहना है कि टीचिंग में नित्य नई कल्पनाशीलता और सर्जनात्मकता रहती है । टीचिंग प्रतिदिन अपने को नया करने तथा नये अंदाज में प्रस्तुत करने की मांग करता है । इसलिए एक टीचर को टीचिंग के लिए सदैव नवीनता की खोज करते रहना होगा । नवीनता के लिए जरूरी है कल्पना, कौतुक, जिज्ञासा और आनंददायी भावना। इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षण एक आनंददायी काम है । इस आनंद का प्रतिदिन अन्वेषण करते रहना ही एक शिक्षक का कर्म और धर्म है ।

सिल्विया इलिच या इलिचवादियों की तरह स्कूल की संरचना या उसका संस्थागत ढाँचा ध्वस्त करने की बात नहीं करती । सिल्विया का मानना है कि अगर सीखने वाले मौजूद हैं तो सिखाने वाला भी आवश्यक है । सिखानेवाला कोई भी हो, उसका पेशा कुछ भी हो, अगर

वह सिखाने की क्रिया में सफल, आकर्षक और आनंददायी है तो वास्तव में शिक्षक कहलाने योग्य है । "टीचर" में सिल्विया ने सीखने –सिखाने के सारे अनुभव, कार्य, नवाचार और प्रयोग सर्जनात्मक रूप से प्रस्तुत किये हैं । इसलिए यह पुस्तक पढ़ते वक्त ऐसा लगता है कि जैसे यह कोई शिक्षा की पुस्तक न होकर बच्चों तथा जनजातियों के बीच आनंद की अनेक घटनाओं की कहानी है । जान होल्ट जहां नन्हें गोद में खेलते शिशुओं की सीखने की प्रक्रिया को देखकर उनकी क्षमताओं का स्कूल में असफल होने के कारण खोजता है और सोचता है कि आखिर बच्चे फैल क्यों और कैसे होते हैं? वहीं सिल्विया बच्चे के पास या फेल होने की चिन्ता न कर, उसके आनंद के प्रति चिंतित है । वह एक क्षण के लिए भी बच्चे को आनंद से वंचित नहीं देखना चाहती । इसलिए होल्ट की तरह डर, ऊब या भ्रम जैसे शब्द सिल्विया के लिए विशेष महत्व नहीं रखते । सिल्विया के लिए पूरा शिक्षण कर्म एक सृजन–क्रिया है जहां सृजन है, वहीं आनंद है और जहां आनंद है, वहां डर, ऊब या भ्रम जैसे तत्व पैदा ही नहीं हो सकते। प्रसिद्ध जापानी पुस्तक "टोटो चान" में तेत्सुका कुरोयांगी ने घर की खिड़की में सतत् खड़ी एक ऐसी लड़की को प्रस्तुत किया है जिसका स्कूल बोध किसी भी शिक्षक या समाज के व्यक्तित्व के स्कूल–बोध से अधिक ऊंचा और गतिशील है । 'टोटो चान' में पूरी स्कूल व्यवस्था, वहां की शिक्षण क्रिया और वहां की परंपरा और वहां कि शिक्षण प्रणाली का निषेध प्रस्तुत है । वह ऐसे स्कूल का उपहास करती है, उसे निरस्त करती है। इसी तरह 'लेटर' नामक वह पुस्तक है, जिसमें बारबियाना स्कूल के गुरुजी के नाम एक पत्र है । यह पत्र एक पुस्तक बन गया है । इस पुस्तक में 8 बच्चे, जिनकी औसत उम्र केवल 15 वर्ष है, गुरुजी को पत्र के माध्यम से स्कूल क्या है? क्यों है ? किसने किसके लिए बनाया और वहां क्या–क्या होता है? इन बातों का इतना उत्तेजक और रोचक वर्णन किया गया है कि आज भी अगर हम बच्चे की आलोचना –दृष्टि से स्कूल का मूल्यांकन करें तो हर स्कूल निरस्त करने योग्य लगेगा । सिल्विया बारबियाना से भी अलग है । वह स्कूल की व्यवस्था या विसंगति पर कोई प्रहार नहीं करती , बल्कि गिजुभाई की तरह उसी व्यवस्था, उसी प्रणाली और उसी पर्यावरण के बीच खड़ी होकर सीखने वाले का चरित्र, आचरण, व्यवहार और काम का तरीका सब कुछ बदल देती है । इस प्रकार सिल्विया सिद्ध करती है कि व्यवस्था कैसी भी हो, कहीं भी हो, कोई भी हो, अगर 'टीचर'में कल्पना है; सृजन के तत्व हैं, आनंद पैदा करने की योग्यता और कुशलता है तो वही जगह जीवंत हो उठेगी। वे ही बच्चे खिलखिला उठेंगे और सिखाना एक रूढ़ी न होकर रोज का खेल बन जावेगा तथा रोज का सुख और आनंद वहां होगा । आनंदरहित शिक्षण एक प्रकार का दंड है । जो बच्चा सीखने के आनंद में आत्मविभोर नहीं होता, सीखने के लिए लपकता नहीं, उसके लिए शिक्षा कभी कोई आकर्षण पैदा नहीं कर सकती ।

टीचर

प्रसिद्ध साहित्यकार एवं विचारक हरबर्ट रीड ने सिल्विया की इस पुस्तक "टीचर" की भूमिका लिखी है । रीड का कहना है कि सिल्विया ने शिक्षण की एक ऐसी प्रणाली की खोज की है जो मनुष्य को स्वाभाविक रूप से और त्वरित गति से शांतिपूर्ण बनाती है अर्थात् सीखने और सिखाने की प्रक्रिया न केवल आनंददायी, बल्कि शांति की प्रक्रिया है और उसमें हिंसा, उत्तेजना या अशांति का कोई स्थान नहीं है । सिल्विया ने एक प्रकार से शिक्षा को शांति की

ही प्रक्रिया माना है । इसलिए सिल्विया का शिक्षण औद्योगिक या प्रौद्योगिक प्रक्रिया से अलग है । सिल्विया ने उसका स्वरूप पूर्ण मानवीय रखा है, क्योंकि शांति भी अंततः मनुष्य के लिए ही है और शांति ही मनुष्यता है । सिल्विया मानती है कि आक्रांता या हमलावर वृत्ति एक प्रकार का संवेग है, जिसके कारण ही युद्ध होते हैं। हर युद्ध होने और उसे संचालित करने के पीछे हमारी आक्रांता वृत्ति ही रहती है । यह युद्ध–वृत्ति हमारे मानसिक उद्वेगों और भावनाओं की प्रतिक्रिया है जो एक बच्चे में हताशा या निराशा के कारण पैदा होती है । ऐसी हताशा भी पैदा तब होती है जब बालक में जो जन्मजात ऊर्जा या चेतना है, उसका सही इस्तेमाल नहीं होता है या उसे आजमाने के अवसर नहीं होते हैं । बच्चे में भी आत्मसुरक्षा और यौन–तृप्तियों के संवेग होते हैं, जो अनुकूल न होने पर बच्चे में विद्रोह या हताशा उत्पन्न करते हैं । शिक्षा जिस प्रकार से आज पूरे संसार में दी जा रही है, इन संवेगो, की चिंता की मांग करती है। मगर दुर्भाग्य यह है कि शिक्षा में ही इन संवेगों की सर्वाधिक उपेक्षा रहती है । बच्चे में जो स्वाभाविक संवेगात्मक रुचियाँ हैं, उन्हें पहचानकर उनकी उपस्थिति को एक प्रकार का शुभचिन्तक मानकर यदि शिक्षण की बुनियाद खड़ी की जाय तो ऐसी क्षीण शिक्षा जीवंत होगी। बच्चों की रुचियों को अभिव्यक्ति के अवसर मिलेंगे और बच्चा अपने हर काम और हर व्यवहार में आनंद का अनुभव करेगा । मस्तिष्क की चेतना में विनाश और सृजन दो परस्पर विरोधी और विपरीत शक्तियाँ रहती हैं । सृजन करने का अर्थ है–कुछ निर्माण करना और यह सृजन सहयोग, सहभागिता और मिलजुल कर करना होता है । ऐसा ही सृजन एक शांतिपूर्ण समाज की रचना की आधारशिला है ।

रीड का कहना है कि सिल्विया ने जो विचार दिये हैं, वे बिल्कुल नये नहीं है । ये विचार तो फ्रायड और युंग की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतियों में भी अन्तर्निहित हैं । फ्रायड और युंग के शिष्यों ने तो हताशा या निराशा की वृत्तियों के उपचार के लिए पर्याप्त साक्ष्य भी एकत्रित कर लिए हैं । संवेगों से उत्पन्न हताशाओं के दंड हमारी सभ्यता कब तक भोगेगी ? इसलिए बच्चे के मन में निहित संवेगों और उनसे पैदा होने वाली हताशा के विरूद्ध उत्तरों की खोज जरूरी है। संवेग–जन्य हताशा एक विश्वव्यापी समस्या है बल्कि यह एक मानसिक रोग है । इस रोग का इलाज कैसे शुरू किया जाए ? "टीचर" की लेखिका ने इस दिशा में एक उचित कोशिश की है । उत्तरों के लिए हमें एक शिशु के कक्ष या कमरे से खोज शुरू करनी होगी । शायद उससे भी पहले से शुरू करना होगा । जब–तक शिशु का मस्तिष्क चीजों के आघात या धक्के सहने के लिए तैयार है चीजों को ग्रहण करने को तैयार है तब तक इन आघातों और चीजों के माध्यम से उत्तरों की खोज जारी रखना जरूरी है । यही तो वह उम्र है जहां से उत्तरों की खोज सही ढंग से शुरू की जा सकती है। शिशु की हर मुद्रा, उसकी आंखों और चेहरे पर चमकती हर थिरकन एक प्रश्न है, एक जिज्ञासा है, एक आश्चर्य है। शिशु स्वयं ही प्रश्न है। इसलिए उसके प्रश्नों के खोज उसी के साथ करना आवश्यक है।

सिल्विया ने "टीचर" में सर्जनात्मक शिक्षा की विविध एवं संभावित प्रणालियों और प्रक्रियाओं को प्रस्तुत किया है । सिल्विया का कहना है कि ये तमाम प्रणालियां फेल हो जाती हैं क्योंकि वे ज्यादातर या जरूरत से ज्यादा ही जानबूझ कर अत्यंत सचेतन ढंग से आजमायी जाती हैं । यही सचेतनता स्वाभाविकता को समाप्त कर देती है । शिक्षण एक जीवंत प्रक्रिया है । सिल्विया शिक्षण के आवश्यक गुणों, उसकी मनोवृत्तियों और दृष्टिकोणों को बताती है

और प्रभावशाली एवं आनंददायी शिक्षण के स्वयं कई प्रदर्शन–पाठ देती है; स्वयं उन्हें पढ़ा कर दिखाती है । सिल्विया एक अत्यंत उल्लेखनीय तत्व यह बताती है कि शिक्षक में "निषेधात्मक क्षमता" अनिवार्य रूप से होनी चाहिये। प्रसिद्ध रोमेंटिक कवि कीट्स ने भी कविता के लिए इसी क्षमता को अनिवार्य माना था । एक शिक्षक को शिशु कक्ष में इसलिए रहना चाहिए कि वह यह देखे या अवलोकन करे कि बच्चे अपने आप कुछ क्रियायें कैसे करते हैं ?या अपने स्रोत और साधन कैसे खोजते या रचते हैं , इसका मतलब यह है कि शिक्षक में इतना धैर्य और बुद्धि होना चाहिए कि वह शांतिपूर्वक सुन सके, देख सके और तब तक प्रतीक्षा कर सके जब तक बच्चे के मन में क्या है और वह क्या चाहता है, इसकी अभिव्यक्ति स्वयं बच्चा न कर दे; उसके हावभाव से प्रकट न हो जाए । बच्चे के हावभाव प्रथम वर्ष में जरा निर्मम भी हो सकते हैं। प्रथम वर्ष में बच्चा निर्बोध अपराध–मनोवृत्ति से ग्रस्त रहता है । वह बहुत सी बातें अपनी वंश परंपरा या माता–पिता से ग्रहण करता है । इसलिए कई बार बच्चा बिना समझे कीड़े– मकोडे पकड़ लेने, उन्हें खा जाने, मार देने या अन्य बच्चे के साथ उठा–पटक करता है। ये व्यवहार उसे जन्मजात मिलते हैं । बच्चे में निहित अदृश्य शक्तियों को जान–पहचान लें तो शिक्षण बहुत ही गतिशील और प्रभावशाली बन जाएगा । इसका कारण यह है कि ये शक्तियाँ स्वयं भी बहुत गतिशील और प्रभाव डालने वाली होती हैं । एक प्रकार से इन्हीं के माध्यम से बच्चे का व्यक्तित्व प्रकट या उजागर होता है। बल या शक्ति के इन तत्वों को ही सिल्विया "भौतिकी का नियम" मानती है ।

शिक्षक का कर्त्तव्य तो इतना सा है कि वह सर्जनात्मक तरीकों का बच्चों में निहित शक्तियों से ऐसा समन्वय करे कि ये शक्तियाँ बालक के अन्दर से स्वाभाविक रूप से बह–बह कर बाहर आने लगे । यह विचार भी कोई नई बात नहीं है । यह तो उतना ही पुराना है, जितना प्लेटो या अफलातून । मनुष्यों में शक्ति–तत्वों के समन्वय के प्रति आज तक न तो कोई इच्छा जाग्रत हुई है और न ही उसने अपनी बुद्धि का इस्तेमाल इस प्रकार किया है कि इन शक्तियों का समन्वय शिक्षा या शिक्षण के साथ स्वाभाविक ढंग से होता है । सिल्विया ने यह कोशिश पहली बार की है और इसी प्रक्रिया का चरणवार विवरण "टीचर" में है ।

हरबर्ट रीड का कहना है कि मुझे तो कभी मावरी बच्चों के बीच रहने या उन्हें पढ़ाने का ऐसा मौका मिला नहीं जैसा सिल्विया को मिला है । मगर सिल्विया ने इस पुस्तक के दूसरे भाग में जो कहानियां कही हैं, वे मावरी जाति का एक बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करती हैं । लेखिका ने इनका वर्णन अद्भुद कल्पनाशीलता के साथ एक उपन्यास की तरह किया है । जहां तक किताब में एक प्रकार की कथात्मक रोचकता है, वहीं तथ्यात्मक रिपोर्ट भी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक कोई शिक्षा–शास्त्रीय शोध प्रबंध की बजाय सामाजिक या मानवीय अभिलेख जैसी लगती है। जहां–जहां भी जैसा भी शिक्षण हो रहा है उन सबको प्रभावित करने में यह पुस्तक सक्षम है । सिल्विया की पुस्तक पढ़ कर हरबर्ट रीड मानने लगे हैं कि "एज्यूकेशन या शिक्षा"से बेहतर शब्द है "टीचिंग या शिक्षण" । सिल्विया के अनुसार "शिक्षा"शब्द तो अपना अर्थ बहुत पहले ही खो चुका है । सिल्विया के अनुसार दूसरे के दिमाग में जो है, उसे बाहर निकालना ही सिखाया जाना है । सिल्विया स्कूल को एक ऐसा जीवित झूलाघर मानती है जहां लोगों को आज भी प्रेम और शांति के साथ बदला जा सकता है । यह बदलाव लाया जा सकता है सर्जनात्मक

क्रियाओं से, आनंददायक गतिविधियों और खेलों से । सीखने वाले की भाषा में गाकर, बोलकर, नाटक खेलकर, नाचकर भी परिवर्तन लाया जा सकता है । अगर हम पूर्ण मानवीय रूप से कोई भविष्य चाहते हैं तो ऐसा भविष्य जो हमारे सोच के समान हो, उसे रचने की आज बहुत बड़ी जरूरत है । हरबर्ट रीड का कहना है कि सिल्विया की यह पुस्तक कुछ लोगों को अन–अकादमिक या अव्यावसायिक लग सकती है, मगर सिल्विया ने इसके जरिये शांति की शिक्षा और शिक्षा ही शक्ति है, यह विचार बच्चों के आनंद के माध्यम से सिद्ध किया है ।

सिल्विया ने पुस्तक की प्रस्तावना में शीर्षक दिया है: "सात वर्ष बाद" । उसी मावरी जाति में सिल्विया पुनः एक स्वप्न की तरह आ खड़ी होती है । सिल्विया ने अपने उपन्यास 'स्पिन्स्टर' में एक उदाहरण दिया है । वह बताती है कि पढ़ना–लिखना कितनी खतरनाक गतिविधि है। यह एक प्रकार से बिल्कुल अपरिचित और ऊबड़–खाबड़ दीवाल पर प्लास्टर करने के समान है । यह प्लास्टर बाहरी दीवार पर ही क्यों न किया जाए। जबकि उसके अन्दर ही बहुत कुछ अच्छा भरा हुआ है। क्या ही अच्छा हो कि उस अंदर के तत्व को बाहर निकालकर मैं उसका उपयोगी सामग्री की तरह इस्तेमाल करूँ न कि उसे केवल बाहर निकाल कर फेंक दूं । उसमें स्वयं उसी का प्रकाश निहित है, बस छूने भर की देर है कि उसके अन्दर से ज्वालामुखी के समान शक्ति का स्रोत बाहर निकल आएगा। मन की जो शक्ति है, वह दुनिया की हर शक्ति से बड़ी है । उसी शक्ति को बाहर लाना कितना उत्तेजना भरा और कितना चौंकाने वाला काम होगा लेकिन उसमें जितनी भी और जो भी सफलता मिलेगी, वह भी काफी आश्चर्यजनक होगी । मेरी आंखों के पीछे वह जो एक सुरक्षित संसार है जिस पर किसी निरीक्षक की निगाह नहीं जा सकती, वह है शिशु कक्ष या प्रीफेब । वह ही नित्य विराट होता है। वह एक ज्वालामुखी की तरह ऊर्जावान् होता है जिसमें सर्जनात्मक विस्फोट की ध्वनि–प्रतिध्वनि गूँजती है। वहां तो हर चीज, हर विषय सर्जनात्मक लहर के समान है ; कितनी विचित्र और अद्भुत हैं वहां की हलचलें और वहां के तरह–तरह के मूड! कितने प्यारे हैं रेशमी बादलों के तेवर! एक नित्य विकसित होती, जीवंत और परिवर्तनशील आकार, एक सामान्य और स्वस्थ आकार, भावुकता–रहित, निर्मल, फिर भी अत्यंत सुन्दर आकार ।

सिल्विया बच्चे में इन आकारों को देखती है, वह इन शक्तियों व प्रतिभा के प्रकाशकणों को देखती है और सिल्विया का टीचर वास्तव में इन शक्ति के प्रकाशकणों को बाहर लाकर उन्हें सर्जनात्मक बनाने के लिए छटपटाता है ।इसलिए शिक्षण या टीचिंग शिक्षा देने का रूढ़ अर्थ न होकर पूर्ण रूप से एक सर्जनात्मक, सुन्दर और मनमोहक कर्म है । वह शिक्षक ही क्या जो दुनिया की सबसे सुन्दर सृष्टि के बीच रह कर भी स्वयं सुन्दरता का अनुभव न करे; दुनिया की सबसे प्यारी चीज के बीच होकर भी प्यार महसूस न करे और दुनिया की सबसे शक्तिशाली और संभावनायुक्त चेतन–आकृति के पास रहकर भी स्वयं को शक्तिशाली न माने।

सीखना अर्थात् ध्यान देने की क्रिया :

सिल्विया ने सीखने–सिखाने की क्रियाओं का प्रयोग न्यूजीलैंड की मावरी जाति के बच्चों पर किया । वह बच्चों में सतत् ऊर्जावान ज्वालामुखी का रूपक देखती है । शिशुकक्ष या एक शिशु स्वयं अनंत ऊर्जा का स्रोत है । सिल्विया अपने अनुभवों को किसी शांत एकांत

में याद करना भी नहीं चाहती । सिल्विया ने जो काम उन बच्चों के बीच रहकर किया, वह एक ऐसा दृश्य है जो उसके रक्त में प्रवाहित हो रहा है । वहां लोग एकदम सच्चे और वैध है, प्रौढ़ भी समझदार भी और बच्चे भी । सिल्विया ने इस पुस्तक में जानबूझ कर कुछ बातें छोड़ दी हैं । वह अनुशासन की चर्चा नहीं करती ; एक पूर्वनिर्मित शिशु कक्ष का एक संदर्भ चित्र देती है । वह कहती है कि उसके प्रीफेब में अनुशासन से अधिक केआस यानी अव्यवस्था, उथल-पुथल या हलचल ज्यादा महत्वपूर्ण है । केआस या उथल-पुथल को लेकर लोगों के मन में कुछ संदेह पैदा हो सकते हैं । मगर केआस या अव्यवस्था की कुछ विशेषताएँ है और हममें से कोई इस अव्य वस्था या अस्तव्यस्तता को न तो पसंद करता है और न उसे फैलाने की इजाजत देता है । अस्तव्यस्तता का अर्थ पहले से ही नियंत्रणनहीनता मान लिया जाता है । सिल्विया कहती है कि मेरे निरीक्षक का कथन अनुशासन के बारे में कितना बढ़िया है वे कहते हैं कि अनुशासन का अर्थ है- आप जब चाहें, तब ध्यान केन्द्रित करने योग्य हों अर्थात् सीखने वाले का सीखने के प्रति ध्यान केन्द्रित कर देना ही अनुशासन है । सिल्विया को भी बच्चों के ध्यान की न केवल जरूरत धी बल्कि काफी होशियारी के साथ ध्यान, और ध्यान का उपयोग करना जरूरी था । सिल्विया ने इसके लिए बच्चों को भली भांति प्रशिक्षित कर दिया था । ध्यान केन्द्रित करने का यह नया तरीका नया भी हो सकता है । अधिकांश शिक्षक ध्यान के लिएँ नाम पुकारते हैं। कुछ लोग कालबेल या घंटी बजाते हैं। कुछ लोग ऊंची आवाज करके ध्यान खीचते हैं और कुछ लोग डंडा या स्केल थपथपाकर ध्यान खीचते हैं । सिल्विया का कहना है कि जब ऊंची आवाज करके ध्यान खींचा जाता है तो शिक्षक की आवाज नम्रता या कोमलता का प्रतिनिधित्व नहीं करती । ऊंची आवाज से ध्यान खींचना फौजी काशन की तरह है । सिल्विया आवाज में संगीत का उपयोग करती है । तारों की झंकार से पैदा होने वाला संगीत फूहड़ चीख या चीत्कार नहीं होता । ऐसा संगीत डराने वाली या चौंकाने वाली गतिविधि भी नहीं, जिसमें महान संगीतकारों की सिम्फनी के कोमलकांत स्वर होते हैं । जब शिशु कक्ष मे बिथोवन सिम्फनी की ध्वनि गूंजती है तो वह जो ध्यान आकर्षित करती है, उसमें रस भी है; मधुरता भी और अपने आप को ध्यान ग्रस्त हो जाने का अनुशासन भी । हमारे यहां भी बालगृहों के शिशु केन्द्रों आदि पर अगर सितार, सरोद, वीणा या वायलिन की ध्वनियाँ हों तो झंकार के स्वर बच्चे को अपने आप ध्यान आकर्षित करने के लिए विवश कर देंगे । इससे बच्चों में ठेठ बचपन से ध्यान देने योग्य ध्वनियों की पहचान होने लगेगी । सिल्विया कहती है कि वे भी अपने मावरी बच्चों में ध्यान केन्द्रित करना चाहती है । सिल्विया ध्यान का अर्थ **"मौन की तीव्रता"** में देखती है । मौन की यह तीव्रता संगीत की धुनों से ही उपजती है । सिल्विया मानती है कि बोलने का अर्थ है सुना जाने योग्य होना । इस क्रिया में कुछ लोगों को निर्देश देने की जरूरत पड़ती है । कुछ को सलाह दी जाती है और इस सलाह को भी सभी लोग मान लेते हैं । सिल्विया ने संगीत को ध्यान का औजार माना, और वह कहती है कि मैंने किस प्रकार इस औजार को चमकदार बनाया यह मैं जानती हूं और मानती हूं कि यह मेरा सर्वाधिक निर्विवाद और मूल्यवान औजार है ।

किसी बात को कहने मे महत्व इस बात का नहीं है कि क्या कहा गया । महत्वपूर्ण यह है कि जो कहा गया है, वह कैसे कहा गया । उस बात का मतलब ही क्या जो आप कहें और कोई उसे सुने ही नहीं ; अगर सुने भी तो उसे प्रभावित ही न करे । सुनने, समझने और प्रभावित करने के लिए ही तो पूर्ण ध्यान की जरूरत

पड़ती है । मैं जब अपने गुरु का संगीत सुनती हूं तो गुरु की आज्ञा मुझे संगीत में ही सुनाई पड़ती है । वह आज्ञा यह होती है कि मैं उस संगीत पर ध्यान दूं । आप यहां तर्क यह दे सकते हैं कि यह संभव ही कैसे है कि जिस कक्षा में बच्चों को खेलने, कूदने, नाचने, घूमने की पूरी स्वतंत्रता हो वहां वह आपके संगीत या सिम्फनी की धुनों पर ध्यान देगा ? सिल्विया बच्चों पर होने वाले संगीत के जादू का जिक्र करते हुए कहती है कि आखिर क्या बात है कि कक्षा के अंतिम कोने में बैठा चंचल और ऊधमी बच्चा भी संगीत-ध्वनियां सुनकर एक-दम चुपचाप बैठ जाता है । मामूली सी हिदायतों के बाद वह संगीत से निकलने वाली स्वर ध्वनियों को बिल्कुल स्थिर होकर सुनता है । एक बच्चा अगर संगीत के तार या पियानो से भारतीय संदर्भ में किसी भी स्थानीय और सुलभ वाद्य से, चाहे वह ढोलक ही क्यों न हो, अगर कोई ध्वनि निकालता है तो वह ध्वनि पूरी कक्षा में गूंजती है और बच्चे एक- दूसरे को छूकर बताने लगते हैं कि वह गूंज क्या है और जब तक वह गूंज समाप्त नहीं होती तब तक ठगे से उसे सुनते रहते हैं ।

सिल्विया के प्रयोगों को न्यूजीलैंड के अन्य शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने देखा और उन्हें कई पत्र लिखे । उन्होंने स्वयं भी प्रीफेब के प्रयोग सीखने की इच्छा जाहिर की । सिल्विया ने जवाब दिया कि अगर वे चाहें तो समूहों में आकर उसके प्रयोग देख सकते हैं । सिल्विया ने जो प्रयोग किये, उनसे लगता है कि एक शिक्षक बच्चों को किस प्रकार सृजनात्मकता से जोड़ सकता है । प्रयोग देखकर ही उन्हें समझा जा सकता है । हमारे यहां भी जब अरविन्द गुप्त और विष्णु चिंचालकर जैसे लोग, जो पूर्ण शिक्षक भी नहीं है, ऐसे प्रयोग करते हैं और मामूली से मामूली वस्तु को भी सृजनात्मक बना कर सीखने और सिखाने का पूरा वातावरण बदल देते हैं तो लगता है कि सिल्विया ही नहीं , मदाम मांटेसरी या गिजुभाई भी शिक्षक के रूप में जब कल्पना और ज्ञान का समन्वय करने का प्रयोग करते हैं, तो सृजन होने लगता है ।

सृजनात्मक शिक्षण को सिल्विया ने अपनी योजना नहीं माना है । हां, यह आवश्यक है कि उन्होंने यह महसूस किया है कि समूची शिक्षण प्रक्रिया का पुर्ननिर्माण हो; उसे ठीक से पहचाना जाए उसका पुर्नलेखन हो और उस पर पुनर्विचार कर लिया जाए । पुनर्निमाण, पहचान, पुनर्लेखन और पुनर्विचार सिल्वया ने इन तत्वों की जरूरत तो महसूस की, मगर उनका कहना है कि उन्होंने ऐसा करने का इरादा कभी नहीं किया । उन्होंने तो जो लिखा वह उनके करने के दौरान का अनुभव है । वह तो स्मृतियों में मौजूद है । स्मृति भंग कौन करे? यह काम ही अपने आप में एक शानदार क्षण रहता है । इसलिए उस क्षण को वहीं छोड़ देना अच्छा नहीं है । अतीत के पुर्नरचना की भी क्या जरूरत है? उसे स्मृति में कुरेद लेना ही काफी है । एक जीवित जीवंतता आगे बढ़ती है । यह कहा जा सकता है कि उसकी पढ़ाई की जीवंतता भी उसका संगीत है जो उसके कानों में गूंजता रहता है । यह बात सिल्विया एक कविता की इन पंक्तियों में कहती है-

चलती उंगलियां लिखती हैं/ और / लिख चुकने के बाद/
भी/चलती रहती हैं/तुम्हारी समूची पवित्रता/समूची बुद्धि/

उस लिखे हुए की/आधी पंक्ति भी / निरस्त नहीं /कर सकती
न तुम्हारे सारे आंसू एक शब्द भी/मिटा सकते हैं/

सिल्विया को कई पत्र मिलते हैं । जब वह सात साल बाद पुनः मावरियों के बीच आ है तो उसे बाब नामक एक व्यक्ति का पत्र मिलता है ।सिल्विया मावरी बच्चों को उसी तरह पढ़ते सीखते देखती है । कहीं गोलियां बिखरी हैं, कहीं जंजीर की कड़ियां । गिनती–पहाड़ों की तालिका के चार्ट पर खरोंच के निशान हैं । सिल्विया को लगता है कि ऐसा ही तो माहौल उसे भी मिला था । वहां उसने भी तो मूल शब्दावली , गिनती –पहाड़े सबका प्रयोग किया था । मावरी बच्चों के लिए यह सबका सब संगीत की तरह आनंददायी हो गया था ।

सिल्विया बाब नामक एक व्यक्ति के पत्र के उत्तर में लिखती है कि चौबीस साल पहले एक प्रयोग हुआ था । सिर्फ 9–10 बच्चों के साथ । अब मावरी स्कूल में सत्तर बच्चे हैं और शिशु कक्ष में ही अकेले 50 बच्चे हैं । यहां बच्चों के पास उनकी मूल शब्दावली है । यह शब्दावली ऐसी है कि इन शब्दों से एक कहानी पैदा हो सकती है, जिसे किसी भी विचार को लेकर उसे विकसित किया जा सकता है । इसी तरह का एक प्रयोग बस्तर ग्राम के कक्षा छह के बच्चों में मैंने एक बार किया । हिन्दी और अंग्रेजी की दो कक्षाओं में दो छोटे–छोटे से निबंध लिखवाये गये । कुछ मूल शब्द दिये गये । बच्चों से कहा गया कि वे प्रचलित विषय से हट कर कोई विषय चुनें और एक निबंध लिखा जाए । अंग्रेजी के बच्चों ने 'रिवर' पर निबंध लिखना पसंद किया । मूल शब्दावली और वाक्य के साथ वे अपने वाक्य देने लगे । सारे वाक्य एक समान थे मगर उनमें सृजनात्मकता का जादू था । बच्चों ने जो वाक्य दिये, वे थे–

रिवर इस माय मदर
रिवर इज माय लाइफ
रिवर इज माय फ्रेंड
रिवर इज वाटर

कविता की तरह इन वाक्यों में एक प्रकार का उनका अपने जीवन का अनुभव और संगीत था । इसी प्रकार जब हिन्दी कक्षा में कहा गया तो बच्चों ने वृक्ष पर निबंध लिखना चाहा । एक बच्चे ने लिखा कि पेड़ पक्षियों के लिए बोर्डिंग और लाजिंग दोनों है । इससे लगा कि बच्चे ने अपने आश्रम स्कूल का अनुभव कितनी सुन्दरता से निबंध में इस्तेमाल किया है !

सिल्विया ने न्यूजीलैंड के प्रयोग देखकर एक बात यह ग्राह्य की कि किसी चीज की निरंतरता बनाये रखने के लिए लोगों से कहना होगा कि उस चीज से भागो मत । उनसे हर बार यह पूछना होगा कि प्रशांत महासागर के पार से आ रही सिसकी की आवाज किसकी है जो तुम्हें सुनाई दे रही हैं या नहीं ? सिल्विया के मन में ऐसे विचार कैसे आये, वह नहीं जानती । उसके पास विचार अचानक प्रकट होते हैं और उसे चौंका देने वाले होते हैं । सिल्विया को न्यूजीलैड की मावरी जाति ही नहीं बल्कि शिक्षा के हर क्षेत्र में स्वीकार किया गया है । इससे बढ़कर

उसके प्रयोगों की सार्थकता क्या हो सकती है ? न्यूजीलैंड क्या है? एक देश या एक छोटा सा परिवार ? यहां परिवारों में आज भी वफादारी है। परिवार वाले झगड़ते भी हैं, मगर हमेशा यह कहने में गर्व करते हैं कि हम कभी नहीं झगड़ते। उनके अपने मौखिक और लिखित दोनों तरह के कानून हैं ।

सिल्विया के प्रयोग :

सिल्विया शिक्षण को संपूर्ण रूप से सर्जनात्मक क्रिया मानती है । सिल्विया मानती है कि बच्चों में दो प्रकार के स्वप्न या विजन होते हैं । एक विजन बाहरी है; दूसरा आंतरिक। आंतरिक विजन बहुत ही तेज होता है । बच्चों को जब मूल–शब्दावली के जरिये जीवंत वाचन की क्रिया में लाया जाता है तो पांच साल का बच्चा तक वाचन के लिए लालायित हो उठता है। जब मूल शब्दावली के वे शब्द होंगे जो बच्चे के अनुभव में घटित होते हैं, जिनसे वह जीवन में खेलता है तो उन शब्दों में लिखे हुए को बच्चा बांचने को उतावला होता है । कई बार तो बच्चा पढ़ते–पढ़ते अपने शीर्षक खुद चुनने लगता है । हो सकता है कि शिक्षक जो चित्र या पाठ चुनें वे अधिक अर्थवान हों परन्तु बच्चा जब स्वयं चुनता है तो उसके मन में जिस शब्द या चित्र को वह चुन रहा है उसका भी आंतरिक अर्थ होता है । उसी अर्थ को पाने के लिए वह उसे चुनता है । पांच–छह साल के बच्चों के लिए वाचन या पठन एक प्रकार से जीवंत गतिविधि होनी चाहिए । सिल्विया मूल शब्दावली में जो शब्द रखती है । उनमें कुछ तत्वों का ध्यान रखती है । ये शब्द एक तो बालक के डर और सेक्स के संवेग से जुड़े होते हैं । फिर एक बस्ती से दूसरी बस्ती, एक जाति से दूसरी जाति या कबीले से दूसरे कबीले के शब्द और इस प्रकार ऐसी शब्दावली बुन दी जाती है कि बच्चा एक बार अगर पढ़ने लगा तो पढ़ता ही जाता है । जो जरा धीमें पढ़ने वाले होते हैं, उनके पास एक निजी मूल शब्दावली अलग होती है। एक पिछड़ा बच्चा शब्द में निहित शक्ति का बेहतर इस्तेमाल करता है, बनिस्बत एक औसत या होशियार बच्चे के । इस शब्दावली में से पुराने शब्द हटाते रहना होगा, नये जोड़ते रहना होगा । शब्द कितना भी लंबा हो या छोटा, उसके अन्दर के विषय में ही उसकी शक्ति निहित है । यह सही है कि प्रौढ़ों द्वारा दी गई शब्दावली में मां, बहन, भाई, पिता, लड़ना, झगड़ना, तोड़ना, पटकना, झाड़ू, डर ऐसे शब्द होते हैं जिनके वाचन का उपयुक्त समय आते ही पिछड़ा बच्चा भी प्रेम से उपयोग कर लेता है । इसलिए निजी या प्रायवेट शब्दावली बच्चे को काल्पनिक और सृजनात्मकता की ओर ले जा सकती है । यह शब्दावली शिक्षक और बच्चे दोनों को प्रयोग के लिए उकसाती है । सिल्विया यहां प्रायवेट और मूल शब्दावली को सिखाने की कला का भी वर्णन करती है । साथ ही अपने नोट्स में से न्यूनतम 40 ऐसे शब्द देती है, जिनसे बच्चा भाषा के सर्जनात्मक उपयोग कर सकता है ।

जीवंत वाचन के बाद सिल्विया लेखन की बात करती है। सिल्विया का कथन है कि बच्चों के लिए जीवन एक अत्यंत जटिल चीज है । जैसे ही जिन्दगी को कहीं काटने की कोशिश की जाती है , वे उसे समझ या भाँप लेते हैं । मगर आप उनकी

जिन्दगी को काटते हैं तो आप उन्हें एक प्रकार से मारने के लिए जिम्मेदार हैं । सिल्विया कहती है कि मूल शब्दावली से ही सर्जनात्मक लेखन भी संभव है । मूल और प्रायवेट शब्दावली के जरिये आत्मकथा जैसी शैली में तो बच्चे अच्छी से अच्छी सर्जनात्मक चीज लिख सकते हैं । जीवंत लेखन और जीवंत वाचन के प्रारंभिक चरण के बाद मावरी बच्चों के लिए किताब है जिसे सिल्विया संक्रमणकालीन पुस्तक कहती है अर्थात् एक स्तर से दूसरे स्तर में प्रवेश के बीच का समय । यहां बच्चा स्वयं लिख भी लेता है और अपना लिखा पढ़ भी लेता है । वह दूसरों का लिखा पढ़ भी सकता है। जब गिनती को सर्जनात्मक बनाकर सिखाने की बात आती है तो सिल्विया प्लेटो और पाइथागोरस को याद करती है । वह कहती है कि प्रकृति में गिनती के बहुत से उपकरण हैं । लौंग के बाग, लौंग तोड़ कर गिने जा सकते हैं । फूल, पत्ती, कंकर आदि गिनती का एक नया वस्तु संसार रचते हैं । ट्रेसिंग पेपर से नई-नई आकृति बनाना और उन आकृतियों के आकार को पहचान देना भी बच्चों का खेल है । सिल्विया की किताब का यह एक सुनहरा खंड है । इसके साथ ही पर्यावरण-विज्ञान आदि बच्चा मौसमों के गीतों को लिख कर सीख सकता है । वसंत, ग्रीष्म, पतझर ऐसे मौसम हैं जिन पर सुन्दर गीत और कविताएँ हैं । बच्चा इनके माध्यम से पूरी प्रकृति को जान सकता है और उन्हें भी कागज पर , कभी कंठ में तो कभी व्यवहार में उतार कर आनंद का अनुभव कर सकता है ।

वर्कबुक, डांस और रिदम गीतों का भी बच्चों के सीखने में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान हैं । मावरी जाति के जीवन पर भी सिल्विया ने इस पुस्तक में लिखा है । उनसे बातचीत, उनके काम-काज में भागीदारी, उनके साथ उत्सव, त्यौहार, उनके रीति रिवाजों में घुलना-मिलना और उनमें अपनत्व का, प्रेम का, निडरता का भाव पैदा करना, उन्हें सीखने के लिए प्रेरित करता है । सिल्विया हर समय उनसे बात करती है, उनके अनुभवों की बात ! उनके प्रश्नों और उनकी समस्याओं की बात के द्वारा बच्चों और शिक्षक के बीच की दूरी ही समाप्त कर देती है । सिल्विया ने मावरी जाति का वर्णन एक प्रकार के मानवशास्त्री के रूप में अजीब मानवीय सौन्दर्य के साथ किया है । वह बच्चों के साथ हमेशा इस तरह रहती है जैसे बच्चा बच्चे के साथ होता है। सिल्विया ने पुस्तक का बड़ा हिस्सा अवकाश नोट्स के रूप में लिखा है ।

उक्त "टीचर" में एक प्रकार के एक ऐसे समूह के बीच प्रयोग है जिसे पढ़ाना चुनौती है । उनकी अपनी भाषा है, अपना पर्यावरण है, अपने-अपने रीति रिवाज और विश्वास हैं । इन सबको वही शिक्षक सही समझ सकता है जो कल्पना और ज्ञान को मिला कर उपयोग करे । एक शिक्षक को चाहिये कि वह बच्चे की आंखों में जागते-जागते जो स्वप्न होते हैं, उनको पहचाने । बच्चों के स्वप्नों को पहचानना ही बच्चों को पहचानना है और स्वप्न ही सर्जनात्मक शिक्षण का आधार हैं । इस पुस्तक में सिल्विया ने बच्चे की स्वतंत्रता, उसका संगीत, उसका खेल, उसके आकर्षण, उसके निर्माण, उसकी ऊर्जा आदि सबको समझने की बात कही है । बालक एक बहुआयामी व्यक्तित्व है और इसलिए उसे पढ़ाने की चुनौती तो शिशुग्रह से ही शुरू हो जाती है । फिर बालक अपने ही परिवार, अपने आसपास की दुनिया, अपने पर्यावरण, अपने मित्रों की दुनिया में आता है । बालक के सत्य भी अपने हैं और उसके मिथक भी अपने हैं।

यहां इस पूरी पुस्तक को उदाहरण सहित प्रस्तुत करना संभव नहीं है । इसलिए पुस्तक को एक प्रकार से यहां भूमिका के रूप में रखने की कोशिश की गई है । यह पुस्तक शिक्षक की प्रेरणा का एक अत्यंत व्यावहारिक दस्तावेज है । आज जबकि बाल केन्द्रित शिक्षण की बात चल पड़ी है और कहा जाने लगा है कि बालक के लिए सीखना यानी खेलना, स्वप्न देखना और स्वप्न के अर्थ खोजना है तो ऐसे अनेक स्वप्न इस पुस्तक में सिल्विया प्रस्तुत करती है । कुछ बातें जो याद रखने योग्य हैं, वे हैं बालक का संगीत से लगाव, लय से लगाव, खेल से लगाव, अपने लिए परिचित शब्दों से लगाव, अपनी कहानी और अपने वातावरण से लगाव । बच्चे में निहित इस प्रेम तत्व को पहचान कर उसे बाहर लाना ही इसकी रचनात्मक ऊर्जा को बाहर निकालना है । सिल्विया शिक्षा को क्षमता, योग्यता या शक्ति का प्रतीक न मान कर शांति का प्रतीक मानती है। शांति संगीत, लय, नृत्य, खेल और गीत से आयी है। शिक्षा में शांति की उपलब्धि ही एक सच्चे मनुष्य और मनुष्यता की उपलब्धि है।

सन्दर्भ सूची

1. बघेका , गिजु भाई – दिवास्वप्न
2. बेरो, रॉबिन : रेडिकल एज्यूकेशन अ क्रिटिके आफ फ्री–स्कूलिंग एंड डि–स्कूलिंग
3. डिवी, जॉन– एक्सपीरियंस एंड एज्यूकेशन
4. डिवी, जॉन– द स्कूल एंड सोसायटी
5. फ्रेरे पाउलो– एज्यूकेशन : द प्रेक्टिस आफ फ्रीडम
6. फ्रेरे पाउलो–पेडेगाजी आफ दी आप्रेस्ट
7. गुडमन, पॉल–ग्रोइंग एब्सर्ड
8. गुडमन, पॉल–कम्पलसरी मिस–एज्यूकेशन
9. गुडमन, पॉल– मिनी स्कूल
10. हेरल्ड, बेन्जमिन–एडल्ट एज्यूकेशन
11. होल्ट , जॉन इस्केप फ्राम चाइल्डहुड
12. होल्ट जॉन – हाउ चिल्ड्रन फैल
13. होल्ट, जॉन– हाउ चिल्ड्रन लर्न
14. इलिच, इवान – डि स्कूलिंग सोसायटी
15. इलिच, इवान – सेलेब्रेशन आफ अवेअरनेस
16. इलिच, इवान– जेण्डर
17. इलिच, इवान – ए.बी.सी. एलफाबेटाइजेशन आफ द पाप्यूलर माइंड
18. कोरोयांगी, तेत्सुका – टोटो चान
19. कानूनगो, इन्दु प्रकाश –पाठशाला भंग कर दो (अनुवाद डि– स्कूलिंग सोसायटी)
20. किड , जे.आर. – हाउ एडल्ट्स लर्न
21. लाक, जॉन–सम थाट्स कंसर्निंग एज्यूकेशन
22. लुनाचार्स्की, अनोतोली – शिक्षा का ध्येय
23. लेटर– बारबियाना के स्कूल का गुरुजी के नाम एक पत्र
24. मांटेसरी, मारिया– लेक्चर्स
25. नील, ए.एस–समरहिल
26. पोस्टमन एन. और वेन गार्टनर– टीचिंग एज अ सबवर्सिव एक्टिविटी
27. राजर्स, जेनिफर – एडल्ट्स लर्निंग
28. रैमर, एवरेट – स्कूल इज डेड
29. रूसो, ज्याँ जेक्विस – एमिली
30. रूसो, ज्याँ जेक्विस– द सोशल कान्ट्रेक्ट
31. शेट्सकी स्टेनिस्लाव – अ टीचर्स एक्सपीरियंस
32. टॉफलर, एलविन– फ्यूचर शाक
33. टॉफलर, एलविन – थर्ड वेव
34. टालस्टाल लियो–शिक्षाशास्त्रीय रचनाएँ
35. उशिन्स्की के.डी. – मेन एज दी आब्जेक्ट आफ एज्यूकेशन
36. वार्नर, सिल्विया एशटन – टीचर
37. वाटसन, ब्रेंडा– एज्यूकेशन एंड बिलीफ
38. योल्टन डब्ल्यू, जॉन लाक–एन इंट्राडक्शन

पत्रिका और दस्तावेज

39. एक्सपेरिमेंट इन एज्यूकेशन, मद्रास
40. होशंगाबाद विज्ञान – होशंगाबाद
41. जर्नल आफ टीचर एज्यूकेशन – अमेरिका
42. केब कमिटी रिपोर्ट : जर्नादन रेडडी,1992
43. लर्निंग टुबी, यूनेस्को
44. नया शिक्षक, राजस्थान
45. पलाश, मध्यप्रदेश
46. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, 1992 संशोधित
47. राष्ट्रीय शिक्षा नीति : कार्ययोजना 1986, 1992 संशोधित
48. राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा – आचार्य राममूर्ति, 1990
49. शिविरा, राजस्थान
50. सोशल साइंटिस्ट, नई दिल्ली
51. टीचर्स प्लस, ओरियंट लांगमन, हैदराबाद